

विद्याभवन साहित्यग्रन्थमाला

४९

१९६३

हिन्दी और मराठी का
निर्गुण सन्त-काव्य

डा० प्रभाकर माचवे

(प्रसिस्टेंट सेक्रेटरी, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली)



चौरवम्बा विद्याभवन, वाराणसी

प्रकाशक चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
मुद्रक विद्याविलास प्रस, वाराणसी
संस्करण प्रथम, सवत २०१९ वि०
मूल्य १२-००

© The Chowkhamba Vidya Bhawan,
Chowk, Varanasi-1
(India)
1962
Phone 3076

निवेदन

प्रस्तुत ग्रन्थ आगरा विश्वविद्यालय की हिन्दी पी० एच०-डी० परीक्षा के लिए लिखे गये प्रश्नव्य का सक्षिप्त रूप है। मूल विषय पर लिखने की प्रेरणा नैनीताल में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने सन् १९५१ में दी। डॉ० शिव मंगल सिंह 'सुमन' (उज्जैन) ने निर्देशक बनने की वृत्ता की। सन् १९५३ में दार्जिलिंग में मने यह ग्रन्थ प्रायः दो महीने में लिखा डाला, यद्यपि इसके लिए आवश्यक सामग्री में कई वृत्ता से जमा कर रहा था। उसी वर्ष मेंने पाण्डुलिपि डॉ० 'सुमन' क अलोकनार्थ भेजी। प्रायः दो वर्ष बाद उसकी टंकित प्रतियाँ बनाकर ये विश्वविद्यालय को दे पाये। दो वर्ष परीक्षकों ने लिये—सुनता हूँ एक परीक्षक इस बीच मास्का चले गये। उसे परीक्षकों के नाम गोपन रहते हैं, इस कारण से एक परीक्षक की सम्मति जो अतः म दी हे, उनका नाम नहीं दे रहा हूँ। सन् १९५७ में दो परीक्षका के सम्मुख मौखिक परीक्षा के लिये उपस्थित होना पडा। उनके नाम चूँकि जानता हूँ, उनके प्रति भी यहाँ कृतज्ञता ज्ञापन कर दूँ। वे हे डॉ० बलदव प्रसाद मिश्र और डॉ० हरि रामचन्द्र दिवेकर। सन् ५७ में मुझे पी० एच डी० उपाधि प्राप्त हुई।

इसका बाद प्रकाशन का प्रश्न उठा। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इसे पढने की वृत्ता की और श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने इसे चाखम्बा प्रकाशन नाराणासी को दिया। कुछ समय कागज की कमी ने ले लिया। फिर प्रूफ आना शुरू हुआ कि सहसा १९५९ में मुझे विसकान्सिन विश्वविद्यालय (अमरीका)

अथापन क लिंग दा उर्ष जाना पडा । मे १९६८ क अगस्त म लोटा । प्रकाशकों ने उर्षपूवक मुद्रण राक रग्या । म कोई बहुत अच्छा प्रूफ सशोधक नहा हँ । म फुल भल भा रह गई । अतत यह ग्रन्थ अपन सन दाषा सहित जेगा हे अम प्रकाशित हा रहा हे । प्रकाशक चाहते थे कि किसी विद्वान् को भूमिका हाती, ता उसम आर ममय लगता । अत यह सेग नसां भा उन पडा, हिंदा ससार के सामने रस रहा हँ । गुणज उसम को अच्छाइया चुन लेंगे, याद दाप कुछ हा ता मुके सूचित करग—अगल सस्तरग म उनका परिहार करने का प्रयन करूंगा ।

नई दिल्ली, }
जून १९६२ }

सविनय—
प्रभाकर माचवे

विषय-सूची

खण्ड-१	पृ०
१—(फ) भारतीय का य स अभेद	३
(ग) भाषाओं के साहित्य के गुलनात्मक इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता	१३
२—प्रस्तुत अध्ययन में विशेष श्रेणी	२१
३—निर्गुण सन्त काव्य का वैज्ञानिक और शास्त्रीय अध्ययन आवश्यक	३९
४—रहस्यवाद विषयक उपलब्ध सामग्री साहित्यिक और दार्शनिक	४
५—प्रस्तुत प्रबन्ध में विपन्न पद्धति	८७

खण्ड-२

(मराठी का निर्गुण सन्त-साहित्य)

१—विशेषताएँ	१४
२—परम्परा चक्रधर महासुभाव, गोरक्षनाथ, उदान्त तथा जय उपासना	१०४
(अ) चक्रधर तथा महासुभाव	१०४
(आ) गोरक्षनाथ और परम्परा	११२
३—दार्शनिक विश्वास जीव, जगत, ब्रह्म, मुक्ति आदि	१२७
४—महाराष्ट्र के निर्गुण ऋषि चक्रधर महासुभाव, ज्ञानेश्वर, नामदेव और एकनाथ	१४९

(क) चक्रधर महासुभाष	१४९
(ख) ज्ञानेश्वर	१५२
(ग) नामदेव	१५७
(घ) एकनाथ	१६१
५—निर्गुण कविया म प्रयुक्त सामान्य प्रताक आर सकेत	१९८
६—लॉफोन्नर अभिव्यचना की प्रवृत्ति	१७५
७—मराठी निगण कविया का रहस्यवाद और उसका प्रभाव	१८६

खण्ड-३

(हिन्दी का निर्गुण सन्त का य)

१—विशेषताए	१९८
२—परम्परा नाथ सम्प्रदाय, सहजयान बोद्ध प्रभाव आर सिद्ध साहित्य सूफामत	२१५
३—दार्शनिक विश्वास और मान्यताए श्रद्धेतवाद, सहज आर निरजन, जाव, जगत् (माया) आर परमतत्त्व का परिकल्पना	३५५
४—निर्गुण कविया की मोल्लिन्ता आर परम्परालुक्करण कबीर, नानक, दादू, मल्लूदास, मुन्दरदास आदि	२६९
५—निर्गुण काय म प्रयुक्त कुछ सामान्य प्रताक आर सकेत	२८३
६—उत्पत्तिसिधिया और लोकोत्तर अभिव्यचना की प्रवृत्ति	२९५
७—हिन्दी निर्गुण कविया का रहस्यवाद और उसका प्रभाव	३०३

खण्ड-४

(तुलनात्मक अध्ययन)

१—दोनों भाषाया के निर्गुण सन्त काव्य म चिन्तनपरक सामान्य गुण दोष	३१२
--	-----

२—दोना भाषाओं के निर्गुण सन्त काव्य की अभिव्यजना म अन्तर और उमके कारण	३२१
३—दोना भाषाओं के निर्गुण सन्त-काव्य के चिन्तन म अन्तर • अर उमके कारण	३२१
४—शवीर और चक्रधर का तुलनात्मक अध्ययन	३४०
५—दोनों भाषाओं के रचनाकार नामदेव	३४८
६—दोनों भाषाओं का निर्गुण गातिरचना का पराक्षण	३६१
७—दोनों भाषाओं की निर्गुण श्रविता म प्रयुक्त शब्दावली म समानता और अन्तर	३६८

खण्ड—५

(उपसंहार)

१—रहस्यवाद की तत्कालीन परिभाषा का परीक्षण	३८१
२—रहस्यवाद में विरह-व्यजना	३८९
३—परवर्ती काव्य पर इस विचारबारा का प्रभाव	४१२
४—निर्गुण श्रविता के अप्रचलन के कारण	४१७
५—कुछ निष्कर्ष	४२४

परिशिष्ट

१—अध्ययन सामग्री	४३४
२—प्रस्तुत निबन्ध पर एक समीक्षक की सम्मति	४३८

लेखक परिचय

नाम प्रभाकर बलवत माचवे ।

जन्मस्थान ग्वालियर (मध्यप्रदेश), जन्मतिथि २६ दिसबर १९१७ ।

शिक्षा बी० ए० (क्रिश्चियन कालेज, इंदौर, १९३५), साहित्यरत्न (आगरा, १९३६), एम० ए० (दशरथ, आगरा कालेज आगरा, १९३७), एम० ए० (अंग्रेजी साहित्य, १९४५), पी० एच०डी० (हिंदी, १९४१) ।

कार्य मंत्री, मजदूर सघ, इंदौर १९३७, प्राध्यापक, माधव कालेज, उज्जैन १९३८ से १९४८, आकाशवाणी के नागपुर, इलाहाबाद तथा दिल्ली केन्द्रों से सम्बन्ध १९४८ से १९५४, जसिस्टेंट सेक्रेटरी साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, नई दिल्ली १९५४ से अबतक, बीच में १९५९ से १९६१ तक विस्कान्सिन युनिवर्सिटी तथा कैलिफोर्निया युनिवर्सिटी (अमरीका) में हिंदी, साहित्य तथा भारतीय सस्कृति के विजिटिंग प्रोफेसर ।

प्रकाशन मराठी, हिंदी तथा अंग्रेजी में पत्र पत्रिकाओं में विविध लेखन तथा अनुवाद सन् १९३४ से । अबतक हिंदी में तीन कविता संग्रह, चार उपन्यास दो ललित लेख संग्रह, साहित्य समीक्षात्मक निबंधों के छह संग्रह, साहित्येतिहास विषयक दो ग्रन्थ, एक एक कहानी संग्रह, रेडियो एकांकी संग्रह, बच्चों के लिए तीन पुस्तकें, एक सम्पादित कोश और अनेक अनुदित ग्रन्थ—कुल पचीस से ऊपर ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं ।



**हिन्दी और मराठी का
निर्गुण सन्त-काव्य**

खण्ड १

विषय-प्रवेश

- १—भारतीय काव्य में अभेद । भाषाओं के साहित्य के तुलनात्मक इतिहास की आवश्यकता ।
- २—प्रस्तुत अध्ययन में विशेष दृष्टिकोण ।
- ३—निर्गुण सन्त काव्य का वैज्ञानिक और शास्त्रीय अध्ययन आवश्यक ।
- ४—रहस्यवादविषयक उपलब्ध सामग्री—साहित्यिक और दार्शनिक ।
- ५—प्रस्तुत प्रबन्ध की विवेचन पद्धति ।

अध्याय १

भारतीय काव्य में अभेद

काव्य को परिभाषा में बंधने का यत्न चिरकाल से किया गया है। परन्तु जैसे आकाश के निस्सीम विस्तार को बंधना असम्भव है, पानी के रंग का पता देना अशक्य है, वैसे ही काव्य भी अपरिभाष्य ही रहा है। काव्य का सृजन एक रहस्यमय बिन्दु है और मनोवैज्ञानिकों और समाज वैज्ञानिकों के सूक्ष्माति सूक्ष्म प्रयत्न भी उसे पूर्णतः समझने में सहायक नहीं हो सके हैं। अतः काव्य के कुछ सामान्य और प्रमुख लक्षणों से ही संतोष कर लेना पड़ता है। काव्य के प्रयोजन के विषय में भारतीय और विदेशी मतों के अंतर का अनुमान भी इसी से होगा।

काव्य भारत में एक सजीव कृति मानी गयी। कविता कामिनी के नायिका की भाँति कई वर्णन मिलते हैं। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन काव्यसौन्दर्य को अगनाओं के लावण्य की भाँति मानते हैं^१ और कहते हैं कि व्यंग्यार्थ में योषिताओं की व्रीडा की शोभा होती है^२। काव्यप्रकाशकार मम्मट भी काव्य द्वारा होनेवाले उपदेश को काव्य के अपरोक्ष पर तु प्रभावशाली उपदेश के समान मानते हैं^३। अन्यत्र भी जहाँ जहाँ कविता की आत्मा, काव्य के जीवित या काव्य शरीरादि की चर्चा की जाती है, कविता की सम्राजता पर केवल आलंकारिक रूप से ही नहीं, परन्तु सिद्धान्त रूप से बल दिया गया है। पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र में काव्य की परिभाषाओं में कहीं यह सम्राजता का तत्त्व नहीं आता। स्पष्ट है कि काव्य हमारे यहाँ एक सिद्धि है, भगवती सरस्वती की साधना है। पश्चिम में वह एकान्त में भावना का

१ विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु—ध्व० उद्धृत १, कारिका ४।

२ प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्—ध्व० उद्धृत ३, कारिका ३८।

३ (काव्य) काव्यसम्मिततयोपदेशज्जे—का० प्र० उद्धृत १, कारिका २।

पुन प्रत्यय है,^१ वह केवल कल्पना का निश्वास मात्र है,^२ वह श्रुति से अधिक सृष्टि की व्याख्या है ।

भारतीय और पाश्चात्य काव्य विषयक परिभाषाओं में दूसरा बड़ा अंतर उन शब्दों की अर्थ व्याप्ति के विषय में है । संस्कृत काव्य शास्त्रकारों ने काव्य शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थों में किया था । नाटक भी काव्य के अन्तर्गत आ जाते थे और प्राणभट्ट की कादम्बरी जैसा गद्यग्रन्थ भी । महाकवि भवभूति ने कोई स्वतंत्र काव्य या पद्यरचना नहीं की । कविदण्डी कहकर त्रिगार गौरव से पुकारे जाने वाले दण्डी का 'दशकुमारचरित' (गद्यग्रन्थ) छोड़ कोई काव्य ग्रन्थ नहीं मिलता । दण्डी से जगन्नाथ पंडित तक 'काव्य' शब्द की परिभाषाएँ पढ़ने पर ज्ञात होता है कि काव्य के लिए 'पद्य रचना' का आवश्यक बंधन भी प्रधान माना गया था । केवल काव्य के प्रकार बताते समय 'काव्यादर्श' में दण्डी ने 'गद्य पद्य च मिश्र च'^३ कहा था । पश्चिम में जिसे ललित साहित्य कहा जाता है, वह सब 'काव्य' में आ जाता था । पाश्चात्य काव्य समालोचक ईसा की अठारहवीं शती के उत्तरार्ध तक गद्य काव्य से अपरिचित थे, केवल इटाली ग्रन्थ 'क्रिस्टीनी साहायत' या 'प्राचीन साक्ष्य' (जोल्ड टेस्टामेंट) के अनुवाद को गद्य रूप में कविता कह सकते हैं^४ । अतथा पश्चिम में सर्वत्र काव्य पद्यरूप ही रहा है और कई पश्चिमी भाषाओं में काव्य पद्यरचना का पर्यायवाची शब्द है ।

जो बात काव्य की परिभाषाओं में दिखाई देती है, वही अंतर भारतीय और पश्चिमी काव्य प्रयोजनों में भी है । हमारे यहाँ जो काव्य प्रयोजन माने गये हैं उनमें से कुछ ये हैं —

^१ 'पोएट्री इज इमोशन रीकलेक्टड इन ट्रे कैलिटी' (वर्डस्वर्थ)

^२ 'पोएट्री इज दि एक्सप्रेशन आफ इमैजिनेशन' (प० वे० शैले)

^३ 'पोएट्री इज दि क्रिटिसिज्म आफ लाइफ' (मैथ्यू आरनारड)

^४ परिच्छेद १, श्लोक १ ।

^५ सुनीतिकुमार चटर्जी 'वेदना' की भूमिका, पृष्ठ-५ (नवराजस्थान ग्रन्थमाला कार्यालय, कलकत्ता १९३७) ।

१ काव्य यशस्ते, अर्थकृते, व्यवहारविदे, शिवेतरत्तये ।

सद्य परनिर्धृतये, कात्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

—(मम्मट, काव्यकाश)

२ धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्य फलासु च ।

करोति प्रीतिं कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥

—(भामह, काव्यालंकार)^१

३ ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगम चतुर्वर्ग

—(रुद्रट, काव्यालंकार)^२

४ काव्य सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीति-कीर्तिहेतुत्वात्

—(वामन, काव्यालंकार)^३

अर्थात् मम्मट के अनुसार काव्य के छः प्रयोजन हैं, (१) कीर्ति, (२) धन, (३) व्यवहार ज्ञान, (४) अशुभ निवारण, (५) तत्काल प्राप्त होनेवाला उदात्त आनन्द, (६) पत्नी जैसा रोचक उपदेश । भामह ने मम्मट के सख्या एक तथा पाँच को मानकर साथ स (७) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति और (८) चौसठ कलाओं में प्रगति को भी काव्य प्रयोजन माना । रुद्रट ने चतुर्वर्गों की बात दुहराई तो वामन ने प्रीति और कीर्ति की प्राप्ति को ही प्रधान समझा । पर तु नाट्यशास्त्रकार भरत क अनुसार नाटक (काव्य) का उद्देश्य (९) दुखियों और शोकाकुलों को विश्रान्ति देना भी माना गया है ।^४

भारतीय काव्य के इन नौ लौकिक तथा स्पष्टत वस्तुनिष्ठ उद्देश्यों की तुलना में पश्चिमी काव्य मर्मज्ञों की काव्य प्रयोजन चर्चा तुल्य है । उनके अनुसार भावाभिव्यजना, कल्पना और आत्माविष्करण काव्य के प्रधान उद्देश्य हैं । यथा निम्न परिभाषाओं में 'इमेजिनेशन' की पुनरावृत्ति देखिय

१ परिच्छेद १, श्लोक २ ।

२ परिच्छेद १, श्लोक ५ ।

३ सूत्र १, १-५ ।

४ दु खानां समाधानां शोकातानां तपस्विनाम् ।

विश्रान्तिजनन काले नाट्यमेत मयाकृतम् ॥ (नाट्यशास्त्र १-८०)

१. 'दि पोप्ट्स आर इन ए फाइन् प्रोजेजी रोलिंग,
इथ ग्लास फ्राम हवन डु अर्थ, फ्राम अर्थ डु हेवन,
एड, एज इमेजिनेशन वाडीज फोर्थ
दि फार्स आफ थिगज अननोन, दि पोप्ट्स पेन
टन्स दन डु शेप, एड गिज डु एवरी नथिंग
ए लोकल हेवियेशन एड ए नेम ।'
—(शैक्सपियर दि मिडसमर नाइट्स ड्रीम)
२. 'पोप्ट्री इज ए वेन्ट फार ओवरचाउड फीलिंग आर ए फुल इमेजिनेशन'
—(केवल लेक्चर्स आन पोप्ट्री)
३. 'पोप्ट्री इज एन एक्सप्रेशन आफ दि इमेजिनेशन'
—(शैले)^१
४. 'प्लेजर नेवर इज एट होम, एवर लेट दि फ्रैन्सी रोम ।'
—(कीट्स)
५. 'पोप्ट्री इज दि लॉवेज आफ दि इमेजिनेशन एड दि पैशन'
—(हैज़लिट)^२
६. 'पोप्ट्री इज दि सजेसन, बाइ दि इमेजिनेशन,
आफ नोवल माइंड्स फार दि नोवल इमोशन्स'
—(रस्किन)^३
७. 'पोप्ट्री इज दि आर्ट आफ युनाइटेड प्लेजर विथ टुथ
बाइ कालिंग इमेजिनेशन टु दि हैल्प आफ रीजन'
—(डा० जानसन)^४

उपर्युक्त परिभाषाओं में अंगरेजी काव्य समीक्षक तथा कवि, काव्य में कल्पना की प्रधानता मानते हैं। भानों काव्यानन्द सूत्र (फ्रै सी) या कल्पना (इमेजिनेशन) के बिना असम्भव है। कोलरिज ने इसीलिए कवि कर्म को वैज्ञानिक के कर्म से भिन्न ही नहीं, बल्कि विरोधी माना था। कोलरिज के

१ कम्प्लीट वर्क्स आफ शैले परिशिष्ट 'डिफे म आफ पोप्टरी'।

२ लेक्चर्स आन दि इंग्लिश पोप्ट्स, पार्ट १।

३ माडर्न पेन्टर्स, वा० १, पार्ट ४, चैप्टर १।

४ लाइफ आफ मिस्टन।

अनुसार का य का प्रत्यक्ष उद्देश्य आनन्द है, सत्य नहीं। परन्तु पोप का मत था कि 'सत्य पद्य का जामा पहिनकर सत्रसे अधिक रमणीक ज्ञान पढ़ता है।' कार्लाइल के अनुसार काव्य का प्रधान उद्देश्य 'तथ्य की आत्मा की कारा मुक्ति'^२ है तो इमर्सन के अनुसार 'काव्य का चिरन्तन यत्न वस्तु की आत्मा को व्यक्त करना है।'^३

भारतीय काव्य दृष्टि में 'स्व' और 'पर', ज्ञाता और ज्ञेय, तथ्य और सत्य, भावक और भावित के बीच अभेद का, यहाँ तक कि 'वाक्य' और 'अर्थ' के अभेद का महत्त्व, पश्चिम के, भावना से कल्पना के, वस्तु से सत्य के ओर 'सन्जोक्ट' से 'आय्जोक्ट' के भेद की पार्श्वभूमि में अच्छी तरह समझा जा सकता है। यह अभेद दृष्टि हमारी संस्कृति में, हमारे दर्शन में, हमारी साहित्य चिन्ता में, हमारे काव्य और कला में सर्वत्र सब्याप्त है। काव्य में अभेद को समझने से पहले यह सांस्कृतिक दार्शनिक पीठिका जाननी उपयुक्त होगी।

ऋग्वेद (१।१६४।४६) में 'एक सद्धिप्रा बहुधा वदति' (एक ही सत्त्व का मननशील विप्र लोग बहुत प्रकार से वर्णन करते हैं।) पर डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल अपने निबन्ध 'ऋषिभिर्बहुधा गीतम्' में कहते हैं^४— 'भारतीय देश में दार्शनिक चिन्तन की जो बहुमुखी धाराएँ बही हैं, जिन्होंने युगयुगान्तर में स्वच्छ दत्ता से देश के मानस क्षेत्र को सींचा है, उनका पहला स्रोत उक्त 'बहुधा' पद में प्रस्फुटित हुआ था। हमारे राष्ट्रीय मानव भवन का जो बहिर्द्वारस्तरण है, उसके उत्तरगे पर हमें यह मंत्र लिखा हुआ दिखायी पड़ता है। मन्त्र का 'बहुधा' पद उसकी प्राणशक्ति का भण्डार है, जिसके कारण हमारे चिन्तन की हलचल सघर्ष के बीच में होकर भी अपनी प्रगति बनाये रख सकी। अपने ही बोझ से जब कभी उसका मार्ग अवरुद्ध या कुठित

^१ 'टू य शाइ स दि ब्राइटेस्ट क्लैड इन वर्स' (एसे आन क्रिटिसिज्म)।

^२ डिस्इम्प्रजनमेंट आफ दि सोल वाफ फैक्ट'।

^३ 'पोप्युली इज दि परचेचुअल एडेवर टु एक्सप्रेस दि रिपरिट आफ दि थिंग'
(एसेज इमर्सन)।

होने लगा है, तभी उस अवरोध पर विजय पाकर 'बहुधा' पद के प्राणवन्त बंग ने उसे आगे बढ़ाने का रास्ता दिया राष्ट्रीय जन की प्राकृतिक विभिन्नता की ओर सन्नेत करते हुए 'पृथिवीसूक्त' का ऋषि कहता है —

जन विभ्रती बहुधा विवाचस नानाधर्माणं पृथिवी यथोकसम्^१ ॥

(भिन्न भिन्न भाषावाले, नानाधर्मोंवाले जन को यह पृथिवी अपनी अपनी जगह पर धारण कर रही है) और उसके लिए दुधार गाय की भौतिक धन की सहायता धाराएँ बहा रही हैं। हमारे राष्ट्रीय जन को प्रकृति की ओर से ही 'बहुधापन' मिला है। पर मानवी मस्तिष्क ने उन भौतिक भेदों के भीतर पैठकर उनमें विरोध हुई भावमयी एकता को हूँद निकाला। भौतिक एकता और सम वय पर चल देनेवाले विचार अनेक रूपों में हमारे साहित्य और इतिहास में प्रकट होते रहे हैं। अथर्ववेद में कहा है —

पृथ्व्यस्यश्रितं पृथिव्या पृथङ् नरो बहुधा मीमांसमाना ।^२

(हम विश्व का निर्माण करनेवाला जो प्राणधारा है, उसकी बहुत प्रकार का अलग अलग मीमासा विचारशील लोग करते हैं, पर उनमें विरोध या विप्रतिपत्ति नहीं है। कारण कि वे सब मन्तव्य विचारों के विकल्प मात्र हैं। मूलगत शक्ति या तत्त्व एक ही है।)

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि, 'ब्रह्म जिस महिमा (शक्ति) द्वारा अपने को व्यक्त करता है, उसे भी 'वाक्' कहा गया है। लिखा गया है कि 'वाक्' आत्मा का 'स्व' या महिमा है। उसी से वह एक से अनेक, अव्यक्त से व्यक्त होता है। हम जिस शक्ति से बोलते हैं वह स्थूल 'वाक्' है। वह सूक्ष्म 'वाक्' का व्यक्त रूप है। अव्यक्त रूप में यह 'वाक्' अवर्णा और शब्दार्थ रहित होती है।^३ श्वताश्वतर उपनिषद् में इसी को कहा गया—'एको वर्णा बहुधा शक्ति योगात्^४ ।'—

१ अथर्ववेद, १२।१।४५।

२ अथर्ववेद, १।१।१३।

३ शं० ब्रा० १, ४, २, १७ आदि

४ श्वेताश्वतरोपनिषद् ४४।

बृहदारण्यक में कहा गया—

स वा अयमात्मा
सर्वेषा भूतानामधिपति
सर्वेषा भूताना राजा
तद्यथा रथनामौ च रथनेमौ चारा सर्व समर्पिता
एवमेवास्मिन्नात्मनि
सर्वाणि भूतानि सर्वे देवा सर्व लोका सर्वे प्राणा
सर्वे एव आत्मान समर्पिता ॥^१

(वह ही आत्मा समस्त प्राणियों का अधिपति है, समस्त प्राणियों का राजा है, जिस तरह से रथनेमि और रथनाह स सारे आरे निज रथते हैं, उसी तरह आत्मा में सब वस्तुएँ, सब देव, सब लोक और सब प्राण, ये सब आत्माएँ समर्पित हैं ।)

बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में उयोतिर्मय सम्राज् का विस्तृत वर्णन मिलता है । वह अव्याज्ज, एरु, अद्वैत, म्रष्टा, ब्रह्म और सम्राज् है । वह अविनाशी है, उसमें कोई 'द्वितीय' उससे विभक्त नहीं है—

अविनाशित्वाञ्च तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्त यद्विजानीयात् १

पूर्ण 'सम्राज्' अकर्ता है । वह देखता हुआ भी नहीं देखता है, सूँघता हुआ भी नहीं सूँघता है, रस ग्रहण करता हुआ भी नहीं करता है, बोलता हुआ भी नहीं बोलता है, सुनता हुआ भी नहीं सुनता है, सोचता हुआ भी नहीं सोचता है, स्पर्श करता हुआ भी स्पर्श नहीं करता है, विज्ञान करते हुए भी विज्ञान का कर्ता नहीं है, क्योंकि इन सब व्यापारों के लिए 'अन्य' नहीं तो 'अ-यत् इव' तो विषय रूप में होना आवश्यक ही है—

यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येद-योऽ-यजिधेद-न्योऽ-यद्रसयेद-योऽ-न्यद्वेद-न्यो अन्यत्पशेद-न्योऽन्यद्विजानीयात्^२ ॥^३

१ बृहदारण्यक, २।५।२५ ।

२ बृहदारण्यक, ४।३।३० ।

३ बृहदारण्यक, ४।३।३२ ।

स्वराज् विराज् के विमर्श में यहाँ विस्तार से न जाकर इस बात पर हम बल देना चाहते हैं कि भेदा में अभेद की यह भावना हमारे दर्शन और साहित्य में बहुत पहले से चली आ रही है। कालिदास ने कुमारसम्भय में इसी भावना के अधीन 'एकव भूतिर्विभिदे त्रिधा सा सामा यमेपा प्रथमा वरत्वम्' कहा था। अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, शिव एक ही मूर्ति के विविध रूप हो गये हैं। इनमें कौन छोटा, कौन बड़ा? यह अभेद भावना ही हमारी सस्कृति और चिन्ता को टिकाये हुए है। आचार्य चित्तिमोहन सेन ने अपनी बगला पुस्तक 'भारतीय सस्कृति' के आरम्भ में कहा है —

‘श्रद्धि कहते हैं, जीवों को भूमि ही छोड़ देनी चाहिए—‘जीवनम् विसृज्य भूम्याम्’ (महानारायण उपनिषद् १, ४) परन्तु मनुष्य का भूमि छोड़ने से काम नहीं चलता। मनुष्य की मनुष्यता का उद्भव हुआ है तो सस्कृति से। मनुष्य का पूर्ण परिचय तो कर्म का मृगमय लोक छोड़कर चिन्मय जगत् से ही होता है। उसका परिचय स्थानगत होता है, यह बात है ही। गायत्री मन्त्र का भी आरम्भ ‘भूर्भुव स्व’ से होता है। आगे उसी में विश्वामित्र श्रद्धि के अनुसार परम देवता के सगंधी शक्तिगत योग की चिन्मय कथा है, क्योंकि उसी चिन्मय जगत् से यथार्थ मानवत्व का उद्भव और सस्थिति है, केवल भूगोल के जगत् से वह नहीं होती। इस प्रकार देखने से यह पाया जाता है कि एक ही भौगोलिक पृथ्वी पर आवास करने पर भी सस्कृति और इतिहास के अतहीन वैचिन्मय ही मनुष्य की विशिष्टता है।’

‘पाश्चात्य सभ्यता का इतिहास देखने से यह पता चलता है कि वे जहाँ जहाँ भी गये हैं, वहाँ स्थानीय पुरातन सभ्यता का ध्वंस व्यापार केवल सस्कृति में अनग्रसर आस्ट्रेलिया या न्यूजीलैंड में ही हुआ हो, सो नहीं, सुसभ्य अमेरिका भी मय और आस्ट्रिक सभ्यता का उच्छेद करने पर तुला है। भारतीय सस्कृति का इतिहास अन्य प्रकार का है। यहाँ तो उस प्रकार का अर्थों का उच्छेद करना सम्भव ही नहीं है। इसी कारण भारत के इतिहास के विधाता का गूढ़ अभिप्राय अन्य प्रकार का ही रहा है। भारतीय इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि भारत में जब धार्य आये थे तो

उन्होंने तत्त्वपूर्व अनाद्य निपिद्ध सस्कृति का उच्छेद नहीं किया, किन्तु स्तर-स्तर से धीरे धीरे उसमें उनकी सस्कृति मिल गयी, दोनों पास पास पड़ोसी की भाँति घुल मिलकर रहने लगे। जैसे शान्तिनिकेतन में वैठर कवि साधक रवीन्द्रनाथ अपनी गीताञ्जलि आदि रचनाएँ कर रहे ह, तो पास में सथाल भादों मास के आते ही अपनी 'बौद्धा' पूजा में मस्त ह। पाश्चात्य जगत् में ऐसा विरोधां स अवरोध पाना असम्भव है।'

'अति उन्नत और अति अनुन्नत साधना एक साथ पास पास रहने के कारण धर्म और साधना के तत्त्व के लिए भारत जैसा उत्तम विचार क्षेत्र अन्य नहीं मिलेगा। अग्रसर अनग्रसर सस्कृति के चरम दृष्टा त यहाँ एक ही स्थान पर मिल जायेंगे। नाना सस्कृतियों का सप्राण योगायोग होने के कारण इस देश से कई प्रकार के साधक इंगित पा गये हैं और इसी कारण इस देश का धर्म और सस्कृति ऐश्वर्य से भरपूर है। ज्ञानालोचन की दृष्टि से जहाँ यह वैचिच्य एक सुविधा है, वहाँ राष्ट्रीय सस्कृति और शक्ति की दृष्टि से यह बात अवश्य घातक है। नौका के यन्त्र अलग अलग चलाना नौ विद्या सिखाने की दृष्टि से ठीक हो सकता है, परन्तु इस प्रकार समुद्र के पार जाना तो असम्भव जान पड़ता है। शक्ति का मूल है सहति। पशु तो वही शक्ति मानते है। मानवी सस्कृति में व्यक्तित्व विकास के लिए स्थान है। पशुओं की सहति में इस प्रकार के व्यक्ति स्वातन्त्र्य को स्थान कहाँ? 'समभाव' भारतीय सस्कृति में शक्ति पूजा और व्यक्तित्व विकास दोनों विरोधी तत्वों का सामञ्जस्य है।'

'जब हिन्दू समाज में जाति भेद की प्रथा दृढ़तनी जटिल और कठोर नहीं हो गई थी, तब हिन्दुओं ने नाना देशों में जाकर नये नये उपनिवेश स्थापित किये थे। उन दिनों भारतीय सस्कृति ब्रह्मदेश, ग्याम, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, गाली आदि द्वीपों में फल खुकी थी। यह ध्यान देने की बात है कि उन सब देशों की ओर से भारतवर्ष पर न कभी कोई आक्रमण हुआ और न उन्होंने किसी ओर तरह से आघात किया। जब इस देश में छुआछूत का विचार प्रबल हुआ, तभी समुद्र यात्रा निपिद्ध हुई और साथ ही साथ पृथ्वी के अन्यान्य स्थानों से भारतीय समाज का सम्बन्ध टूट गया। ऐसे ही समय

में पश्चिम की ओर से उस पर अनेक आघात हुए। पहले तो मध्य एशिया भारतीय संस्कृति का एक जगद्वस्त क द्र था। वहाँ से कुमारजीव भादि पंडितों ने चीन में जाकर भारतीय धर्म का प्रचार किया था। आज जान पड़ता है कि भारत-उर्प की इस प्राण शक्ति का विकास असम्भव है।'

'जिम व्यक्ति को कालकोठरी में उ द किया जाता है, उसकी तन्मुखस्ती तो जाता ही है, विद्या, बुद्धि और विचार शक्ति भी लुप्त हो जाती है। शुरू में शायद राहर की विपत्ति से आत्म रक्षा के लिए सीमा की लकीर खींची गई थी, आज वह लकीर ही मृत्यु का कारण हो गई है। जग बाहर की भयजनक वस्तु भीतर आकर पड़ी है, फिर उस व्यर्थ की सीमा रेखा से अज क्या फायदा है ?'

भारतीय काव्य दृष्टि में यही विविधता में अजिरोध हमें अपने प्राचीन दर्शन की महत्ता का ध्यान दिलाता है। अद्वैतबद्धा त के प्रमग में हिरियाण ने अपने 'आउटलाइन्स आफ इंडियन फिलासफी' में पृष्ठ ३७१-७२ पर कहा है कि 'परम तत्व या ब्रह्म निजिषेय वस्तु है। इसीलिये शकर उसे अद्वैत कहते हैं, 'ऐक्य' नहीं। इस प्रकार से भेदाभेद की कल्पना को त्याग कर शकराचार्य ने ब्रह्मपरिणामवाद से अपने सिद्धान्त को अलग किया।' यह द्वैतरहितता, प्रस्तुत प्रव ध के प्रमुख विषय निर्गुण काव्य की अन्तर्धारा रही है। उसका विस्तार से विचार जाने होगा।

इस एकात्मता या अभेद की चर्चा भारतीय साहित्य के लिए विदेशी दार्शनिकों ने भी की है। एलनर्ट श्राइटज़र ने अपने 'इंडियन थोट एण्ड इट्स डेवेलपमेण्ट' में पृष्ठ १० पर लिखा है कि 'जीवन-जगत स्वीकार और जीवन जगत् नकार के भेद के बाद पश्चिमी और भारतीय दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर यह है कि भारतीय दृष्टिकोण अभेदात्मक, एकपरक और रहस्यमय है, पश्चिमी दृष्टिकोण द्वैताश्रित और सिद्धांतमूलक।'

भाषाओं के साहित्य के तुलनात्मक इतिहास के

अध्ययन की आवश्यकता

भारतीय काव्यदृष्टि और सांस्कृतिक विकास में सब्याप्त इस अभेद का बहुत अच्छा निर्वाहन भारतीय भाषाओं के साहित्यों में मिलता है। उत्तर भारत और दक्षिण भारत की भाषाओं के साहित्या में थोड़े से वर्षों के अन्तर से विचार प्रवाह, एक से प्रभाव और व्यञ्जना शैलियाँ मिलती हैं। तमिष और अन्य द्राविड भाषाओं और प्राचीन सभी भारतीय संस्कृतोत्पन्न तथा संस्कृत बहुल भाषाओं के साहित्यतिहासों में सामान्य विकास रेखा पाई जाती है।

आरम्भिक काल में सूक्ति, पद, स्फुट नीति वचन जैसे सब जगह मिलते हैं, जैसे ही सामन्त युग में चारणों द्वारा राजाओं और रानियों के प्रेम और युद्ध प्रसंगों के विशद वर्णन, 'भट्टिनाय्य' और धीरे धीरे शृङ्गारपरक दरवारी रचनाओं की ओर रुझान, सभी भाषाओं में कुछ काल तक मिलती है। साहित्य के क्षेत्र में भक्ति की उद्गावना और अवतारणा होने के साथ ही साथ सभी भाषाओं में एक से सन्त कवि और रामभक्त तथा कृष्णभक्त कवि मिलते हैं। निर्गुण काव्य परम्परा में जैसे ज्ञानेश्वर, नामदेव और महानुभाव कवि, कवीर, दादू, सुन्दरदास या अखो या अम्पर समान दिखाई देते हैं, उसी प्रकार से विद्यापति, मीरा, सूर, तुलसी और मुक्तेश्वर, एकनाथ, रामदास, नरसी मेहता, चण्डीदास आदि एक ही वैष्णव विचारधारा से प्रेरित सारे उत्तर भारत में दिखाई देते हैं। शैव, वैष्णव मनधाराओं के ही समान, हम देखते हैं कि शाहीर लावणीकार काल (मराठी) और हिन्दी का रीतिकाल समान उत्तान शृङ्गार प्रधान प्रवृत्तियों के युग है। और अगोत्रों के आगमन के बाद से, उनके प्रस्थान-काल तक देशभक्ति, राष्ट्रिय जागरण, पुनरुज्जीवनवाद, गाँधीवाद, समाजवाद आदि विचारधाराएँ भी भारत की सभी भाषाओं के साहित्यों में समान रूप से पाई जाती हैं। कहीं कहीं तो कालक्रम भी प्रायः एक से हैं। संस्कृत, मराठी तथा हिन्दी के कवियों का एक कालक्रमानुसार मानचित्र में दे रहा हूँ।

संस्कृत, मराठी और हिन्दी के प्रारम्भिक तैरहवीं शती ईस्वी के कवि और उनकी रचनाएँ

संस्कृत के कवि

सन्	कवि	रचना
११७९ से १२६२ तक	सोमेश्वर	१ कीर्तिकौमुदी २ सुरथोत्सवम् ३ रामशतक
१३वीं शती	मेदिनिकार	मेदिनिकोश
"	वीरनन्दी (जैन)	च द्रप्रभाचरित
"	कृष्णानन्द	सहृदयानन्द
१२०५	श्रीधरदास	सद्गुणिकर्णामृत (पद)
"	जमरचन्द्र (जैन)	१ बालभारत २ छन्दोरत्नावली (छन्दवद्ध) ३ जिनेन्द्रचरितम्

मराठी के कवि

सन्	कवि	रचना
१२७०	महदवा	ढवळें
"	लक्ष्मीचन्द्र	गीता टीका
"	गोपाल पंडित	चौपदा सुभाषित
१२८४	केशवराज	१ मूर्तिप्रकाश (ओबी) २ सिद्धान्तसूत्र पाठ
१२७२	दामोदर पंडित	वत्सहरण
X	नरसिंह	नलोपारचान
१२९१	नरेन्द्र पंडित	रुक्मिणी स्वयम्बर
१२२८	पुढलीक (विठोबाभक्त)	?
१३वीं शती	मुकुंदराज	१ परमात्मत २ विवेकसिंधु
१२६९-१२९८	निवृत्तिनाथ	?

१२७१-१२९६	ज्ञानदेव	१ भावार्थदीपिका या ज्ञानेश्वरी २ अमृतानुभव ३ योगवासिष्ठ
१२७३-१२९७	सोपानदेव	स्फुट कविता, पद, अभग
१२७७-१२९७	मुक्ताबाई	स्फुट कविता, पद, अभग
१२९९	चागदेव	हरिपाठाचे अभग

महानुभाव-पथ के कवि

सन्	कवि	रचना
१२५०	चक्रधर	सूत्रें
×	महीन्द्र	लीलाचरित्र
×	भास्कर	१ शिशुपाल वध (ओवी) २ भागवत एकादश स्कंध टीका (ओवी) ३ पूजा अवसर ४ चौपद्य ५ ईश स्तुति ६ चिराट शतक ७ चक्रपाणि चरित ८ वृत्तात्रेय चरित ९ गीता टीका ?
१२७०	नागदेवाचार्य	

हिन्दी के कवि

सन्	कवि	रचना
१०७५-११५४	जिनदत्त	
१०८८-११७९	हेमचन्द्र (निम्बार्क-११५०)	
११५९	हरिभद्र	
११८०	विद्याधर	
११८४	शालिभद्र	

हिन्दी कवि (जारी)

११९८	सोमप्रभ (मध्याचार्य ११९९-१२७८)	
१२०७	लक्ष्मण	
१२८३	बालचन्द्र (जैन)	द्रव्यसंग्रह टीका
१२८०	जगल (राजशेखर-१३१४)	
१२५५-१३४५	अमीर खुसरो	
१३५० या ५३	विद्यापति	
१२५५	कुमुदेन्दु (जैन)	रामायण
१२९०	हस्तिमल्ल (जैन)	आदिपुराण
१२८१	नरहरितीर्थ (माधव ब्राह्मण)	कविताएँ, पदादि

यहाँ हिन्दी और मराठी भाषाओं के आदान प्रदान के सम्बन्ध में विचार करना उचित होगा। दो भाषाओं में आदान प्रदान तीन प्रकार से हो सकता है। दोनों भाषा भाषी सामाजिक जीवन में और कार्य क्षेत्र में परस्पर सम्पर्क में आने से एक दूसरे की भाषाओं से शब्दों, मुहावरों, वाक्य-प्रचारों का अनुजाने विनिमय करते हैं और एक दूसरे की संस्कृति से प्रभावित होते हैं। दूसरे, एक भाषा से दूसरी भाषा में पुस्तकों का अथवा स्फुट रचनाओं का अनुवाद होता है। तीसरे, एक भाषा भाषी दूसरी भाषा में स्वतन्त्र मौलिक रचना करता है। हिन्दी और मराठी साहित्यों के परस्पर प्रभाव तथा परस्पर ऋण का विचार करते समय कुछ परिचयात्मक बातें मराठी साहित्य के इतिहास और विकास के विषय में जाननी आवश्यक हैं।

हिन्दी और मराठी भाषा के परस्पर सम्बन्ध के लिए दो तीन बातें बहुत सहायक हैं। एक तो दोनों भाषाओं की लिपि एक सी है। अ, ल, इ, ए, ण की लिखावट का अन्तर भी निर्णयसागर से विजापुरे टाइप तक मराठी मुद्रण-सुलभता ने पाट दिया है, और मराठी में एक आभ अक्षर ल का अधिक होना अथवा च, झ, ञ, ज की उच्चारण भिन्नता कोई बड़ी बाधा नहीं। इन गौण अक्षर भेदों को छोड़ भी वे तो दूसरा बड़ा लाभ यह है कि दोनों भाषाओं में संस्कृत के तत्सम शब्द प्रायः चाक्रीस प्रतिपात समान हैं। दोनों भाषाएँ प्राकृत से

निकली हैं, यद्यपि महाराष्ट्री और शौरसेनी प्राकृत में व्याकरणगत कई भिन्नताएँ हैं, फिर भी 'आइल गइल, अइली गइली' जैसे भोजपुरी मेंथली प्रयोग मराठी में भी मिलते हैं और पहाडी बोली तक में मराठी के कई शब्द जैसे ही मिलते हैं, जैसे उडिया में। दोनों भाषाओं का इतिहास या कहें उत्तरभारत की चारों प्रमुख भाषाओं अर्थात् पंजाबी, हिन्दी, गुजराती और मराठी के साहित्य का इतिहास एक ही ली रेखा में प्ररक्षित हुआ है। आरम्भ में वहीं सिद्ध और निर्गुण मन्त, फिर ये गण भक्तिधारा, राम कृष्ण चरित पर आश्रित काव्य, फिर एक युग उत्तान नट्यार अथवा उग्र वीररस से भरी लोकगीत गाथाओं के रातित्रय काव्य का, फिर अग्रजों के आगमन के बाद एक नए जागरण का प्रस्फुरण। आधुनिक काल में भी वहीं प्रारम्भिक विदेशी प्रभाव के प्रति शक्ति चिन्त अस्थिरता, फिर घोर अनुकरण, गद म गान्धो प्रेरित राष्ट्रियता तथा अ त में साक्षर-फ्रायड के व्यापक प्रभाव की छाया, पुरानी लीक छोड़कर चलने की दृष्टपटादृष्ट, सभी साहित्यों में एक ही वृत्ति लक्षित होना है। कुछ दशकों का अंतर इधर या उधर छोड़ दें—उतना प्रथम प्रान्त का सामाजिक सांस्कृतिक जागृति की गति का भेद मात्र है।

गोआ से गोंडवाना तक चोली जानेवाला, कोकणा, अहिराणी, पन्हाडी बालियाँ से युक्त (या कर्नाणी से मित ?) ढाई करोड़ जनता की इस भाषा का नाम मराठी है। मराठी साहित्य का आरम्भ १८३ ईस्वी में माना जाता है, यद्यपि शोधकों को कुछ ताम्रपत्र इससे भी पुराने मिले हैं। हिन्दी के आदिकवि स्वयम्भू तथा सरह का काल सातवीं शती है, मराठी के मानभाव अथवा महानुभाव कवियों में चक्रधर, महदग्ना, उद्धव चिद्घन, मुकुन्दराज आदि का काल भी ग्यारहवाँ शती तक पहुँचता है।

प्राचीन आर मध्ययुगीन मराठी साहित्य के कालखण्ड यों माने जाते हैं

- १ ज्ञानेश्वर और महानुभाजी सन्ता का यादवकाल (१२५०-१२५०)
- २ एकनाथ दासोप त का त्रहमनीकाल (१३५०-१६००)
- ३ रामदास तुकाराम का शिवकाल (१६००-१७००)
- ४ मोरोप त रामजोशी का पेशवाकाल (१७००-१८००)

सन् १८१८ में पेशवाइ के पतन के पश्चात् आधुनिक काल का आरम्भ

२ हि० म०

होता है, जिसमें १८५६ ईस्वी में चिपळूणकर की 'निगन्धमाला' के प्रकाशन के बाद आधुनिक मराठी गद्य का विशेष विकास हुआ।

ग्रन्थकाल के एक एक प्रमुख सन्त कवि का ले तो ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास आदि सभी की मराठी रचनाओं के साथ ही कुछ कुछ फुटकर पद रचना हिन्दी में भी मिली है। सन् १८९४ में प्रकाशित 'अनेककविकृत पदे, कथा, लावण्या वगैरे पद संग्रह भाग पहिला' नामक ग्रन्थ में अनेक पुरानी हस्तलिखित प्रतियाँ के आधार पर सशोधित और संकलित मराठी के प्राचीन कवियों के कुछ हिन्दी पद भी मिलते हैं। में उदाहरण स्वरूप ग्रन्थक पत्र की कुछ पक्तियाँ ही यहाँ दे रहा हूँ। ज्ञानेश्वर या ज्ञानदेव का पद १२९० ईस्वी के करीब का

तोही कच्चा वे कच्चा वे । नही गुरु का उच्चा ॥
 नुनिया त्यजकर खाक छोड़ा जाकर बैठा मन में ।
 खेचरि मुद्रा बजासन में ध्यान धरत हे मन माँ ॥
 हुडुम निवृत्ति का ज्ञानेश्वर कू तीन ऊपर मैना ।
 मदगुरु की कृपा भई जद आपी आप पिछाना ॥
 नामदेव (१२७० से १३५० ई०) के एक पद 'गोळणी ठकवित्या' में कुछ पक्तियाँ हिन्दी में हैं —

देख कहैया । मैं इजत की बड़ी ॥
 कदम पकड़ूँगी । मैं याकूरो जड़ी ॥
 मेरी छुनरी दे । मेरी दे तुल्लडी ॥

और दूसरा एक पद है 'धाम्ब धाम्ब रे, भज ले रे राजा', इसमें मराठी प्रभाव स्पष्ट है, जैसे —

जिने जन्म में डारा है तुजकूँ । विसर गया उनकू ध्यान ॥
 फिर पस्तायेगा दगा पायेगा । निकस जायेगा अवसान ॥
 लख चौरासी का फेरा आवेगा । तब चुपी मिलाये बन्दुकु ॥
 फिरता फिरता जु रमता है बाबा । कौन रखे तेरे तनकु ॥
 जिस भाय उदरी जन्म लियेगा । तेरे सगत दुख उनकु ॥
 गरभी की यातना सुन मेरे भाई । नवमास बन्धन करे ॥

नहीं लगा हलने चलने कु बात्रा । छादनकु कोई नहीं आवे ॥
आग लगी है देखत अन्धे । काय कै खाता खोया ॥

बग्रई में अभी भी जो हि दी साधारण मराठीभाषा भाषी जनता बोलती है उसमें यह 'हमकु तुमकु', 'कायके चास्ते' वगैरह सुनाई देंगे ।

एकनाथ (१५३३-१५९९ ई०) के पद १११ से १२० हिन्दी में हैं जिनकी प्रथम पक्तियाँ हैं —

- १ बन्दे हुशार रहना ते । साहब राजी रखना वे ।
- २ गुरुकृपाजन पायो मेरे भाई । राम त्रिना कुछ जानत नाहीं ।
- ३ राम मीठा लगा । सत्र सुख हम त्यागा ॥
- ४ गोरस बेचन चल गोरी मधुरा । तुम केव ठाढे नन्दकिसोरा ॥
- ५ एकना एक हजार पीरो । इसमें मेरा मौला बसे ॥
- ६ मलगु फकीर, ऐसा मलगु फकीर ॥
- ७ गाफल हुआ । आगे गफलत का कुवा ॥
- ८ छोडा तन धन गहे का काम । ज्यामे हरि से बदलाम ॥
- ९ भजन बिन धिग चतुराई ग्यान ॥

एकनाथ के शिष्य 'यवक कवि का भी एक हिन्दी पद मिलता है—
'जिसने तुजकु पेदा किया कर उसका सन्दोग रे ।'

तुकाराम (१६०८-१६५० ई०) की गाथा में 'गौलणी और विराणी' के कुछ अशों में हिन्दी पद हैं और फुटकर पदों में १६ पद हिन्दी में मिलते हैं, जिनकी कुछ प्रथम पक्तियाँ हैं —

- आज लहूँ निरवान ।
छोडे धन मन्दिर बन बसाया ।
मन्त्र तन्त्र नहीं मानत साखी ।
हरिसों मिलन दे एकहि बेर ।
कया कहूँ लह बुझत लोका ।
कब मरू पाई चरन तुम्हारे ।
दासों पाछे दीरे राम ।
काहे रोवे अगले मरना ।

काहे भुला धनस्मती घोर ।

देखत आखौं झूटा कोरा ।

क्या सारे लाल कउन चुकी भड ।

रामदास (१६०१-१६८१ ई०) के चार पौंचपद हिं दी में मिलते हैं, जैसे—

चातुर चातुर से भटका, रघुराज क तरवार घमडी गाजतु हैं,

मिथौं मनु मनु आसा लगाव घो, हान चक्र त्रिसुल विराजे, आदि ।

दक्षिण हैत्राबाद के सन्त कवि केशवस्वामी (१६२८ ई०) के आठ पद हिन्दी में मिलते हैं, जिनमें उक्त शब्दों का बाहुल्य है —

१ दुनिया का धन्दा सारा छोड़ दिया भाइ ।

हखवार से नजर उड़े साहव सा लाइ ॥

२ काहा का पाप काहा का पून । हम तां भये ह सून में सून ॥

३ वच्चा । करल विचैक । सब स मज सा एक ॥

प्रच्चा । बाहरे मत देण । त ही त् अलेख ॥

४ हार सुढे हुपार सुढे देण सुढे दाई ।

ढांगी नजर देख बाजा नजीक इलाही ॥

[नाट—यह प्रब ४ १९५३ में लिखा गया था । तत्पश्चात् डा० विनयमोहन शर्मा का ग्रन्थ 'मराठी सन्तों की हिं दी की दन' प्रकाशित हुआ है, जिसमें यह उदाहरण है ।]

अध्याय २

प्रस्तुत अध्ययन में विशेष दृष्टिकोण

हिन्दी और मराठी के निर्गुण सन्त काव्य का यह अध्ययन प्रस्तुत करते समय मेने चार दृष्टियों से विशेष रूप से विचार किया है —

१ निर्गुण सन्त का य का का य कला की दृष्टि से साहित्यिक अध्ययन और समाप्ता ।

२ निर्गुण सन्त काव्य के निर्माण के पूर्व की दार्शनिक परम्पराओं और प्रभावों का विश्लेषण ।

३ निर्गुण सन्त काव्य के प्रादुर्भाव के काल का ऐतिहासिक विवेचन, समाजस्थिति और जातियों के सम्बन्ध का विचार ।

४ निर्गुण सन्त का य के मूल में दार्ष्टान्तात्म्य शैव मत, शिव-शक्ति मयोग । आरम्भिक अध्याय में काव्य के लक्षण और प्रयोजन की चर्चा की गयी थी । सन्त काव्य को कहीं तक काव्य माना जाय यही आरम्भ में विचारणीय है । साहित्यिक अध्ययन और समीक्षा का अर्थ इधर केवल ऐकान्तिक या 'साहित्य के लिये साहित्य' की दृष्टि से लिया जाने लगा है । साहित्य समीक्षा में केवल साहित्यिक मान दण्ड काम में लाये जाय, साहित्येतर विज्ञान या अन्य विषयों का प्रवेश निषिद्ध हो ऐसा भी नारा उठाया जाने लगा है । मानो इन आलोचकों की दृष्टि में साहित्य का मानव जीवन और विस्तृत जगत् से कोई लौकिक सम्बन्ध नहीं है । साहित्य की सृष्टि व्यष्टि मानव द्वारा समष्टि मात्र के लिये होती है । अतः साहित्य का भावन या रस प्रक्रिया भी एक लौकिक व्यापार है । वह मानव सापेक्ष है, यह दुहराना एक स्वयंसिद्ध सत्य को पुनः सिद्ध करने के समान है । यह सच है कि मानव के अन्य चिन्तन व्यापारों की भाँति साहित्य की भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है । जैसे दर्शन, इतिहास, राजनीति आदि ज्ञान विषय हैं, साहित्य-शास्त्र भी एक ऐसा ही ज्ञान विषय

ह। परन्तु यह दिक्कालातीत, केवल शून्य में रहनेवाला कोई वस्तु अत्र नहीं मानी जाती। मनाविज्ञान और समाजविज्ञान के निरन्तर बढ़ते हुए अध्ययन से यह सिद्ध हो रहा है कि मानव विकास एक सीधी रेखा नहीं है, न ही उसका अग विच्छेद करके कोई ज्ञान सम्भव है। मानव द्वारा की गयी कोई सृष्टि चाहे कलितकला हो चाहे साहित्य, एक नित्यविकासशील, सभ्यता के साथ साथ नान्दोलित प्रभावित होनेवाली, स्पन्दमयी कृति है। अतः उसके निर्माण में भी सूक्ष्मता, जाने अनजाने, निर्माता के सामाजिक संस्कारों का, युग और परिस्थितियों की चेतना का, उस काल की सचित ज्ञानराशि का प्रभाव अत्यन्त सभ्यता है। कलाकृति में कलाकार किस सीमा तक अपनी परम्पराओं से ग्रहण करता हुआ और कितनी दूषित या हतप्रभ रूढ़ियों को झुठलाता हुआ आगे बढ़ता है, यह उस कलाकार की स्वतन्त्र मेधा और प्रतिभा तथा तत्कालीन समाज स्थिति के चतुर्विध दबाव या उत्प्रेरण पर निर्भर है। जो संप्राण कला कृति या साहित्य रचना निर्मित होती है वह भी अपने निर्माता से सर्वथा निर्लिप्त और अपने आस पास के सण्डल या वातावरण को सर्वथा अप्रभावित करनेवाली नहीं हो सकती। जब कि प्रकृति में छोटे से छोटे अणु स्पन्दन की, परिवर्तन की, महत्ता है, तब मानव द्वारा मानव के लिये निर्मित वस्तु ऐसी जब कैसे हो सकती है ?

साहित्य समीक्षा के विषय में स्वर्गाय आचार्य अकादमीशियन बाराजिकोव ने द्विवेदी अभिनवन ग्रन्थ में 'आन डिफरेंट परसेपशंस आफ लिटररी फैंक्ट्स'^१ लेख में लिखा था 'साहित्य के इतिहासकार का ध्यान साहित्यिक तथ्यों के अध्ययन में तीन बातों की ओर साधारणतः खिंचता है ग्रन्थ या कृति, उसके रचयिता और प्रस्तुत कृति में प्रतिबिम्बित सामाजिक परिस्थितियों या वातावरण। पाठक की मानसिक प्रतिक्रिया के पर्यवेक्षण की समस्या की ओर सामान्यतः बहुत कम ध्यान दिया जाता है। यह पूर्णतः स्पष्ट है कि किसी भी साहित्यिक कृति का ज्ञान जिस भूमि में वह निर्मित हुई है वहाँ की जातीयता के चौखटे में देखने से अधिक संपूर्ण होगा, क्योंकि यह जातीयता साहित्यिक परम्पराओं की लम्बी जटिल शृङ्खला की एक कड़ी

मात्र है। इसी जातीय साहित्यिक परम्परा की पृष्ठभूमि में ही किसी भी साहित्यिक कृति का कोशल, मौलिकता और सामाजिक मूल्य, जो चा जा सकता है, क्योंकि साहित्यिक कृति वर्तमान समय के हजारों तनुओं से ही सञ्च नहीं उरि जनता के या किसी जातिविशेष के इतिहास से भा निगडिन होती है।' सत साहित्य के विषय में विचार विमर्श करते समय यह बात विशेष रूप से देखनी चाहिये। भारत के मध्ययुग की सांस्कृतिक साधना परम्परा का एक फल है सत काव्य। यह चि तनपरक होने के कारण काव्य ही नहीं है, ऐसा माननेवालों के विचार में सामाजिक परिपार्थ मानो शून्य है।

सन्त काव्य से पर्याप्त रसोद्बोधन नहीं होता, ऐसा कई समीक्षकों का सामान्य आक्षेप है। नाट्य शास्त्रकार भरत के समय तक रस लौकिक 'आस्वाद्य' में निहित था, परन्तु बाद में विज्ञानवादियों और वदातियों के प्रभाव से अभिनवगुप्त के समय तक आते आते वह 'आस्वाद' जैसी अमूर्त, अरूप, अलौकिक भाव वस्तु मात्र बन गया। 'रस' की वरूपना का ऐतिह्य विवेचन प्रो० जारलिंगे ने भराठी मासिक 'नवभारत' के नवम्बर, १९५१ के अंक में किया है। 'रस' का यह बाद का आत्म निष्ठ स्वरूप, जो कि आस्वाद्यमानता पर अधिक निर्भर है, डा० भगवानदास ने अपने 'रस मीमासा' निबन्ध में अच्छी तरह विवेचित किया था। और वे भी इस निर्णय पर पहुँचे थे कि

१ 'जो टापिक्स यूजवली ड्रा दि एटे शन आफ ए हिस्टोरियन आफ लिटरेचर ह्याइल स्टडीइंग लिटरेरी फेक्ट्स दि वक इट्सैरफ इटम आवर एड दि सोशल एनवा इरनमेंट रिप्रेजेंटड इन दि वक दैट इज बीइंग स्टडीड वेरां लिडिल एटे शन इन जेनेरली पड डु दि प्रान्लेम आफ परसेप्शन डु दि साइकोलौजिकल रीएक्शन आफ दि रीटर डु डि वक अवर एक्जाभिनशन इ इज परफेक्ला क्वाभर दैट दि परसेप्शन आफ ए गिवन लिटरेरा वक विल बा मास्ट कम्प्लाइ इन दि फ्रमवक आफ दि नेशनैलिटी आन हन स्वाइल इट हूँ वान किण्टड, बीइंग वन आफ डि लिक्स आफ ए लॉग एण्ड कम्प्लेक्स चैन आफ लिटरेरी ट्रेडाश स ओनूला आन दि वेकगाउण्ड आफ दिस नेशनल लिटरेरा ट्रेडीशन कैन दि स्कल, ओरिजिनेलिटी एण्ड सोशल बैर्यू आफ ए गिवन लिटरेरी वर्क बी एप्रोशियेटड, सिंस इट इज कनेक्टेड विथ इ यूमरेबल ग्रेड्स नाट ओनली विथ प्रेजट गदम, वट आस्तो विथ दि हिस्ट्री आफ दि पीपल'।

ना यास्त्राए या रम 'लोकोत्तर' भी कैसे कहा जा सकता है ? लोक म ही तो, आरं लौकिक विशेष अनुभवों को लेकर ही तो काय माहिय म 'रस' की चर्चा है ।^१ डा० भगवानदास की इस मीसाल्या से कुछ प्रयोजनीय उद्धरण देने का मोह में सवरण नहीं कर सकता । सत् काय मे प्राप्त रस की मार्शानिक पृष्ठभूमि को मस्यन् रूप मे समझने म ये अश प्रदुत उपयोगी मिड होंगे—

'अबुद्धिपूर्वक-अनिच्छापूर्वक-स्वाद' नहीं, किंतु बुद्धिपूर्वक, इच्छापूर्वक, 'आस्वादन' का अनुशयी वृत्ति का नाम 'रस' है । भाव (चोभ, सरम्भ, सबग, आरंग, उद्वेग, आवेश, अगरेजी म इमोशन) का अनुभव 'रस' नहीं है, किंतु उस अनुभव का स्मरण, प्रति सवेदना, 'आस्वादन', 'रसन' रस है । 'भाव स्मरण रस' और आस्वादन का रूप यह है—'मैं क्रोधवान् हूँ' या 'करुणावान् हूँ' आदि । अर्थात् म हूँ यही रस का सार पख है । ऐतरेय ब्राह्मण म कहा है—' पुरुषे त्वेवापिसारामारमा, स हि प्रज्ञानेन सम्प दनम, पिजात वदति, जिज्ञात पश्यति, (पशव) न पिजात वदति, न विज्ञात पश्यति ।' पशु जानते हैं, देखते हैं, बोलते हैं, पर यह नहा जानत कि हम जान, देख, बोल रहे हैं । मनुष्य जानता, देवता, बोलता है और साथ ही यह भी जानता है कि हम जान, देख, बोल रहे हैं । इसलिये पुरुष म आत्मा का जापिर्भाव सब प्राणिया से अधिक है, उसम प्रज्ञान भी है ।^२

इसा 'प्रज्ञान' को या 'बुद्धिवृत्ति' को विविध दर्शनों म अलग अलग नाम दिय हैं—'अनुव्ययसाय, प्रतिसवेदन, प्रत्यभिज्ञान, प्रत्ययानुपश्यता, निजबोध, प्रयक्चेतना, आत्मविज्ञान प्रभृति ।' बाह्य पदायो के अनुभव के साथ साथ यह आत्मानुभवरूपिणी वृत्ति सत्-विद्यमान है, चित्त-चेतन है, जान-द-सुरामय है । इस 'मैं हूँ' में जो जान द का अश (अग, अजयव, कला, मात्रा, रूप, भाव, पहल) है वही रस बुद्धि है, उसी का पर्याय रस है । इसीलिये उपनिषदा म आत्मा क विषय म कहा है—'रसो वै स', 'रस ह्यपाय लब्धाऽऽनन्दी भवति', 'कृत्स्नो रसघन एव', 'अङ्गिरसो अज्ञाना हि रस' इत्यादि ।

१ द्विवेदी अभिनदन ग्रन्थ-पृष्ठ ९ ।

२ वही, पृष्ठ ७ ।

‘अहम् अस्मि’—यही सन्मय, चि मय, आनन्दरसमय है। आत्मा का किसी ‘अनात्मा’ के बहाने आस्वादन—यही रस, लीला, क्रीडा, नटन है—यही कविता में श्रेष्ठ नाटक है (का येषु नाटक श्रेष्ठम्)। नाटक में पात्र ‘बनते’ हैं—अपने को अपने से अन्य ‘बताने’ हैं,—बुद्धिपूर्वक, लीला से, माया से (‘या-मा’) ‘जो नहीं है’ वही ‘उन’ जाते हैं, और उसमें उठा रस मानते हैं, आनन्द पाते हैं ।^१

‘चेत य का परोक्ष नाम आत्मा है। ‘अपरोक्ष’ नाम ‘अहम्’ है। जोऽम् तो उसका नाम है, पर थोड़ा अव्यक्त सा है। ‘अहम्’—यह दिन दिन का व्यवहार में कुछ अधिक व्यक्त जान पड़ता है। सस्कृत वर्णमाला का आदिम अक्षर ‘अ’ और अंतिम ‘ह’ है। इन दोनों के बीच में अन्य सत्र अक्षर हैं। अक्षरों के संयोग में सत्र वाक्य हैं जो सत्र ज्ञान, इच्छा, क्रिया के वाचक बोधक हैं। तत्रशास्त्र में एक एक अक्षर से एक एक तत्त्व, एक एक पदार्थ की, जिनका वर्णन स्वरूप आदि दर्शाना में क्रिया है, सूचना होती है। ‘अहम्’ आत्मा का निगूढ़ सर्वज्ञता इस आद्य अन्य अक्षरों के संयोग से सूचित होती है।

इस ‘अहम्’ में, ‘अस्मि’ में, आज दाश ‘रस’ है ऐसा कहा। पर यहाँ एक धोखा होने का भय है। उसका निवारण होना चाहिये। ‘अहम्’ नाम परमात्मा (वा प्रत्यगात्मा) का भी है और जीवात्मा का भी। दोनों में एकता होत हुआ भी जो भेद है वह प्रायः प्रसिद्ध है। वंश काल द्रव्य आदि से परिच्छिन्न, अपच्छिन्न, परिमित, विशिष्ट, आधिभौतिक शरीर की उपाधि से उपहित चेत य को जीवारमा कहते हैं। इन सत्रसे अतीत चेत य को परमात्मा कहते हैं। ऐसी ही एक ‘अस्मिता’ परमात्मा की ओर एक जीवात्मा की होती है। पुराणों में, दर्शनसूत्रों में बताया है कि परमात्मा में विद्या अविद्या दोनों भासती हैं। जैसे तृण में से ‘पोर’ निकलती है वैसे अविद्या में से भी ‘पर’ निकलते हैं। पहली पोर स्वयं ‘अविद्या’, दूसरी ‘अस्मिता’, तीसरी ‘राग’, चौथी ‘द्वेष’, पाँचवा ‘अभिनिवेश’। इसलिये ‘पंचपत्रा’ अविद्या। विद्या के साथ रहनेवाली ‘अस्मिता’ पारमात्मिक, पारमाधिक, ‘अविद्या’ के साथ रहने वाली ‘अस्मिता’ सासारिक, व्यावहारिक, जैत्रात्मिक। जैसे पारमाधिक

अस्मिताऽऽनुभवरूपा 'रम', पारमाथिक 'जान द', ब्रह्मानन्द का पर्याय है उसे एहद्विक व्यापहारिक अस्मिताऽऽनुभवरूपी 'रस' लौकिक काय साहित्य से सम्बन्ध रमननाये 'जानन्द' का पर्याय है। यह जान द उस जानन्द की, यह रम उस रम की, ज्ञाया ह। ब्रह्मास्मान का सहोदर का यास्नाद नहा, प्रयुज उसका प्रतिग्रिज, विवत, रूपक, नरुल, ज्ञाया मात्र है। तथा उममें 'पद्यातर' तर्क है, ब्रह्मास्वान म 'पद्यातर' का निषेध है (नेह नानास्ति किञ्चन)।

यहाँ यह लम्बा उद्धरण देने का कारण केवल यह है कि 'रस' का लौकिक अर्थ—जैसे धीरे धीरे उपनिषद् पदान्त के अद्वैतवाद का प्रभाव से अलौकिकत्व प्राप्त करता गया, उसी प्रकार से 'आत्मन्' या 'अहम्' की कल्पना भी बराबर परिवर्तित होती रही है। भारतीय दर्शन में यह आत्मत्व एकदम 'कदस्थमचलमद्रुवम्' नहीं रहा है। ऋग्वेद में कहीं भी कोई विरक्ति या निवृत्ति की बात नहीं है। ऋग्वेद एकदम लौकिक और अस्पष्टार्थबोधक है। बन्धु देवताएँ 'परोक्षप्रिय' हैं (प्रेतरेय ब्राह्मण २, ३३, ७, ३०। तैत्तिरेय ब्राह्मण १, ५, ९, २। शतपथ ब्राह्मण ६, १, १, २, १४, ६, ११, २)। वैदिक देवताएँ जो कुछ अस्पष्ट हो उससे प्रेम करती हैं। स्पष्ट और स्पष्ट से घृणा करती हैं। जिस किसी देवता की स्तुति वे करते हैं वही उनके लिये देवाधिदेव हो जाता है। ऋग्वेद के द्वितीय मंडल (१२, ५) से पता चलता है कि 'क्या इन्द्र प्रयत्न अस्तित्व में है?' इस प्रश्न का उत्तर है, 'किमने उसे देया है?' सृष्ट्युत्पत्ति का विषय भी वेदों में एकमत्य नहीं। कोई ऋषि इन्द्र को, कोई विष्णु को, कोई बृहस्पति को, कोई धौपृथिवी सगम को, कोई जल पर स्थित अग्नि को, सृष्टि का निर्माता कहते हैं। सवित्र अकेले इस रहस्य को जानते हैं। इस प्रकार से जीवोत्पत्ति के विषय में भी ऋग्वेद सदिग्ध स्थिति में है। वैदिक ऋचाओं में आर्य लौकिक वस्तुएँ मागते हैं। जैसे ऋग्वेद के तृतीय मंडल (५३, ४-६) में सुन्दर सौम्य स्त्री मागी गई है, तो दशम मंडल (८५, ४५) में पुत्र, प्रथम मंडल (१८, २, १२३, १) और द्वितीय मंडल (११, २) में स्वर्ण और अष्टम मंडल

१ द्विवेणी अभिनवन ग्रंथ पृष्ठ ९।

२ ओल्डेनवग द्वि रिलीजन ऑफ वेदान, पृष्ठ ४, ५०२ (लाइपजिग, १९१७)।

(५४, ११ १२) में गोर्ष । यह स्वयं भाविक एषणाएँ हैं । और देवताओं की अनेकता स्पष्ट है । दशम मंडल में (१२१) प्रजापति का पुत्र होना और 'एकम् सद्विप्रा बहुधा उदति' (प्रथम मंडल, १६४, ४६) आर्यों पर द्वाविड चिन्ताधारा का प्रभाव का द्योतक है । द्वाविड लोग पृथ्वरपादी थे । यह प्रभाव इण्डियन हिस्टोरिकल रिसर्च इस्टिब्यूट के सचालक रॉजर एच हराम एल जे ने 'दि रिप्लेजन् आफ दि मोहेनजादारो पीपल एन्डाडिंग टु दि इन्डिअन म' नामक लेख में स्पष्ट किया है । उनका अनुसार 'प्रकृति की सत्य शक्तियाँ मनुष्य को आरोप करते करत वन एक देव की कल्पना की ओर बढ़े । यह सर्वदेवता (पैनथीइज्म) एकदम भातिकवादी था, और उत्तर उपनिषदों के आध्यात्मिक तथाकथित सर्वतत्ववाद से विरोधा और भिन्न था ।'

इस भिन्नता की कारणभीमासा करत हुए हरास कहते हैं कि जमुनाय सरकार ने 'इण्डिया टू दि एजेज़' (कलकत्ता १९२८, पृष्ठ २५ २६) में जो यह कहा कि 'वदिक दर्शन से भिन्न उच्च दर्शन आश्रमों में से पनपा, जनक जैसे क्षत्रिय राजाओं के दरबारों से होता हुआ । और अन्त में इसमें हुए शाक्यमुनि गौतम । ब्राह्मणों के कर्मकांड के विरोध में यह शाक्य सिंह खड़ा हुआ और उसने दहाडा' अनैतिहात्मिक है । सच तो यह है कि निवृत्तिज्ञान न्युपनिषद् सिद्धान्तों के प्रकृत प्राद में फला । कर्मकांड के प्रेरक प्रतिक्रिया इन नये विचारों का कारण नहीं, अपितु परिणाम थी । उपनिषदों में वेदों से भिन्न जो पाँच नये तत्त्व दिये—य थे आत्म, कर्म, पुनर्जन्म, साक्षात्कार और निवृत्ति ।

आत्मतत्त्व के विषय में हेराम का अनुसार उपनिषदों में यह विशेषताएँ थीं—१ आत्मनू अपरिभाष्य है, २ आत्म में आत्म नहीं था—जब कुछ न

१ जनक आफ रिप्लेजन्सिटी आफ वाग्ब ५, भाग १, पृष्ठ १ से १६

२ दिस अला इण्डियन पै थ्रीइज्म, बार्न फ्राम ए टोटली मटीरियलिस्टिक एलीमेंट आफ दि मल्टीग्लिसिटी आफ नेचर-गाट्स कैन नौट बट बी मटीरियलिस्टिक, एज मटीरियलिस्टिक एन दि मटीरियलिज्म आफ रिप्लेजन्सिटी, एण्ट का माक्रे टली इन परफेक्ट अपोजीशन टु दि मोअर रिप्लेजन्सिटी मो-काण्ड पे थ्रीइज्म आफ दि लेट उपनिषदिक पीरिअट (हिस्टोरिकल इण्डेक्सन टु दि मिस्टिक टीचिंग्स आफ दि इरिदासाज, गोटडन ज्यूबिली पब्लिकेशन्स, कर्णाटक विश्वविद्यालय, भारवाड १९३७ पृष्ठ १२) ।

या, तय भी वही या, ३ आत्मन् सृष्टिकर्ता है, ४ आत्मन् अमर है, ५ आत्मन् अजलात है, ६ आत्मन् परम है, ७ आत्मन् स्वयभू, स्वयचालित, स्वयपूर्ण है, ८ आत्मन् सय जीवां मे है, ९ आत्मन् सय जीवों से भिन्न भी है, १० यही आत्मन् ब्रह्म है।^१ प्रो० फामिची के अनुसार यह आत्मन् एक प्रकार का व्यक्ति-ब्रह्म है जो जगत् से भिन्न है ('इल पेन्सीरो रिलिजिओसो टेल इडिया प्राइमा डेल खुड्रा' पृष्ठ २५९, जोलोना, १९२५) ।

'आत्म तत्त्व' या धीरे धीरे बदलता हुआ लौकिक से आध्यात्मिक अर्थ ग्रहण करने लगा। आत्मा के आनन्द तत्त्व रस की भी व्याख्या धीरे धीरे बदलती हुई भौतिक से निरिन्द्रिय निराकार रूप लेने लगी। रूप से अरूप की ओर भारतीय चिन्ताधारा की इस विज्ञान रेखा में मध्ययुगीन सन्तों के काव्य का विशेष योगदान है, क्योंकि उन्होंने काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द के निकट जाकर रखा। दोनों आनन्दों की आत्मा एक ही है, यह बताया। अन्तर केवल नारतस्य का है, तत्त्व का नहीं, यह अपनी मस्ती से भरी कृतियों से सिद्ध किया। स्पष्ट है कि उनकी रचनाओं का रसास्वात् बाद के पश्चिमाञ्च रीतिवादी मानां से नहीं हो सकता। 'हृद बेदह दोनों गया, करिरा देखा नूर' का आत्मसुख भिन्न प्रकार का है। वह परवर्ती अलकारों के सौँचे से नहीं रोधा जा सकता। निर्गुण सन्त काव्य का कला की दृष्टि से अभ्युत्थान या समीक्षा प्रायः नहीं करायी हुई है, क्योंकि मानवी रसात्मबोध का सामाजिक परिपार्श्व से जो वैज्ञानिक, ऐतिहासिक सम्बन्ध है, उनकी ओर से उदासीन होकर चर्चाएँ की गयी हैं। यहाँ तक कि रा० व० रानडे जैसे विद्वान के ५०० पृष्ठों के ग्रन्थ 'मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र' में प्रस्तुत प्रसंग में बस एक परिच्छेद है 'ज्ञानदेव के समय महाराष्ट्र की स्थिति' पर, जोर वह भी बहुत सतही है।

निर्गुण सन्त कवियों का आविर्भाव-काल से पहले ऐतिहासिक सामाजिक परिस्थितियाँ क्या थीं, यह विचारणीय है। १०३७ ईस्वी के करीब अलवरूनी भारत में आया था। उसके विवरणों से पता चलता है कि धार्मिक विश्वास

१ वही पृष्ठ-१७।

२ पृष्ठ २५।

कई सम्प्रदायों में 'उठ चुके थे।' और राजनैतिक परिस्थितियाँ भी अस्थिरता में भरी हुई थी, सामन्त लड़ते थे और जनता को एक या दूसरे का पक्ष लिये बिना कोई चारा नहीं था।^१ ऐसे समय में तत्कालीन यदि चारण कवियों से भिन्न मार्ग अपनाया तो उसमें क्या आश्चर्य है? डा० पीताम्बरदत्त प्रडवाल ने अपने निर्गुण कवियों के उद्भूत मूल्यवान् अध्ययन में गोरक्षनाथ के किर्मी शिष्य के ग्रन्थ 'काफिरपोध' का एक उद्धरण दिया है—'हिन्दू मुसलमान खुदाई के उद्दे। हम जोगी न रख किस ही के इन्दे।'^२ जय जय किसी भी देश या जाति के साहित्य में ऐसे सांस्कृतिक आक्रमण या दो सस्कृतियों के बीच संघर्ष होते हैं, तब सन्ता जन्मे मनापी, विचारक, खटा, फलाकार उससे कुछ अलिप्त होकर ही उमर पारे में मोचते हैं। वे दूर की बात नहीं हैं। जय कि वीर पुत्र, नेता, सेनापति आदि निरुक्त व समझोते, विग्रह, प्रतिविग्रह को लेकर चलते हैं। सन्तों की मुस्लिम आक्रान्तियों के प्रति उदासीनता, या हिन्दू सुसलमान दोनों के दायों का समानभाव से निष्ठा या आलोचना यही अर्थ रखती है। सन्तों के इस सारे समाजकार्य को समझने से पहले उनके ऐतिहासिक सामाजिक परिपार्व को और उनका दार्शनिक परम्पराओं को समझना उचित होगा।

मुसलमानों का उल्लेख प्रायः इस विषय पर लिखनेवाले सभी विद्वानों ने किया है, और वह वस्तुनिष्ठ, तटस्थ ऐतिहासिक घटना के रूप में नहीं, परन्तु कुछ भावुकता से सन्तुष्ट होकर किया है। यह शास्त्रीय विवेचन में अनुचित है। जैसा कि मैं आगे लिख करूँगा, मुस्लिम या ईसाई हवाओं के उठने से पहले ही हिन्दू दार्शनिक पन्था में यह निर्गुण प्रीज अकुरित हो चुके थे, और वे इतने पक्के थे कि इन घटनाओं का कोई उल्लेखनीय अनुकूल या प्रतिकूल असर सन्तमत पर कम हुआ।

डा० पीताम्बरदत्त प्रडवाल के प्रबंध के प्रथम अध्याय के द्वितीय परिच्छेद

^१ सतराम वी० ए० अल्बरूनी की भारत-नामा (नागरप्रचारिणी सभा भूमिका भाग २)।

^२ गौराशंकर हीराचंद द्वारा म. यमुनीनभारताय संस्कृति (हिंदुस्ताना एकडमा)।

^३ हिन्दुग स्कूल आफ हिन्दी पाठ्य अथाय १, पृष्ठ-९ (इण्डियन बुक शॉप बनारस)।

का शार्पक ही है—'इस्लाम की कोपदृष्टि में भारत'। ११९७ ई० में मुहम्मद त्रिन प्रस्थार ने नाल टा विद्यापाठ नष्ट किया और रत्नावली पुस्तक समग्रह जला दिया, और अन्य मुस्लिम शासकों ने जो अत्याचार किये, उनका इश्वरीप्रसाद के 'मेडीकल इण्डिया' के आधार पर बडधवाल ने वर्णन किया है और कहा है कि मुस्लिम असहिष्णु थे, वे धार्मिक स्वतंत्रता नहीं देना चाहते थे। महमदीय धर्म प्रसार और साम्राज्यस्थापन एक साथ चलते थे। कुफ्र का विनाश राजा का प्रधान धर्म था। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि सूफी फकरा का एकश्वरवादा विश्वासवाद (मोनोस्टिक पैन्थीइज्म) हिन्दू दर्शन की दम थी। यही मत च द्रष्टी पाठ्य के 'तसवुफ और सूफीमत' के परिशिष्ट^१ (२) में विस्तार से प्रतिपादित किया गया है—'तसवुफ पर भारत का प्रभाव'। इस्म सुलेमान नदवी के ग्रन्थ 'अरब व हिंद के ताल्लुकात' के आधार पर विस्तार से बताया गया है कि मुसलमान हिन्दुओं से स्मिथ ईश्वरीप्रसाद वर्णित दश पर केवल नफरत ही नफरत नहीं करते हैं, बल्कि आपस के मन्त्र धों से ज्ञान, दर्शन आदि क्षेत्रों में उ होंने कुछ पाया था। यहाँ तक कि बहानी मुसलमान सूफिया को 'अहलेहम्द' तक कहने लग। आदम का पता 'गिज़ा ए ग दुम' से हुआ और वह दक्षिण में सरन द्वीप में २०० बरसों तक रहा। भारत में आरम्भ में पाणि जाति थी (जिस बसु महोदय 'फोनीशी' कहते हैं)^२ व आर्यों के आक्रमण के बाद पश्चिम में भागी। जैसे आदम सरन में अरब में। कुरआन में जिस काली मिट्टी की कीचड़ से आदम को बनाने का उल्लेख है, वह भी भारत में ही रही होगी। बल^३ के अनुसार 'हिन्द' शब्द का प्रयोग यूनानी लतीनी भाषाओं में बहुत अस्पष्टार्थवाची होता रहा था। अरब और हिन्दुस्तान के 'तिजारती ताल्लुकात' दो हजार बरस पुराने थे। सुलेमान के जहाज 'ओफिर' बन्दरगाह तक आते थे। और हिन्दुस्तान का बहुत सा द्रव्य ले जाते थे। स्थल मार्ग का व्यापार यहूदियों के मार्फत था। इब्रानी के 'तुकी' और 'अहलिम' द्रविड भाषा के 'मोर' और 'बूदार लकड़ी' के पर्यायवाची हैं। शामी जातियों का भारत से केवल व्यापार ही

^१ पृष्ठ २११ से २४८।

^२ दा सोशल हिस्टरी आफ कामरूप, प्रथम भाग, द्वितीय अध्याय।

^३ डॉ ओरिजन आफ इस्लाम. पृष्ठ ३१।

नहीं था पर तु वस्तुओं के साथ विचारों का आदान प्रदान भी होता था। वसु के अनुसार हिप्पी और मिथानी क्षत्रिय और मित्रानिक के रूप हैं।^१ मनु (१०, ४३ ४४) में भारत से क्षत्रियों का जाहर जाना और सरकार विरहित बनकर शूद्र बनकर लोट जाना लिखा है। असीरिया के मूल का 'असुर' और छान्दोग्य के 'उल्लव' और शतपथ के 'हेलव हेलव' के मूल में शायद शामी शब्द 'इलो' (इब्रानी भाषा में इसका अर्थ 'देवता' है) हो। परंतु चन्द्रवलीजी का छान्दोग्य के 'तज्जलन्' का 'तज्जली' से साम्य उतलाना भाषाशास्त्र सम्मत नहीं। उसी प्रकार से उपनिषद् और कुरआन में साम्य की खोज में भी बड़ी खींचतान है। अल-उत्ता नूह का थ्रोणीपुरम् से सम्बन्ध^२ विचारणीय है। हनीफ का पणि से और शैवी का शैवों से सम्बन्ध भी चन्द्रवली पाठे द्वारा उपस्थित किया हुआ एक मौलिक विचार बिन्दु है। आर्यपूर्व सभ्यता में 'आण, अणिल तथा असा' नामक त्रिमूर्ति देव का उल्लेख मिलता है जो शिव, कार्तिकेय और पार्वती के पर्याय थे। कार्तिकेय या सुब्रह्मण्य का प्राचीन द्राविड नाम 'मूहगन' भी था। मरुङ्गणा ने उसका साम्य दर्शनीय है।

जो लोग सन्तों के अद्वैत पर मुस्लिम एकेश्वरवाद का प्रभाव मोचते हैं, उन्हें यह नवीन तथ्य जानने चाहिए कि मोहिनजोदादो से प्राप्त शिलालेखों से उस काल के लोगों के धार्मिक विश्वासों का जो पता चला है वे भी बहुत कुछ एकेश्वरवाद समर्थक हैं, औपनिषदिक विश्वासों के साथ उनमें मिलते हैं—

- १ ईश्वर का नाम 'दुहवन' पाया गया है। इसका अर्थ है, 'वह जो है'।
- २ मृत्यु का नाम 'वन तेर' है। इसका अर्थ है 'आकाश तक पहुँचना', और उपनिषद् में आत्मा के 'चन्द्रमनस्' तक पहुँचने की यात का साम्य है।
- ३ 'वन तेर और मीनकण वेल'। अर्थ है—'जिसकी मीन जैसी आँखें हैं, वह मरते समय सुखी रहे।' मीन सी आँखें होने का अर्थ है ईश्वर जैसी आँखें होना और ईश्वर जैसा ज्ञान होना। जो मीनाक्ष हैं वे ही मृत्यु के बाद सुखी हो सकते हैं।

१ दी सोशल हिस्ट्री आफ कामरूप, पृष्ठ ११०।

२ स्टडीज इन टैमिल लिटरेचर एण्ड हिस्ट्री, पृष्ठ ८९।

ध 'पेवक आ पट उडा अड्ड' (अर्थ ह—सात बार मरे हुए मनुष्य के ये आठ ऋच ह ।) यह सूत्र पुनर्जन्म की ओर इङ्गित करता है ।^१

आर्यपूर्व मोहनजोदाडो सभ्यता के मिले हुए यह खण्ड हमारे हिन्दू मुस्लिम विराय या समन्वय के विश्वासों को पुनः एक बार झरझोर देते हैं। वस्तुतः निर्गुण, एकेश्वरवाद, सवान्तर यास विश्वात्मा की मान्यता के बीज उपनिषद् से भी पुराने हैं। सूफी या इमाई ता सभ्यता की इस सहस्रपात ससृष्टि में उद्भूत याद में आय ।

जिस शैव मत के विधुस की बात की जाती है उदात्त मूल में ये निर्गुण एकेश्वरवादी वाज्य थे, और उस शिवमूर्ति के चाहे सहस्र दुम्बे हुए हैं— विचारों के चित्र में उम मूचम प्रभाव से इस्लाम भी नहीं उच सका । वरिष्क या कहना चाहिये कि सभ्यता के विक्राम में निर्गुण और सगुण मतयाद का 'प्रताप्यसमुत्पाद' सा हाता जा रहा है । निर्गुण जैसे सुदय आधारभूत तल है, उम पर सगुण मत भी तरय गीच गीच में उठती है और फिर त्रिलीन हो जाती है ।^२ हिन्दू जाति भी उस समय बहुत पतनोन्मुखी थी, वर्णाश्रम धर्म ने उस खोखला और खण्डित कर दिया था, कर्मकाण्डी कट्टरपन ने उमम दरारें पैदा कर दी थीं ।

शैवमत के मूल में भी निर्गुण बीज थे, यह तमिल शैव कत्रिया की कई रचनाओं से पता चलता है । तिरुनायुक्करसु स्वामी, जि हैं अप्परस्वामी कहकर पुकारा जाता है, सम्बन्धर के मित्र थे । 'तिरुनायुक्करसु' का अर्थ है—जिह्वा के स्वामी । इनकी मूर्ति जो कोलम्बो म्यूजियम में पायी गयी है, उसके हाथों में एक वाम खोदने की खुरपी सी है, इसी से वे पत्थरों में शिल्प खोवा करते थे । जैनियां ने इनका बहुत पीछा किया । इनके विषय में लोकोक्ति है कि 'देवारास' या शैव स्तोत्रग्रन्थ के तीन रचयिताओं में य सर्वश्रेष्ठ थे । 'शिव कहते हैं कि सम्बन्धर ने अपनी ही स्तुति की, सम्बन्धर ने ऐश्वर्य के लिए मेरी स्तुति की, परन्तु मेरे अप्पर ने स्वयं मेरी स्तुति की ।' इन्हीं अप्पर का पन् है, जिसमें स्पष्ट होता है कि परमात्मा मूलतः अज्ञेय,

^१ हरास का पृ १७ टिप्पणी १ में उल्लिखित लेख ।

^२ प० सी० बोके कम्परेटिव रिजिजन, अध्याय-११, पृष्ठ-२० ।

अनाकल्पनीय है। कवल वह अपनी कृपा से चाह तो 'शक्तिपात' करता है। यह गीत दक्षिण अरकाट जिने के अधिहार्ई वीरत्तानम के दुवस्थान् मे मन्त्रधित ह लक्ष्मीपति विष्णु ने ओर चतुर्मुख ब्रह्मा ने सब ऊँचाइयों ओर गहराईयों ग्योजी, पर तु तेरे चरण वे न देख सके। फिर भी जो एकमेव स्वामी, जो अधिभाई स रहते हा, तुम निराकार हो, अपनी कृपा से, उसे देखने की शक्ति मुझ दा'।^१

और अप्पर का म्म जोर पद हे—'मने उमे खोजा और पा लिया। ब्रह्म-यर्थ ऊँच पर ग्योजता रहा। विष्णु-यर्थ वरती के नीचे पैठता रहा। मने तो उम अपनी आत्मा के-दर पा लिया'।^२ 'मुझका वहाँ दृढ़ता म मे तो तेरे पाम मे' हा यह इस्त्री सू ६४० के करीब का द्राविड सूत्र हे। दक्षिण भारत में 'लिङ्गाग्रमूर्ति' पायी जाती है, प्राय सभी शय मन्दिरों म, ओर उनसे द्राविड और गार्थ नैवताओ का अन्तर समझा जा सकता हे। इस मूर्ति मे मध्यभाग में म्म प्रचण्ड शिव के रूप म स्वय शिव दर्शन डेते ह। दर्शन लेते हैं ब्रह्मा ओर विष्णु, जो इस ओर उराह के रूप म दिखाय जाते ह। शिव का यह उराह रूप म्म म्म का या म भी यक्त ह, जहाँ म्ती शिकार पर जाती ह ओर शिव की त्रिरात रूप म भड होती हे। वस्तुत शिव की अष्टमूर्तिया से ही म्म म्म के अष्टाप्रतार म, जिन्म उराह एक ह। कश्जारी फिलिप म्म अपनी पुस्तक 'हिम्स आफ तमिल' का म्म सदस्' की म्मिका के अन्त मे तमिलनाड की शिव त्रिपयक चार लोककथाय दा हे। इम

१ मूल तमिल पद की प्रथम पक्ति इस प्रकार हे —

तिश्विनाळ कोलुननारुदिशैमुहमुडैयैक कोषुम्
इरुवकमेल्लु दुम् वील दम्भिणैयळिकाणमाहार।

(हिम्म आफ तमिल नैवादत से ट्म किण्जवरी-फिलिप्स १९२१, पृष्ठ-३९)

२ मूल तमिल पद की प्रथम पक्ति इस प्रकार हे —

गोरुवनेयैम्पिरानैयुनरिक्कुप्पादन्काणपान्
अरुवनेचरुवण्डुमदिकैवीरट्टनारे

(वही, पृष्ठ-५५)

से मरुम वन क जाद नालकठ क हलाहल प्राशन का तथा रात्रण क कौलाश विजय क अहकार म शिव क अंगूठ द्वारा कुचलने पर क्षमा माँगने की कथाएँ उत्तर भारत म भी प्रचलित हैं, परन्तु अन्य दो कथाएँ बहुत अर्थपूर्ण हे, ओर उनका सम्बन्ध आगे भी आयेगा, इयलिये यहाँ दे रहा हँ ।

१ ब्रह्मा और विष्णु न एक वार एक पेला अग्नि का स्तम्भ देखा जो पृथ्वी क मूल म से उगता जा रहा था और जो सप्तस्वर्गों से भी ऊपर चला गया था । व बहुत उस्सुक हुए कि इसक तल और शीर्ष दोनों छोरा का पना चलाय । यह तय हुआ कि ब्रह्मा हम वनकर ऊपर उडता हुआ इस गम्भे के सिरे पर पहुँचे ओर विष्णु एक वराह जनकर उम्क मूल तक जमीन रोदता जाए । हम ऊपर उडता गया, उडता गया पर कभी वहाँ तक नहीं पहुँचा । वराह अपने दाँता से जमीन रोदता चला गया पर उमने इस स्तम्भ का मूल नहा पाया । ब्रह्मा ओर विष्णु को अपनी मर्यादाएँ स्वाकार करना पड़ी और उहाँन स्तम्भ की पूजा का । तय उसम से शिव निकले । शिव ने स्तम्भ का रूप ग्रहण कर लिया । उड से उडे लोग ओर धीमान् मे धीमान् लोग भी रोजने से परमात्मा को नहीं पा सकते । परन्तु जो विनम्र हैं, उ हे गह स्वय दर्शन देता है ।

इस कहानी में धीमानां का प्रतीक हस ओर श्रीमानों का प्रतीक शूकर था वराह बहुत अर्थपूर्ण हे ।

२ दूसरी कथा यों हे कि तीन असुर या अमानवी प्राणी थे । उ होंने नपस्या के बल से शिव से तीन दुर्ग पाय—एक मोने का, एक चादी का, एक लोह का । इन दुर्गों की यह विशेषता थी कि ये जय चाहे तय उड सकते थे अत व मनमाने ग्राम नगर पर जाकर जम जाते, जिससे कई जीवों का सहार होता । कुछ समय बाद असुर बड़े अहकारी हो गये और शिव को भूल गये । उहाँ दड देने के विचार से शिव एक ऐसे रथ पर आरूढ हुआ

१ ब्रह्मा, भूमिका, पृष्ठ-७ ।

२ म जेमन मानसयात्रा, नेमनि सारा दिवसरात्री, एकदि नमस्कारे प्रभु एकदि नमस्कारे (गीताजलि—रत्नी द्रनाय) ।

जिपके सूर्य चन्द्र व चक्र आर प्रथमा यी आसन । ब्रह्मा या सारथी, चार उद
थ प्रोडे, मेरु पर्वत धनुष या, आन्ध्रिष उसकी ज्या या प्रत्येचा या आर विष्णु
याग या । यह सय तयारी नेत्रकर नेत्रता फलकर कुप्पा हो गये कि शिव
अपने शत्रुआ को उनके पिना नहाँ जीत सकता । इस पर शिव ने कजल एक
अद्वहास किया और तीना दुर्ग एक क्षण में भस्मस्वात् हो गय ।

इम शिव क ही नटराज आर अर्द्धनारीनटेश्वर जैसे रूप ह । सन राजाओं
की रामपाल गजधानी के प्राचीन शहर के आसपास क एक देहात का
नटेश्वर कहते ह । इसम एक बडे दवालय क भग्नावशेष हे । टिपरा जिले क
ग्राह्यण बरिया विभाग म एक गांव का नाम नटयार हे । यहाँ १०० वर्ष
पुरानी नटराज की मूर्ति मिली ह । मत्स्यपुराण (अयाय २३९) म भी
नृ यज्ञयी शिवमूर्ति का वर्णन ह । उत्तर भारत का शिवमूर्ति क परों क नीच
बैल होता ह । दक्षिण भारत की मूर्तिया मे अपस्मार नामक राक्षस । कुछ
मूर्तियों मे बल पीछे भी पाया गया हे । जैसे उदामी की पहली गुफा के मुख
के पास । इम नटराज को कहीं चार, कहीं दस, कहीं बारह आर कहीं सोलह
हाथ हात हैं ।'

शिवशक्ति की एकरुत्र ओर स्वतंत्र उपासना का शाक्त तंत्रों में बडा
प्रिस्तुत विधान हे । विष्णुकान्त, रथक्रान्त, अश्वक्रान्त तीन भूखंडों में से प्रत्येक म
६४ तन्त्र प्रचलित थे-उनमें शाक्त, शैव, वैष्णव, सौर, गाणपत्य ओर बौद्ध भा
थे । वेदातियों की माया और शाक्तों की शक्ति एक सी है । केवल वेदाती
उमे आवरण मानते हैं, शाक्त उसे प्रमुख और यथार्थ मानते हैं । शाक्तों के
अनुसार यह शिवशक्ति ही परमतत्त्व हे । सत्य तो अद्वैत, सच्चिदानन्द है ।
वह निर्गुण इस अर्थ म हे कि उसमे कोई रूपभेद नहीं है । उससे अपर
कोई, कुछ कहीं नहीं हे । वही हे । शाक्त अद्वैतवादी थे । शक्ति क दो रूप वे
मानते हैं विद्या या चित्, प्रकाश, अविद्या या माया या विमर्श । यह माया
विश्वमयी होकर भी विश्वोत्तीर्ण हे । यह विश्वमाया शिव जैसे पाच प्रेतों पर
बेगी, मणिद्वीप के कल्पद्रुमों के कुजों म रहती है । इस मणिद्वीप की सुवर्ण-

विस्तारों को अमृत की तरह धोती रहती हैं।^१ इस विषय में और विस्तार से चर्चा आगे नाटिक प्रभाव प्रसंग में होगा।

उत्तर बाङ्ग और उत्तर राज सतों में भी काफी साम्य होने लगा था। इस बात का पता हम अर्द्ध पारानटश्वर की मूर्तियाँ तथा अवलोकितेश्वर की मूर्तियों का अध्ययन से चलता है। इसी सम्प्रदाय में 'आदिबुद्ध' कल्पना का भी विचार कर लेना अनुचित न होगा। ए० सी० टाकट ने अपने 'कम्परेटिव रिलिजियन' में विभिन्न देशों का विभिन्न देवता मूर्तियाँ की पुरुष या नारी रूप प्रतिष्ठा का एक विवरण दिया है, वह अर्द्धनारीश्वर के अध्ययन के पूर्व हम देख लें

पु—पुरुष, ना—नारी

देश	सूर्य	देवदूत चंद्र	साम्य या नियति	पृथ्वी	प्रजा मद्य	मृत्यु पाताल	प्रकाश कृषि	शिवार
चीन			पु	पु	ना	पु	पु	
इंग्लैंड	पु				ना	पु, ना	पु	
मिस्र	पु, ना	पु	ना	ना		पु		
यूनान	पु	पु	ना	ना	ना	पु, ना		
जापान	ना		पु	पु	ना		पु	पु
रोम		पु						पु
सुमरिया	पु	पु	ना	ना	पु, ना	ना	पु	पु
सीरिया						पु		
ईरान पूर्व	पु			ना				
जर्मन								
जातियाँ	पु		ना	ना	ना	ना		
भारत	पु	पु	पु	ना		पु		

१ दि शान्त न न लेपक गी० एम० पी० महादेवन, प्रबुद्ध भारत, जनवरी १९१३, पृष्ठ-४०।

देश	पर्यय या जल	अग्नि	युद्ध	द्या	आकाश	उसन्त
चीन					पु	
इंग्लैंड			पु, ना			
मिस्र			पु		पु	
यूनान			पु		पु	
जापान		पु	पु			
रोम			पु			
सुमेरिया		पु, ना	पु			
सिरिया						
ईरान पूर्व		पु		पु		
जर्मन जातियो		पु			पु	
भारत	पु	पु	पु	पु	पु	

देश	मरुत	अक्षा	नदी	उषा	सत्य	देव	नाग कर्ता	सुर्य दाता	कला काशल	दुष्टता या पाप
चीन						पु				
इंग्लैंड			ना						पु	
मिस्र			पु, ना		ना	पु	पु			
यूनान				ना						
जापान										
रोम										
सुमेरिया		पु						पु		
सिरिया										पु
ईरान पूर्व										पु
जर्मन जातियो	पु	पु							पु	पु
भारत	पु		ना			पु, पु, ना	पु	पु	पु	३

देश	समुद्र सर्जन	समुद्र	स्रष्टा	प्रेम या काम	सहोदर बुद्धि	मन या उप चार	प्रसूति में मृत माता
चीन			पु				
हॉलैंड	पु	पु			पु		
मिस्र							
यूनान							
जापान							
रोम							
सुमेरिया	पु	पु		पु		पु	
सीरिया			पु				
ईरान पूर्व			पु				
जर्मन जातियाँ	पु	पु					
भारत	पु		पु	पु		पु, ना	ना

इम मानचित्र में जोकेट में भारत के कई खाने छोड़ दिये हैं। वे इस प्रकार हैं चंद्रमा (पु), नियति (ना), प्रजादात्री-प्रजापति (पु, ना), यम (पु), प्रवास-कृपि-मृगया का कोई विशेष देवता नहीं है, वसन्त (पु), नदी (ना), सत्य (पु), सागर (पु), सहोदर अश्विनीकुमार (पु), तथा उपचार का एक देवताविशेष नहीं है, यद्यपि व-व-नरि अश्विनी कुमार आदि को मानते हैं।

महाराष्ट्र-ज्ञानकोशकार ने अर्द्धनारीश्वर की मूर्तियों के विषय में सविवरण लिखा है—'अर्द्धनारीश्वर की मूर्तिकल्पना कबल भारत में है, ग्रीस, रोम, पेरू आदि विदेशों में नहीं। शैव मत जहाँ अधिक प्रचल था उस दक्षिण में उमा महेश्वर की ऐसी प्रतिमाएँ अधिक मिलती हैं। मत्स्यपुराण म २६०वे अध्याय म अर्द्धनारीश्वर का रूप वर्णित किया है।'

इसी म वाद में अवलोकितेश्वर और आदिबुद्ध की कल्पनाएँ मिल गयीं। दार्शनिक परम्पराओं में सामाजिक विश्वास मिलते गये।

अध्याय ३

निर्गुण सन्त-काव्य का वैज्ञानिक और शास्त्रीय अध्ययन आवश्यक

निर्गुण सन्त काव्य का वैज्ञानिक अध्ययन पहले परिभाषा से आरम्भ करें। 'निर्गुण' शब्द की चर्चा स्वयं सन्तों के शब्दों में आगे के विवेचन में होगी। यहाँ उस मत पद्धति के मूल की दार्शनिक विचारधाराओं का ऐतिहासिक सूत्र प्रस्तुत किया जायगा। परन्तु उससे भी पहले 'सन्त' शब्द का अर्थ ले। 'सन्त' शब्द का प्रयोग कालिदास^१ या भर्तृहरि^२ जैसे कवियों ने ऐसे सज्जन के अर्थ में किया है, जो कि 'पानी पीना छान कर, गुरु करना पहचान कर' की तरह ठोंक उजाकर सत्य ग्रहण करता है या कि जो परहितरत रहता है। परशुराम चतुर्वेदी^३ के अनुसार 'सन्त' का यह एक रूप है। पाहुडदाहा के 'सन्तु गिरजणु सोजि सिउ तहि किजउ अणुराउ' और तुलसी के उत्तरकांड से 'जानहु सन्त अनन्त समाना', गरीबदास के 'साईं सरीसे सन्त हैं या म मीन न मेख' और पल्लूसाहब के 'सन्त और राम को एक के जानिये दूसरा भेद ना तनिक जानै' आदि के साक्ष्य साथ में उन्होंने प्रस्तुत किये हैं। परन्तु यहाँ हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं के सन्तों का एकत्र विचार होने से दोनों भाषाओं में इस शब्द के प्रयोग में जो भिन्नता है, वह ध्यान में रखनी होगी। हिन्दी में कबीर आदि सिद्ध योगियों-नायपयियों से प्रभावित निर्गुणियों को सन्त कहा गया है^४, जब कि मराठी में भक्त भी इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं। प्रो० रानडे ने तो यहाँ

१ सन्त परीक्षा अंतरद्भज ते मूढ परप्रत्ययनेयबुद्धि ।

२ सन्त स्वयं परहिते विहिताभियोगा ।

३ उत्तरभारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ ९ ।

४ हिन्दी साहित्य की भूमिका, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, अध्याय ३, पृष्ठ ३०-३१ ।

तक कहा कि 'निष्ठल संप्रदाय म स त एक परिभाषित श द हे जो कि वास्करा संप्रदाय क अनुयायियों क लिय ही प्रयुक्त होता था।' अपने लेख 'मराठी व हिन्दी सत' म भा कृ पारधी' ने 'हि दांचा पक्तिगपच' (हि ङी का पक्ति भद) म जो कहा ह यह यहाँ 'सत' श-द के विषय म महाराष्ट्रीय दृष्टि का महा द्योतन करता ह । वह अश इत्य गकार ङ —

'मराठी सत परम्परा चक्रधर ज्ञानेश्वर से यानी तरहवा रानी से शुरू होती है, ता हिन्दी सत परम्परा कबीर से याना कबीर मी जर्ष बाद शुरू होता है। भक्ति संप्रदाय की लहर पहले दक्षिण से उठी और धीरे धीरे उत्तरभारत म फेड़ता गइ, इस बात के लिये पयास आधार हे, और समीक्षकों म ह्य प्रकार का एक मत प्रचलित भी हे। डा० पीताम्बरराज बड़वाल का भी यही मत हे। डा० बड़वाल का मत ह कि हिन्दी सत परम्परा का उत्स रामानन्द म हे और रामानन्द रामानुज मध्व निजार्क आदि दक्षिणात्य आचार्यों की दार्शनिक परम्परा म थे। उस समय का ऐतिह्य भी इसी मत का समर्थक हे। पहल तमिल और कन्नड सतपरम्परा शुरू हुई। उसके बाद महाराष्ट्र म, और उसके बाद उत्तरभारत म यह परम्परा चली। कबीर के जन्म से पहल ज्ञानेश्वर आदि सत धारा की यात्रा कर चुक थ। नामदेव का और भी उत्तर म बोलना हो चुका था। पर तु यह मत ग्री परशुराम चतुर्वेद मही मानते। उनक अनुसार उत्तरभारत की सत परम्परा स्वतन्त्र ह और दक्षिणात्य सत परम्परा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, त्रिदक्षिणात्यों से वह प्रभावित भी नहा ह। भिन्न भिन्न युग म विशिष्ट विचारों की तरग उठती हे और व देश मयादाएँ लॉन्गर फैलती जाती ह, अलग-अलग स्थानों म उनसे झरने फूटते ह, ऐसी भा एक मान्यता हे। भक्ति संप्रदाय एक विशिष्ट युग म उठी हुई तरग ह और उसकी कल्पना भिन्न भिन्न प्रदेशों म स्फुरित हुई और उसकी समान अभिव्यजना हुई ऐसा भी कह सकत हे। किसन किससे कितना ऋण ग्रहण किया यह स्वीकार करने म किसी को भी हीनता की भावना नहा होनी चाहिये।'

‘परन्तु सत ज्ञान, दम्य और स हिंदी म कुछ विचारों की अस्पष्टता है। श्री चतुर्वेदी ने अपने ग्रंथ ‘उत्तरभारत की सत परम्परा’ में सत शब्द की उत्पत्ति और व्याख्या दूसरे सतों के लक्षण बताय है, परन्तु वे जमसा ध्यानकारक हैं। उनका अपेक्षा नर फाटक के ‘ज्ञानेश्वर वाङ्मय आणि काय’ ग्रंथ में दी हुई व्याख्या अधिक समाचीन है। भक्ति मार्ग, आध्यात्मिक जीवन धारणा और लोकजीवन के प्रति लगन यह ताना वाला सतपन के लिये आवश्यक है। यह कम से कम मराठा सतों में दिखाई देता है और यह ताना बात प्राचीन चक्रपर से आधुनिक तुफडोजी तक सब सतों के लिये सही है। हिंदा में यह बात नहीं है। हिंदा में सत केवल निगुणिय मान जाते हैं। सत, सूफी और भक्त यह तान भिन्न भिन्न भेद एक ही भक्ति संप्रदाय के हिंदा में मान है। इस कारण हिंदा सतों के तार में जो ग्रंथ लिखे गये हैं उनमें पूजा का पक्षवाह के बखर फरकर उत्तर में बफना धारण किये हुये शामराव पक्षवा उर्फ तुलसी साहब का बड़ा स्थान मिलता है। परन्तु गये चार सों वर्षों तक हिंदाभावियों के लोकजीवन में अग्लान भाव से परिमलिन हावावाल रामचरितमानसकार को सत नहीं कहते। मीरा, सूरदास आदि भक्तों का भी सतों के इस मल में स्थान नहीं है। इन भक्तों का सत न कहना मराठी मन का विचित्र जान पड़ता है। परन्तु यह पक्तिभेद हिंदा में बराबर चलता है। डॉ० बङ्गाल, हजारिप्रसाद द्विवेदी, राहुल साह्यत्यायन आदि शायकताओं को भी यह ‘पक्तिभेद’ मान्य है।’

इस लेख में आगे चलकर निर्गुण सगुण भेद पर विस्तार से कहा है। श्री पारधी के मत से ‘सत’ शब्द अधिक व्यापक है और उनमें भक्त भा आते हैं, यह बताया गया है। परन्तु हमारे मत से हिन्दी में कुछ यह शब्द भेद अधिक स्मार्थक है क्योंकि छुड्डाद्वैतवादी और भगवत्पथियों में यह भेद अर्थपूर्ण है। महाराष्ट्र में चूंकि ऐसा स्पष्ट भेद नहीं था, सत शब्द का उपयोग सबके लिये एक सा किया जाता है। नर फाटक के जिस ‘मत’ विषयक विवेचन की ऊपर चर्चा है, वह इस प्रकार है — ‘सत’ शब्द ‘सत्’ से हुआ यह सहज ध्यान में आ सकता है। सत यानी जो कुछ

अस्तित्व म हे । उसके मूलार्थ की वामे धीमे जागे अनेक शावार्ण हुई । भगवद्गोता के १७वें अध्याय म 'उ० तत्त्वत्' शब्द म 'सत्' का अर्थ स्पष्ट करते हुए सन्नाय (विद्यमान होना), साधुभाव, प्रशस्त कर्म, उसी प्रकार—

यन्ने तपसि दाने च स्थिति सदिति चोच्यते ।

कर्म चैव तदर्थाय सदित्यवाभिधीयते ॥ २७ ॥

यज्ञ, दान, जप करते रहने को 'सत्' कहते हैं । उसके लिये किये जानेवाले कर्म के लिये भी 'सत्' शब्द प्रयुक्त करते हैं । 'ब्रह्म' है 'सत् कारण' । उसके अस्तित्व में कोई बाधा नहीं होती । उसी प्रकार 'सत्' (होना) इस शब्द का मूल अर्थ ने प्राचीन वाङ्मय में ठेठ 'ब्रह्म' से अपना नाता जोड़ा । इतना ही नहीं, 'सत्य' के 'सच्चा' और 'टिकनेवाला' जैसे अनेक पर्याय ध्यान में लेने से 'सत्' शब्द का एक अर्थ अच्छा, भला भी होता है । 'सत्' शब्द 'सत्' के बहुवचन रूप में मराठी में श्रेष्ठ पुरुषों के अर्थ में रूढ है । संस्कृत में प्रायः 'सत्' बहुवचन म प्रयुक्त है, अतः यह 'सत्' मराठी में बना ।

'सत्' का स्वरूप और कार्य समझने के लिये उसका स्पष्टीकरण आवश्यक है, क्योंकि 'सत्' का अवतार 'सत्' अनेकों की प्रतिकूल आलोचना का विषय बना हुआ है । 'सत्' शब्द से आजकल स्त्री पुत्रादि परिवार गृहस्थी छोड़कर दुनिया से विरक्त मनुष्य की कल्पना सामन आती है । जिसने दुनिया से पीठ फेर ली है, उसने म राख भली है, जटाए बढ़ा ली है ऐसे मनुष्य को सत्, साधु, वैरागी कहने की प्रथा प्रचलित है । 'सत्' की भाँति 'वैरागी' शब्द की भी काफी निन्दा की गई है । सत् के साथ 'महत्' का भी प्रयोग किया जाता है । 'महान्' (श्रेष्ठ) शब्द का संस्कृत बहुवचन 'महन्त' है और उसी शब्द से महत् बना । मूलतः इन सत् शब्दों का अर्थ अच्छा था । आजकल दुनियादारी से विरक्त मनुष्य के लिये यद्यपि ये शब्द काम में लाये जाते हैं फिर भी सत्, महत्, साधु का उपयोग जगत्कल्याणकर्ता के अर्थ में किया गया था । छान्दोग्योपनिषद् (अध्याय २ मंत्र १५) में 'साम' का वर्णन है । साम की उपासना उत्तम है, जो कुछ बुरा है वह 'असाम' माना गया है—

समस्तस्य खलु साम उपासन साधु यत्खलु साधु ।

तत्सामेत्याचक्षते । यदसाधु तदसामेति ।

इस मंत्र में बुधता, जाततायीपन, औद्धत्य के अभाव को 'साउ' माना गया है । बृहदारण्यकोपनिषद् म भी 'साधुकारी साधुर्भूति' (जो अच्छे बरतण का ह वह साधु है) कहा गया है ।

'सत' की उत्पत्ति में आगे चलकर इस विवेचन में न र फाटक ने तत्तिरीय उपनिषद् की एक उक्ति दी है —

'असन्नेव स भवति । असद् ब्रह्मेति वेद चत् ।

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेन ततो विदु ॥'

अर्थात् "जो ब्रह्म का अस्तित्व नहीं मानता, वह स्वयं के अस्तित्व के बारे में भी अमान्यता दरसाता है । परन्तु जो 'ब्रह्म ह' एसा मानता है उसके अस्तित्व के बारे में किसी को शक नहीं होती ।" शंकराचार्य ने ब्रह्म का अस्तित्व जो मानता है वह सदाचारी और जो नहीं मानता वह दुराचारी, इस प्रकार से इय सृक्ति का भाष्य किया है ।

महाभारत में सत शब्द अनेक बार आया है । वन पर्व में सावित्री जन्म का पीछ जा रही थी, तब उसने बार बार कहा है कि अच्छे लोग धर्म को श्रेष्ठ मानते हैं—'तस्मात्सतो धर्ममाहु प्रधानम्' और सत्यपुरुष सब के प्रति अद्रोह और मत्री का भाव रखते हैं—'सतस्त्वेवाप्यमित्रेषु दया प्राप्तेषु कुर्वत' । इसी प्रसंग में सावित्री ने कहा है कि 'मनुष्य को अपना जितना विश्वास नहीं होता, उतना सता का होता है । इस कारण सभी सतों का प्रस की काक्षा रखते हैं । सत कभी किसी से द्वेष नहा करते, इसलिये उन पर विश्वास होता है । सूर्य का गति, पृथ्वी की स्थिरता, गतकाल और भविष्यकाल आदि की व्यवस्थादि घटनाएँ सत महिमा से होती हैं ।'

'वनपर्व' के अंत में यज्ञ के प्रश्न 'का दिक् ?' (दिशा कौन सी है ?) का उत्तर में 'सतो दिक्' (सत ही दिशा है) कहा गया है । सत जनता के सब्बे मार्गदर्शक हैं, सतों का व्यवहार ही लोकहित की दिशा है यह सकेत यहाँ स्पष्ट है । योगशास्त्र में जीवन्मुक्त, साउ, पांडित, शिष्ट, प्राज्ञ, बुद्ध आदि अनेक शब्दों से सतों का वर्णन मिलता है । निवाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में १८वा अध्याय साधुवर्णनपरक है । उसमें कहा गया है—'जो विवेकी विरक्त होते हैं, उनके लोभ मोहादि शत्रु अल्पत्व को प्राप्त होने हैं ।

उ इष्टप्राप्ति से दृष्ट नहा होते। विषयसमूहों का समग्रह गहा करने। लोगों क कारण, उद्विग्न गही हात और स्वयं क्रिया को उद्विग्न गही करते। उ कर्मण्य गही होते। उनके स-आचार रमणीय और सुगन्ध होते हैं। वे सत्ता अत्यंत प्रिय और मोक्ष भाषण करते हैं वे मानो सत्ता क चतुर गायन होते ह। शास्त्रों का उ ह उड़ा प्रेम होता हे। लोगों क उच्च नीच भाव-व्यक्त गायन व्याज्य को वे गही सही अर्थ म ग्रहण करते ह। जनता क पाप का उपशमन करनेवा व जनता को अपने गुणों से बशीभूत करत ह। और —

भूषणभगकर धीरा देशभगवमाकुलम ।

रोप्य त्यागत क्षोभ भूषणसिध पर्वता ॥

अर्थात् राजा का देशघातक क्षोभ, अकाल, परचक्र, जनक्षोभ इत्यादि का व वम ही निवारण करते हैं जैसे पर्वत भूकंप का। विपत्ति म उल्साह और सपत्ति म सुख देनेवाले होते हैं।

‘सत्’ को जो सर्वपरापरित्यागी और आत्मसुख म तल्लीन समझते हैं, उ ह योगशास्त्रि का यह अवतरण श्रद्धा देनेवाला हे।

अमरकोश म ‘सत्’ के २१ अर्थ स्थि हे।^१ हेमचन्द्र म २४।^२ उन अर्था क न-यावान् का अर्थ हे जिसका ज्ञान (रयान) सम्यक ह। ‘ऋष्टि’ का अर्थ हे विपत्ति और ‘ल-धर्षण’ का प्रसिद्ध। अमर म य सत्ता अर्थ गृहणार्थ म शरते हैं तो हेमचन्द्र वे ‘सत्य’ वर्ग में। शंकराचार्य क अनुसार ‘ज्ञात वृत्ति क और उदार अत करण क सत्ता, प्रसन्न ऋतु की भौति लोकान्ति करते हे।^३ तात्पर्य यह कि बुद्धि, विद्वत्ता, विपुणता, विवर्ण, प्रत्याप्ति, दूरदक्षिणा, उद्योग, चातुर्य,

१ विद्वान् विपश्चित् शोषश्च, सत्त सुधी कोविदो बुध ।

धीरो मनीषी च प्राज्ञ सत्तयान् पण्डित कवि ॥

धीमान् सूरि कृती कृष्टिलब्धवर्णो विचक्षण ।

दूरदर्शी दीर्घदर्शी ' ॥

२ विद्वान् सुधी कविशिक्षणलभवर्णा च प्राप्त्युपकृतिः कृष्टवभिरूपधीरा ।

मेधाविकोविदविशारदसूरिदोषश्च प्राज्ञपण्डितमनीषिव्युवप्रबुद्धा ॥

३ ज्ञाता महान्तो निवसन्ति सतो वसन्तवञ्छोकहित चरन्त ।

नसरो के गुण ग्रहण करने की वृत्ति आदि गुण गताम पाये जाते हैं। महाराष्ट्र में यह पद जागधर, रामदेव, पद्मनाथ, तुकाराम, रामनाथ इन पाँच, कल्पिये ही प्रयुक्त हुआ। प्रस्तुत त्रिवचन में हरा पहले तीन से ही प्रयोजन है।

इन सतों में 'वराग्य' की भावना अत्रिक क्या बती, 'समचित्त' और 'मुक्त' पुर्यां में यह यतीपन क्या आया इसक लिये विवेच्य 'राल' से पूर्व की नार्शनिक विचार परंपरा का सखिस रखाचित्र उपरिात करना आवश्यक है। ज० एन० फरफुहरा 'एन आउटलाइन आफ दि रिलिजस लिटरचर्म आफ इंडिया' में इयका उवा ही सूक्ष्म त्रिवचन किया है। उसक प्र. र. क पाँच. और छठ अध्यायों के आधार पर नीचे एक तुटनात्मक दृष्टिकोण नक्शे के रूप में हम प्रस्तुत करते हैं —

५५० ईस्वी से ९०० ईस्वी

९०० ईस्वी से १२५० ईस्वी

१ दार्शनिक मत कर्ममीमासा

१ गुरु प्रभाकर और कुमारिल भट्ट के शास्त्रभाष्य मिलते हैं, जो परस्पर विरोधी हैं। कुमारिल इना की आठवीं शताब्दी के प्रथम भाग में था, उसने श्लोकातिक, तत्रातिक और टाका लिखी है। प्रभाकर की बातों का शालिकानाथ ने और कुमारिल की बातों का मडनमिश्र सुश्वराचार्य ने समर्थन किया। प्रभाकर और कुमारिल दोनों ही इश्वर की आवश्यकता नहीं मानते। जगत् को यथार्थ मानते हैं। परंतु दोनों के आत्माविषयक मताम और निगमन तथा प्रमाण संप्रधी बातों में अंतर है। कुमारिल बौद्धों का घोर खंडन करता था। कुमारिल के समय वैदिक यज्ञ विधि क्षीण से क्षीणतर होती जा रही थी। दोनों के मत में पहली बार 'मुक्ति'

१ इस काल में मामासामत लुप्तप्राय हो गया था। केवल मिलते हैं १३०० ईस्वी में पादभारति मिश्र। इनका त्रिवचन का निश्चय नहीं है परन्तु उाका शास्त्रदीपिका का उल्लेख माधवाचार्य के न्यायशास्त्राविस्तार में मिलता है। इसे १८९८ में यत्तारम से प्रकाशित मीमासाश्लोकवातिक की भूमिका में राममित्राचार्य ने कहा है। यह कुमारिल के चले थे। प्रबोध चंद्रोदय (१०६५ ईस्वी) में इय मत का उल्लेख है। बहुत से इश्वरवादी मतों ने कर्म और (वेदान्ती) ज्ञान मार्ग को एक साथ माना, जैसे भागवत, श्रावैष्णव, साय तथा विष्णु स्वामियों ने किया और इस प्रकार कर्ममीमासा को पूर्णतः आत्मसान् कर लिया। आगे चलकर उसका

शास्त्र का प्रयोग मिलता है और वह धर्म तथा अधर्म दोनों मामलों से पाई जा सकती है ऐसा भी कहा गया है।

सूत्र सायण, खड्ग, अप्य दीक्षित आदि में मिलता है—यहाँ तक कि वेदान्त देशिकने अपनी 'शेखरमांसा' में कुमारिल ने ईश्वर का अस्तित्व मान्य किया था यहाँ तक अर्थ निकाला है।

२ वेदान्त

२ नीवी शती के प्रथमार्द्ध में शंकराचार्य हुए। शंकराचार्य के गुरु गौडपाद की माह्वक्यकारिका इतनी महत्वपूर्ण है कि ख्यूसैने उसकी तुलना पारमेनाइडीस से की है। शंकर के पूर्व प्रोधायन, टकर और द्राविड़ के भाष्य भी कहे गये हैं। शंकर और गौडपाद के मत का महायान बौद्धमत से इतना मान्य था कि शंकर को 'बुद्ध' बौद्ध कहा गया। वैलेमेर तथा कीथ के अनुसार वेदांत का मायावाला यह दोहरा सत्य उपनिषदों में नहीं मिलता, पर शायन बौद्ध दर्शन से लिया गया। वनांत त सूत्रों में कहीं 'माया' नहीं है। श्वताश्वतर उपनिषद् में 'माया' का आभास है, परन्तु महायान प्रभाव भी अवश्य रहा होगा। शंकर भाष्य का मूल तत्त्व यद्यपि पुरान कर्म कांड के विरोध में एक नया मत प्रस्थापित करना था, फिर भी सूत्रों में स्थान स्थान पर पुराणों से स्फूर्तिग्रहण, देवताओं का उल्लेख, ऋषियों को देव दर्शन मिलाना, देवताभा का यज्ञ का भाग ग्रहण करना आदि उल्लेख है।

२ भास्कराचार्य ने वेदान्त सूत्रों का भाष्य लिखा जिसमें अद्वैत की अपेक्षा भेदाभेद का समर्थन है। श्रीरा का यह मानना कि रामानुज का श्रीभाष्य ही सबसे पहला भाष्य था, गलत है। भास्कर शंकर का कहीं नाम नहीं लेते पर तु उनका खडन करते हैं। जाद म उद्ययन ने अपनी 'कुसुमाजलि' में उस पर प्रत्याक्रमण किया है। उसने पाचरात्र वैष्णवों का भी आलोचना की है। काज वरम् के यादवप्रकाश ने १०५० ईस्वी में एक भाष्य लिखा था। जाद म उसके शिष्य रामानुज का वह सत्य चेला बन गया। वाचस्पति की भामती के आधार पर वेदांत सूत्रों का अध्ययन चलता रहा, जैसे जमलानन्द के १२६० में लिखे 'वेदांत कल्पतरु' से स्पष्ट है। रामानुज का श्रीभाष्य, मध्व का सूत्रभाष्य, विष्णुस्वामी का ब्रह्म-सूत्रभाष्य और श्रीनिवास का वेदांत कोस्तुभ—यह सब वेदान्त की ईश्वर वादी संप्रदाय बनाने पर तुले थे। श्रीहर्ष का 'खडनखडखाद्य' भी इसी

अस्थानत्रयी म उपनिषद् श्रुति है तो काल की रचना है। महाचार्य ने उदान्त भाष्य और गीता स्मृति। दशोपनिषद् पर टीका लिखी। उदान्त को माननेवाले दशनाम्नी सख्याली उने जिनके नाम ह १ तार्ज २ आश्रम ३ सरस्वती ४ भारती, ५ वन, ६ अरण्य, ७ पार्वत, ८ सागर, ९ गिरि, १० पुरी। पहले तान ग्राहण ये।

३ साख्य

३ साख्य कारिका का मडन वसुप्रभु ने किया। छठी शती स इसका चीनी अनुवाद किया गया। गोडपाठ ने साख्यकारिका भाष्य लिखा, पर तु यह शकर के परम गुरु से भिन्न रहा होगा। १२० म वाचस्पति ने 'साख्यतत्त्व क्रोमुदी' लिखी, जो कि साख्यमत का प्रधान मूलग्रंथ कहा गया है।

२ कोइ टीका नहा जोर कोइ मत परिवर्तन नहा। १०३० ईस्वी क यात्री अल्फेरुती ने इस पद्धति का उल्लेख किया है।

४ योग

४ योगसूत्र पर भी एक भाष्य लिखा गया जोर वाचस्पति ने तत्त्व वैशारदा टीका लिखी (८५० ईस्वी)। योग की परिणति तत्र, आगम जोर सहिताओं स हुइ।

४ इस मत स भी कोई विशेष परिवर्तन नहा हुआ। धार के राजा भोज (१०११-६० ईस्वी) की योग सूत्र की एक टीका राजमार्तण्ड मिलती है। उसका कोई विशेष मूल्य नहीं है। गोरक्षनाथ के नये योग का पातञ्जलयोग में कोई प्रवेश नहा हुआ।

५ वैशेषिक

५ केवल प्रशस्तपाद ६०० ईस्वी में हुए। जानन्व इ के मूल दश पदार्थ तो नहीं मिलते परंतु युजानन्वाग का

५ उद्यन की किरणापली दसवा शती में मिलनी है। यह प्रशस्तपाद ही टीका है। ९८४ ई० का श्रीवर का

चान्नी अनुवाद मिलता है। प्रशस्तपाद
त इस दर्शन को आस्तिक बनाया।

लक्षणावली ग्रन्थ मिलता है। गीधर
की "यायकुडली टीका भी मिलता है
जा प्राय १९११ म लिखी गयी।

६ न्याय

६ उद्योतकी यायवातिक (६२०
इ०) और वाचस्पति की न्याय वार्तिक
ता पर्यटीका (१४० ई०) मिलती है।
अत इस दर्शन का पाशुपन मत से
सम्बन्ध हुआ और प्रमाणों में 'यासि'
भी आह।

६ उद्ययन ने न्याय भाष्य भी
लिखा है। उसका नाम है 'न्याय
वार्तिक तात्पर्य परिशुद्धि'। 'कुसुमाजलि'
म उन्मा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध
किया है। ११वीं शती क बाद याय
वैशेषिक प्र-धारा हो गये। शिवादिभ्य
का 'सप्तपदार्थनिरूपण' इसका प्रमाण
है। उत्तरबोद्ध 'याय विक्रमशिला में
पापा। पर उनका अन्तिम दार्शनिक
या शकरानन्द (१०५० ई०)।
जैन 'याय सिद्धसेन विवाकर से शुरु
होकर देवसूरि (१२ वा शती) आदि
द्वारा बराबर आगे बढ़ रहा था।

पद्दर्शना की यह स्थिति थी। पर तु उधर अवा तर हि दू मत-पक्ष
रहत जा रहे थे। वैष्णव और शैव मतों का भाग अपन अपन ढङ्ग से बोलनाला
गा और ब्राह्म जन प्रभाव भी उपेक्षणीय नहीं थे। अत ही ताना का विचार
करने से ही तत्कालीन चिन्तन परम्परा का चित्र पूर्ण होगा।

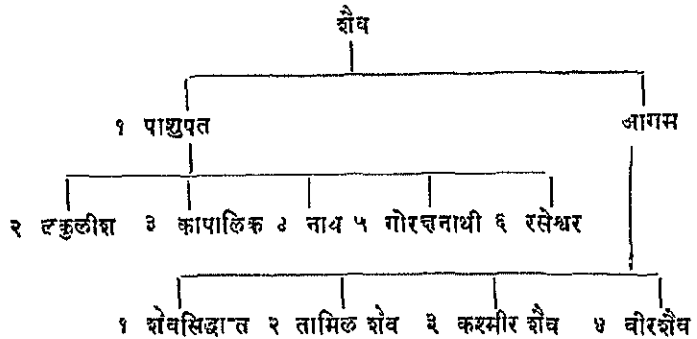
स्मार्तों म पञ्चम्व पूजा उड़ी, भागवत साहित्य म हरिचरित लिखा गया।
पांचरात्र साहित्य दसवीं सदी में कश्मीर में, ग्यारहवा सदी में तमिलनाडु में,
उत्तरकान्ता दक्षिण कणाटक म प्रचलित हुआ। पाचरात्र साहित्य जैसे तो
वैष्णव है, पर तु उगकी शवागमों से और तंत्रों से विलक्षण समानता है।
यह पांचरात्र संहिताएँ १०८ मानी जाती थीं। परन्तु उनमें सब मिलाकर ११
मूल जान पड़ती हैं। पाठभेद भी विपुल है। आदर क अनुसार पोष्कर वाराह
और ब्राह्म सबसे पुरानी हैं, तो अथर्वज्ञान के अनुसार लक्ष्मी प्राचीन है और
पञ्च प्राचीनतम है। प्रत्येक संहिता में पूजाविधि है। अगस्त्यसंहिता श्रम

पथी है तो नृसिंह दत्तात्रेय गणेश सूर्यपूजा अन्य सहितार्था ग हे । इश्वर, उपेद्र तथा बृहद्ब्राह्म को छोड़ अन्य पाचरात्र साहित्य उत्तर की उपज हे । सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह है कि योगकेषट्चक्रादि और शाक्तों के मंत्र यत्रादि यहाँ भी है । जादू टोना टोटका का बड़े विस्तार से वर्णन हे । मुद्रा, गुरु, दीक्षा आदि का महत्त्व पाचरात्रों म भी है । दीक्षा म ताप, पुष्ट, नाम, मंत्र, याग ये पाँच क्रियाएँ है । दक्षिण म जो संहिताएँ मिलती है उनका नाम वैष्णवस हे । दक्षिण म तारह^१ आठवार वषणव भगवद्भक्त और कीर्तनी हूण ह । व भगवान की मूर्ति जौला म देखते देखते तमय हो जाते, विरह से मूर्च्छित हो जाते, रात म बीमार रहने । य ज यज भी होते हे । इन आठवारों में एक आठाल भी हुई । बाद में इसी परम्परा म उत्तरभारत म भागवत पुराण, शाङ्ख्यसूत्र, नोपदेव क हरिलीला और मुक्ताफल मिलते हे । महाराष्ट्र के चारकरी मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, निंबार्क आदि का वषणवसाहित्य सुपरिचित हे । चारकरी और महानुभारत का भेद आग विस्तार मे आवगा । पाचरात्र साहित्य म तमिलनाडु के श्री वैष्णवों ने ओर बृद्धि की । श्रीरगम् का नालायिर प्रबन्धम् इसका प्रमाण हे । नाथमुनि, पुडरीकाच, राममिश्र, चामुना चार्य बाद में हुए । रामानुजाचार्य (१०५०?-११२७) की विशिष्टाईती वृत्ति और 'समुच्छ्राया' सिद्धान्त के साथ साथ सजसे बडा काम वेणव साम्प्रदाय का एकीकरण था । रामानुज ने शूद्रों को भगवद्भक्ति क अधिकार तो दिये, परन्तु उनकी सामाजिक अवस्था सुधारने का कोई यत्न नहीं किया । रामानुज ने नारे भारत की यात्रा की ओर अपना प्रभाव फलाया । १०९८ म चोल राजा कुलोत्तुग प्रथम ने वेणवों को स्वदेवना शुरू किया । रामानुज मेलकोट, मैसूर की ओर भागे और होयसाल के राजपुत्र को अपना चेला विष्णुवर्द्धन बनाया । भूतपुरी माहात्म्य और हारीनसहिता म रामानुज की जीवनी के विषय में सामग्री मिलती है । वैसे १३वीं शती म तमिल मे पिम्बळगीय पेरुमाल-जीवर ने उनकी जीवनी लिखी । रामानुज का मन्त्र 'ॐ नमो नाराय णाय' रामानन्द के 'ॐ रामाय नम ' से भिन्न हे । वैसे श्रीवैष्णव एक गुप्त मंत्र भी प्रयुक्त करते है जो द्वय कहलाता हे । वह यीग है ।

१ पोथगैयर, धुत्तु, पेयर, तिरुमलिस, शठकोपया नम्माळवार, मधुरकवि, कुलशेखर, पेरियर, आडाल, तौडरिप्पोडि, निरुप्पनार, तिरुमगद ।

मानभाव या महानुभार्या को फरकुहर वैष्णव भक्ति पन्था में से एक मानते हैं, और वीरशैव मत से उनका साम्य रामानुज के कारण मानते हैं। महानुभाव और वीरशैव ऐसे विचित्र मत थे कि महानुभावों को हिन्दू हिन्दू नहीं मानते और वीर शैव अपने आपको हिन्दू नहीं कहते। दोनों ही मूर्तिपूजा के विरोधी हैं। इनके अपने दम प्रताक होते हैं। सब साम्प्रदायिक एक साथ खाते हैं। दोनों शाकाहारी हैं। मृतकों को जलाते नहीं, दफनाते हैं, और दोनों म देवालय से अधिक स्तूपों का माहात्म्य है। हर मत के पाँच प्रतिष्ठाता (पाचक्रुण्ण) हैं। वीरशैव मानभाव से एक शती पुराने हैं। शायद वीर शैवों का प्रभाव मानभावों पर पड़ा हो। इसका त्रिवरणपूर्वक वर्णन आगे किया जायगा। मानभाव सम्प्रदाय पर वृत्तान्तपूजा का गहरा असर है जिसका विस्तार से विचार उसी पकरण में होगा। अन्य वैष्णव पन्थों में नृसिंह और रामविषयक हैं। दानों में मन्नराज का प्रयोग प्रधान है। इनमें अध्यात्म-रामायण पर आधारित राममन्त्र उदात्त है।

शैव और शाक्त दर्शनों की परम्परा का एक रेखाचित्र भी यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा। मध्ययुगीन शैवों के फरकुहर के अनुसार इस प्रकार के उपभेद हैं^१



शाश्वत मत यद्यपि इन सबका मूलाधार था फिर भी तमिलशैव और वीरशैव अपने को महेश्वर दर्शन कहलाते हैं। प्रशस्तपाद शाश्वत था और भारद्वाज उद्योतकर को भी शाश्वतार्थ कहते हैं। दोनों क्रमशः वैशेषिक तथा

^१ फरकुहर; इन आडल्लाशन आफ दि रिलिजस लिटरेचर आफ इंडिया, पृष्ठ १९०-१९१।

न्याय के भाष्यकार थे। ब्राह्मभट्ट और युवानच्याग दोनों ने पाशुपतों को अपने समय का प्रधान पन्थ माना है। शंकराचार्य ने पाशुपतों की इस आधार पर निन्दा की है कि वे उपनिषदों के मत के विरोध में ईश्वर को केवल जगत् का निमित्त कारण मानते हैं, प्रधान कारण नहीं। १३वीं शती के भाष्यकार अद्वैतानन्द ने 'ब्रह्मविद्याभरण' टीका में पाशुपतदर्शन के मूल सिद्धान्त दिये हैं। वे यों हैं — (१) कारण पति (२) कार्य पशु (३) यौगिक क्रियाएँ (४) विधि (५) दुःखान्त। उनकी विधियाँ में भस्मस्नान, भस्म में सोना, अष्टहास, नृत्य, गान तथा गाल खजाने से परमानन्द व्यक्त करना, नींद, बीमारी, लेंगवापन, प्रेमोन्माद या विचित्रि व्यक्त करना आदि हैं। उनके सूत्रग्रन्थ नहीं मिलते।

लकुलीश मत गुजरात में शुरू हुआ। भाडारकर के अनुसार पाशुपत का ही यह दूसरा नाम है। बाद में यह मैसूर से राजपूताना तक फैला। शिव के जो अवतार लिंग, कूर्म तथा वायुपुराण में 'लकुलि' कहे गये हैं, वही इनके आधार हैं। गुजरात में झारपट्टन में एक लकुलीश मूर्ति भी पायी गयी है। माधवाचार्य ने उनका उल्लेख किया है। सब चीज पाशुपतों जैसी ही हैं। केवल भस्म के बदले सिरता में स्नान वे करते हैं, यही भेद है।

कापालिक केवल योगिया का पन्थ रहा है। वे वाममार्गी शाक्तों के समान थे। सातवीं शती के मध्य में एक शिलालेख के आधार पर भाडारकर ने कहा है कि उनके देवता कपालेश्वर का उल्लेख मिलता है। मालती माधव के अघोरघट को चामुण्डा का पुजारी माना गया है। तेलुगु प्रदेश में श्रीशैल नामक शैव पीठ था। कपालकुण्डला अघोरघट की शिष्या है। वे नर घटि में भी विश्वास करते थे। कपालकुण्डला नरमुण्डा की माला पहनती है और एक भारी दह लेकर चलती है, जिसमें कई घण्टे लटक रहे हैं। कापालिकों का कोई साहित्य नहीं मिलता। बाद में १०६५ के प्रबोधचन्द्रोदय में कापालिक और कपालिनी रगमञ्ज पर लाये गये हैं, और उनकी पद्धतियों का विस्तृत, जुगुप्साप्रद वर्णन है। शाक्तों की भाँति पञ्चमकार में अतिचार कापालिकों में

नी है। रामानुज के श्रीनाथ म कायालिकों का उल्लेख यौन विषयक है। नाथपंथी तोर गोरक्षनाथिया का वर्णन आगे और विस्तार से किया जायगा।

शैवागमों में कामिक, योगज, चित्त्य करण, अजित, वीर, सूक्ष्म, सहस्र, अशुमान, सुप्रभ (सुप्रभेद) शिव, आर विजय, निश्वास, स्थायभुव, आग्नेयक, भद्र, रौरव, मकुट, धिमल, चन्द्रहास (चन्द्रज्ञान), सुप्रयुगविम्ब (सुप्रविम्ब), उदगीता (प्रोद्गीता), ललित, सिद्ध, सन्तान, नारसिंह (सर्वाक्त या सर्वोत्तर), परमश्वर, किरण, पर (वातुल) रौद्र माने गये हैं। प्रायेक आगम के साथ उपागम भी हैं, जिनकी संख्या कुल मिलाकर १९८ है। तमिल शैव सत्रसे प्राचीन मिलते हैं। तिरुमूलर इनमें सबसे प्रथम लगभग ८०० ई० में हुए। मणिकक वाचकार ने शैव शब्दावली का प्रयोग किया है। जे० सी० चटर्जी के अनुसार शिवसूत्र काश्मीर में वसुगुप्त द्वारा ८०० ई० में प्रचारित किया गया। काश्मीर में शैवमत पहले द्वैतपरक था, उसे इन आगमों ने अद्वैत वाचक बनाया। काश्मीरी पंडित सोमानंद (नौवींशती) ने मातंग उपागम और रत्नायुध आगम का उल्लेख किया है। ग्यारहवीं शती के चैमराज के भी कई उल्लेख मिलते हैं। किरण की सबसे प्राचीन प्रति ९२४ ई० की है, जो हरप्रसाद शास्त्री की शोध है। यों हिंदू, बौद्धतंत्र और प्राचीन आगम सातवां आठवीं शती के हाने। आगमों से शैवमत में शाक्तमत की अवतारणा अनुसूचित होती है। इन्हीं में मंदिर निर्माण, मूर्ति शिल्प और धार्मिक विधियाँ के नियमादि मिलते हैं। इनके अनुसार शिव अनादि, निष्कलक, निरुपाधि, सर्वज्ञ है। इस जीवाणु से वही उन बधना को दूर करता है जो कि उसके स्वभाव को भ्रंत किये हुए हैं। शिव होले होले और एकदम दोनों प्रकार से सृष्टि कर सकता है। शिव के साथ शक्ति होती है। वह चेतन और शिवशरीररूपिणी है। शिव का शरीर शक्ति ही है। वह पांचमात्रिक है। जब आत्म शिवरूप हो जाता है, तब वह जीव-मुक्त और पूर्ण चि मय हो जाता है। शिव और शक्ति के बीच में एक और तत्व है—'शिव शक्ति'। वही परमशब्द है, ज्ञान और व्यजना के बीच की सूक्ष्म कड़ी है। इसी से सब मंत्रशास्त्र निकला। शिव पशुपति हैं, मनुष्यमात्र पशु। शिव का शरीर अचेतन है, शिव चेतनास्वरूप है। पशु में चिच्छक्ति होती है, परंतु वह पाशवत् होती है। यह पाश तीन प्रकार के होते हैं—आणव (अज्ञान), कर्म और माया। यह माया शाकर माया से

मिज्ञानिनी हे । ढशु मसीम ह, सात ह । यह शक्ति भी ढाशत्रु रहनी ह । ढर शिव के अनुग्रह ने मुक्ति मिलनी हे । यह साधारण ङागम दर्शन हे, ढरतु उन ङागमा म ढकरूपता नहीं ह । लिगपुराण ङर कृर्मपुराण म विस्तार ले ॐ के अर्थ ङर शाक्ततंत्रा की चचा हे । अथर्वशीर्ष म भस्मलेपन का उल्लेख हे ङर कालाग्निरु उपनिढद म त्रिपुडू की महत्ता वणित हे । तमिळनाडु के शव सस्कृत शैली से ढभावित थे । काश्मीर शवा में वाद म सोमानन् के शिष्य उत्पलाचार्य मिलते हैं, ङिनकी ईश्वर ढस्थभिज्ञा कारिका ढर ङभिनव गुप्त (१००० इ०) की टीका मिलती हे । वीरशैवमतानुयायी लिगायता के वारे म ङागे कहा ङाण्गा ।

इसी ऐतिहासिक चिंतन ढरढरा विचार के अत म शाक्त ङर दोड्रशाक्त ढर्था का साराश भी ङवश्यक ह, क्योंकि सिद्ध योगिया ढर इन मर्ता का ढभाव ढर्थास मात्रा म हे । दुर्गाविषयक कई तंत्र मिलते हे, ङिनकी सरथा का ङर मूल ढामाणिकता का ढूरा ढना नहीं चलता । ढुरैलौन ङर हरढसाद् शास्त्री क ढयलों से ङु जुड्ड ढता चला ह, उसके अनुसार कुडिनकामततत्र का मूल गुप्तकालीन लिढि में लिख्ा हुआ मिला हे ङर शायद् सातवीं शती का होगा । ढरमेश्वरतत्र की मूललिढि ८५८ की हे ङर 'महाकौलज्ञान विनिर्णय' शायद् उतना ही ढुराना हे । ङाण का चडीशतक सातवीं सती के मध्य का हे, ढरतु वह साहित्यिक अधिक हे । इन तंत्रों में चार ढकार की वाते मिलती हैं (१) देवविद्या, (२) योग, (३) वास्तुशिल्प, ङर (५) धार्मिक विधि । शाक्तमत में अधविश्वास ढर ङश्रित ङादू टोनों की कमी नहीं हे । शिवब्रह्म ङकर्मण्य हे । शक्ति ही चिन्मयी ह । वही सृष्टिनिर्मात्री हे । अत शक्ति शिव से अधिक महत्त्व की हे । वह ब्रह्म से भी बडी हे । इस मत में दर्शन कस हे । शेश्वर साख्य ङर वेदात का मिश्रण मिलता हे । यह शक्ति सांख्य की मूलढकृति ही हे ।

शाक्तमत के साथ साथ योग की गुह्य ङर साक्षात्कारमयी ढवृत्ति ढदी । नाद, त्रिडू, बीज सृष्टि के ङण हैं । शक्ति शाब्दी हे । र्था ढत्रवाद यहा । 'ही, हुं, था, ऐं, हुम्, फट्,' ङादि द्वारा नाडियों से विद्युत्कण ढरिस्फुट होते हैं । सुषुम्ना उनम ढधान हे । इन्हीं में ढट्चक्र हे ङिनका वर्णन ङागे कवीर के ढसग म होगा । र्थे शाक्त मत म बलि, चक्रढूजा या वामाचार, साधना तथा

जादू टोना वाद में बढ़ता गया। शाक्तमत सब जातियों के लिये खुला था। गुरु और ऋषि का इसमें भी महत्त्व रहा। यह सत्र बात महायान जोड़ों के संपर्क में जानर और स्पष्ट हो गयीं। अवलोकितेश्वर और आदिबुद्ध का उल्लेख पूर्ण परिच्छेद में आ ही चुका है। तत्रों में प्रत्येक बुद्ध और बोधिसत्व की एक पत्नी भी है। साध्यमिक शून्यवाद और वेदात के मिश्रण से एक ऐसा मतवाद चल पड़ा, जिसमें सब लोग बुद्ध माने गये। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ क अनुमार छठी शती से यह बौद्धतंत्र लिखे गये। तथागत तत्र सातवीं शती के मध्य का होगा, क्योंकि शाक्तिदेव ने उसका उल्लेख किया है। आठवीं शती के आरम्भ में कुछ तत्र शुभकृष्ण, वज्रबोधि और अमोघवज्र ने चीनी में अनुवादित किये। चञ्चयान तत्र इसी समय से आगे बढ़ा। गुप्त पूजा, ध्यान, जादूमंत्र, मुद्रा, रहस्यमयी जाकृतियाँ आदि में यह पथ अत्यन्त भयानक और अस्थील रूप में बढ़ा। महावैरोचन अभिसंबोधि (चीनी में ७२४ में अनुवादित) तिब्बती में भी मिलनेवाला अध्यान तत्र है। इसमें बुद्ध ही संपूर्ण विश्व हैं। ईस्वी (७०० से ७१२ के बीच में आया चीनी यात्री) ने 'सुवर्णप्रभषोत्तमराज' का अनुवाद किया जिसमें कई तान्त्रिक लक्षण हैं। नौवीं शती के सर्वज्ञानमित्र ने काव्यशाली में तारादेवी की स्तुति में 'स्रग्धरास्तोत्र' रचा है। यह तान्त्रिक स्तुतियाँ का उत्तम उदाहरण है। बौद्धतंत्रों में वारणियों का प्रयोग बहुतायत से है। 'ओम् मणिपद्मे हु' ऐसा ही एक धारणी मंत्र है। प्रत्यगिराधारणी और महामायूरी (सर्प मंत्र) ऐसे ही मंत्र हैं। ७४७ में तिब्बत में बौद्धधर्म पञ्चसभ्य द्वारा पहुँचाया गया। राल पा चान नामक तिब्बत के राजा ने बहुत से भारतीय और तिब्बती विद्वानों द्वारा बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद कराये। यमल परम बुद्ध और शक्ति के यौनमिलन को कहते हैं। इसे नेपाली बौद्धों में सवर तथा तिब्बती में थ्यर युम् कहते हैं। पञ्जुराहो और कोणार्क के मंदिरों पर भी इस प्रकार के शिल्प हैं। कोलोपनिपद में जाति वर्ण भेद और रूढ़ि बंधनों को तोड़ने का स्पष्ट निर्देश है। मंत्रों का विशद वर्णन शारदातिलक तत्र (११वीं शती) में है। इसी सत्र में उल्लेखनीय बात यह है कि सस्कृत के अतिरिक्त में बंगला में १३वीं शती की चंडीस्तुति कविता और तेजुगु में १३०० ई० में मार्कण्डेयपुराण का अनुवाद मिलता है।

बौद्धशाक्त तंत्रों में अब यौन विषयों की चर्चा और बढ़ती गयी। हेरुक

और ब्रजयोगिनी के रूप में नये नये बुद्ध सामने आने लगे। आनन्द कुमार स्वामी के अनुसार यही पथ बंगाल में सहज कहलाया।^१ चंडीदास की कविता में उसका स्पष्ट प्रभाव दिखायी देता है। फरकुहर के अनुसार 'मुक्ति का मार्ग था सुन्दरियाँ के प्रति रोमासपूर्ण नेम'^२ ऐसी अवस्था जब जोड़ और शैव मतों की हो रही थी, तब इस अन्दर से खोजले हिन्दुत्व को मुस्लिम झगगावात का एक धक्का काफ़ी था और यह धर्म दर्शन की झूठी हमारत अगर गड़ गड़ होकर गिर पड़ी तो कौन आश्चर्य है।

ऋग्वेदवादा निरीश्वर जोड़ों में भी घुम आया। आल्यविज्ञान के रूप में उसकी चरम परिणति हुई। बौद्ध मन पर वेदान्त, न्याय, शैव सव मतों का कैसा प्रभाव पड़ा, यह आदिबुद्धों की कल्पना से स्पष्ट है।

फरकुहर के अनुसार यह है सव धर्म पयों और दार्शनिक मतों का हमारे प्रिवेच्य काल से पूर्व का चित्र। तर्क किया जा सकता है कि निर्गुण सन्त ता अधिकाश निरक्षर थे, त्रेपटे लिखे थे। फिर इन सव दार्शनिक मत चर्चाओं का उनके प्रसंग में क्या महत्व? परन्तु कोई भी दार्शनिक विचारधारा वर्ग विशेष तक ही सीमित नहीं रहती, बल्कि वह समाज के सत्र वर्गों में सम्बन्ध रखती है, वर्ग भेद छिपाने या बढ़ाने का कार्य करती रहती है। दर्शन का, चिन्तनों के विश्वासों का, मनीषियों की मान्यताओं का, समाज यास्था से बहुत सूच्य पर सीधा सम्बन्ध होता है। भारतीय समाजव्यवस्था में ज्या ज्यों स्थैर्य आया, पुरोहित और क्षत्रिय वर्ग का स्वामित्व उदा, वैचारिक परिवर्तन भी घटित होते रहे। ऋग्वेद में लिंगपूजा का विरोध था।^३ पर बाद में पयों की हालत उदत बढ़ते कबल लिंगपूजा ही शेष रह गयी, यह चित्र हम ऊपर देख आया। वही हाल पुनर्जन्म का है। ऋग्वेद में पुनर्जन्म की कल्पना स्पष्ट नहीं है। पर उपनिषत्काल में वह श्रद्धा का विषय बन गया और जोड़ों के जातकों में तो अनन्त रूपों में बुद्ध का पुनरुद्भव वर्णित है। प्रिसवोटड का यह कथन है कि

१ कुमार स्वामी टास आफ शिव, पृ० १०३।

२ 'रोमेंटिक लव फार वियूटीफुल गॉस बाज मेड दि पाथ टू रिलीज।'

फरकुहर एन आउटलाइन आफ दि रिलिजस लिटरेचर आफ इंडिया, पृ० २७३

३ ऋग्वेद सप्तम मण्डल, २१, ५। दशम मण्डल, ९९, ३।

‘प्रतिक काल में उपनिष काल तक भारतीय जायों का इतिहास आशावाद से निराशावान् की ओर ले जायेवाले आ दोलनों का इतिहास है। यदि ब्रह्म क जन्मे धार्य बरुण को प्रधान मानते तो आशा के तेज से वे चमकने लगते।’^१ परन्तु इस कथन का कोई अर्थ नहा है। किसी जाति की आशावादिता या निराशावान्तिता किसी देवताविशेष की उपासना पर निर्भर नहीं होती। उसका कारण सामाजिक राजनैतिक या ऐतिहासिक सांस्कृतिक होते हैं। इस बात को ध्यान में रखते सन्तों के कार्य का महत्त्व स्पष्ट हमारे सामने आयेगा।

उत्तरभारत में निर्गुण सन्तों के कार्य पर डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा सम्पूर्णानन्द के दो अवतरणों से और महाराष्ट्र के सन्तों के कार्य पर डा० ग० सरहार की पुस्तक से एक अवतरण यहाँ प्रस्तुत करना चाहता हूँ। डा० हजारीप्रसाद जी के अनुसार—‘यदि कबीर भादि निर्गुणमतवादी सन्तों की वाणियों की बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाय, तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णतः भारतीय हैं और जौद्धधर्म के अन्तिम सिद्धों और नाथपथी योगियों के पदादि से उसका सीधा सम्बन्ध है। कबीर की ही भाँति ये साधक नाना मतों का खडन करते थे। सहज और शून्य में समाधि लगाने को कहते थे, दोहा में गुरु के ऊपर भक्ति करने का उपदेश देते थे। इन दोहों में गुरु को बुद्ध से भी बड़ा बताया गया है और ऐसे भाव कबीर में बड़ी आसानी से मिल सकते हैं, जहाँ गुरु को गोविन्द के समान ही बताया है। ‘सद्गुरु’ शब्द सहजयानियों, वज्रयानियों, तान्त्रिकों, नाथपथियों में समान भाव से समाहित है।’^१

जाति पाति का विरोध, जसे सरहपा नामक सहजयानी सिद्ध का यह पद—‘ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए थे, जब हुए थे तब हुये थे। इस समय तो वे भी दूसरे लोग जिस प्रकार पैदा होते हैं, वैसे ही पदा होते हैं। तो फिर ब्राह्मणत्व कहाँ रहा ? यदि कहो कि सस्कार से ब्राह्मण होता है तो चाण्डाल को भी सस्कार दो, वह भी ब्राह्मण हो जाय, यदि कहो कि वेद पढ़ने से कोई ब्राह्मण होता है, तो क्यों नहीं चाण्डालों को भी वेद पढ़ाकर

^१ महाराष्ट्र ज्ञानकोश 'न' खंड, पृ०-२९२।

^२ हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ०-२१।

ब्राह्मण हो जाने देते ? सच पृछो तो श्रद्ध भी तो व्याकरणादि पढ़ते हैं और इन व्याकरणादि में भी तो वेद के शब्द हैं, फिर श्रद्धों का भी तो वेद पढ़ना हा ही गया । और यदि आग सं घी देने से मुक्ति होता हो तो सत्रको क्या नहीं देने देते, ताकि सब मुक्त हो जाएँ ? होम करने से मुक्ति होती हो या नहीं, जुओं लगने से ओंओं को कष्ट जरूर होता ह । ब्राह्मण 'ब्रह्मज्ञान ब्रह्मज्ञान' चिह्लाया करते हैं । अब्बल तो उनके अथर्ववेद की सत्ता ही नहीं हे, फिर और तीन पर्ण के पाठ भी सिद्ध नहा, इसलिए वेद का तो कोई प्रामाण्य ही नहीं हे । चढ तो परमार्थ नहीं है, यह तो ग्रन्थ की शिचा नहीं देता, वह तो एक व्यर्ग की बक्वाम ह ।'

मामाजिक ढोंग का विरोध, तीव्र व्यग्य द्वारा दम्भस्फोट, महजयागी सिद्धां और नाथपंथी योगियां का अक्खडपन और दृष्टकूट उलटपौसी या 'सन् या' भाषा का प्रयोग, अ तर 'साखी' में व्यक्त अहकार, श्र य भा, पट् चक्र का प्रयोग आदि निर्गुण सन्तों में पायी जानेवाली सामान्य बात हैं । 'शास्त्र ज्ञान से वचित होने पर भी इस श्रेणी के साधक बहुश्रुत थे । इस बहुश्रुतता के कारण वे अनायास ही अनुभव म्ममत सत्य को सम्रह कर सकते थे । इसीलिए उनका मत न तो किसी आचार्य विशेष के मत का दू-ब-दू उलटा है न वे सिर पैर की बातों की बमेल खिचड़ी । सभी विषयां में उनका आत्मोपलध मत हे । गेम पर इन सन्तों ने इतना अधिक जोर दिया है कि भक्त के बिना भगवान को भी अपूर्ण प्रताया है । यदि उन्हें विशुद्ध ज्ञानमार्गी मान लिया जाएगा तो उक्त बात अबोध हो जाएगी । जिन पण्डितों ने इन सन्तों को ज्ञानाश्रयी कहा है, वे सचमुच इस चक्कर में पड गये हे और तारिक दृष्टि से विचार करने जाऊर यह कहने को बाध्य हुए ह कि 'न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी ।' (प० रामचन्द्र शुक्ल) । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ये साधक अपने विचारों में अस्पष्ट थे ।^१

और आगे चलकर हजारीप्रसादजी ने सगुण निर्गुण क बीच में केवल प्रतीक भेद बताया हे, जिससे हम पूर्णत सहमत नहीं हो पाते हैं ?^२

१ वही, ६४-३९-४० ।

२ वही, पृष्ठ-१६

‘कबीरदास, दादूदयाल आदि निर्गुण मतवादियों की नित्य लीला और मूरदास, न ददास आदि सगुण मतवादियों की नित्य लीला एक ही जाति का है। अतः यही है कि पहली श्रेणी के भक्तों के सामने भगवान के व्यक्तिगत सबवा मक रूप के साथ उसकी रूपातीत अनन्तता वर्तमान रहती है और दूसरा श्रेणी के भक्तों के सामने भगवान सदा प्रतीक रूप में आते हैं और इसीलिए उनकी अनन्तता और असीमता ओझल सी हुई रहती है।’

उत्तर भारत के सन्तों की स्थिति का एक सचित्र चित्र सम्पूर्णानन्द के एक लेख ‘स तमत म साधना’ के आरम्भिक अंश से मिलता है।^१

‘भारत के धार्मिक जगत् के इतिहास में स त मत का एक विशेष स्थान है। स त मत उस प्रकार का सम्प्रदाय नहीं है, जैसे कि वल्लभ या मध्व या किसी एक पुरुष द्वारा प्रवृत्त दूसरे सम्प्रदाय हैं, वह एक धारा है जो आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पहले प्रकट हुई और अब तक बह रही है। स त ये पहले उसके स्रष्टा में कबीर साहब का नास उल्लेख है, फिर तानक, दादू, दरिया, चरणदास, सहजोबाई, गरीबदास, फलट्टदास, मल्लदास आदि ने अपने अपने समय में इस धारा को पुष्ट किया। बहुत से अग्रजों की और उनकी भाँति सोचनेवाले कुछ भारतीय विद्वानों की यह राय है कि स त मत एक सप्रहात्मक (इक्वलेडिटिक) सम्प्रदाय है, जिसमें कुछ बातें हिंदू धर्म और कुछ बातें इस्लाम से लेकर मिलीं गई हैं। ये लोग सन्तों को सुधारकमात्र मानते हैं। उनका खयाल है कि हिंदू मुसलमानों के आपसी झगड़ों को और दोनों में प्रचलित कुरीतियों को दूबकर कुछ दयालु ईश्वरभक्तों ने समाज के कल्याण के लिए एक नए मार्ग निकाला, जिस पर दोनों सम्प्रदाय मिल जुलकर चल सकें। उन्होंने एक ईश्वर की भक्ति का उपदेश दिया, छुआछूत और जातपाँत की निंदा की, भूत प्रेत की पूजा, कुर्बानी, बलिदान आदि का निषेध किया, पीर और लीला, कब्र की वन्दना से लोगों को रोका, सदाचार की महिमा बतलायी, हिन्दू मुसलमानों को मिल जुल कर रहना सिखाया। इनमें कई अब्राहाम थे, कुछ जामना हिंदू भी नहीं थे। सस्मृत तो इनमें से स्यात् ही कोई जानता

^१ कल्याण साधना अंक, पृष्ठ-३७७-७८।

हो, इसलिए इन्होंने अपने उपदेश हिन्दी में दिये। इस कारण पंडित वर्ग तो इनसे अप्रसन्न हुआ, पर जनता में खूब प्रचार हुआ।

‘ये बातें कुछ हद तक सच हैं। सता ने निःसन्देह एक ईश्वर की निष्ठा सिखायी, कुरीतियों का निषेध किया, भेदबुद्धि का खण्डन किया। पर इसका कारण यह नहीं था कि वे समाज सुधारक थे। वे सत् थे और सत्तों के उपदेशों में वे बाने स्वभावतः आ जाती हैं। इसलिये उनको नसबमों की पोथियों से सामग्री जुटाकर भानमता का कुनवा जोड़ने का आवश्यकता नहीं पड़ती।

‘भारत में मुसलमानी शासन की स्थापना ने एक विचित्र परिस्थिति उत्पन्न कर दी। हिन्दुओं का राज्य चला गया, उनका गौरव नष्ट हो गया, विभूति लुप्त गयी, देवस्थान भ्रष्ट हो गये, स्वाभिमान जाता रहा। विद्या और कला के लिये स्फूर्ति का द्वार बंद हो गया। मौलिक रचनाओं की जगह टीकाग्रन्थों ने ली, जीवित काव्यों के स्थान में परतंत्र रजवाड़ा के दरबारों में पलने वाली अधम कोटि की श्रद्धारी तुलसी की जैली फट गयी। जो जाति ऐसी आपन्न अवस्था में पड़ जाय, उसकी अधोगति का रकना कठिन होता है, उसका तो शतमुस निनिपात अवश्यभावी हो जाता है। पर अभी हिन्दू जाति के दिन अच्छे थे, उसकी आत्मा की अमर उद्योति नष्ट नहीं हुई थी। उसने से दो किरण निकली, जिन्होंने अंधेरे घरों को फिर से प्रकाशित किया और मृतप्राय प्राणियों को अमृत पिलाकर पुनर्जीवित किया।

‘एक किरण तो भक्तिमार्ग की थी। इस मार्ग को तुलसी, सूर, मीरा आदि ने प्रशस्त किया। दुर्बलों से कहा गया कि हिम्मत मत हारो, तुम्हारा यह भगवान् है।

‘जाति की आत्मा से जो दूसरी किरण निकली, उसका ही नाम सतमत है। इस आकाश के कुछ नक्षत्रों के नाम में ऊपर गिना चुका है। यही लोग सत कहलाते हैं। इन्होंने सगुण साकार की उपासना के स्थान में निर्गुण उपासना, योग और ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। यों तो भक्तिमार्ग में भी ऊँच नीच का भेद नहीं होना चाहिए, फिर भी उसमें जिन साधनों का प्रायः काम पड़ता है—मन्दिर, पूजा की सामग्री आदि—वह बहुतांश को अप्राप्य है।

पर यागाभ्यास क लिए तो कोई गहरी साधना नहीं चाहिये। पूजा की याज्ञाना क लिए पैसे नहीं चाहिए। इसलिए यह मार्ग सचमुच सजक लिए मुलभ, सुगम हे। कठिन अउश्य है, पर सच्ची भक्ति भी तो कोई दिखगी की चीज नहीं होगी। इसलिये इधर की और अधिक व्यापक आकर्षण हुआ। चाई, योगी, जुहाहा, मोची, जस क सुमलमान भी आये, ऊँची जाति वाले भी आये।

‘इय मार्ग म एक ओर विशेषता थी। सच्चा जीवन केवल सुपचाप सौँस लन म नहीं हे। उसका लक्षण हे जागृति, क्रियाशीलता। सजीव प्राणी इय आसरे नहीं बठा रहता कि कोई मुझ पर आक्रमण करे तो मैं अपने को किसी प्रकार से बचा लँ। वह आक्रमणकारी पर आगे उदकर आक्रमण करता हे। भक्ति मार्ग ने सुसूर्पु हिन्दू जाति में जान डाली, सतमत ने सक्रियता प्रदान की। कवल अपने कोने म पडे रहने के उडले मुसलमानों के दोषों का खुल कर निदर्शन होने लगा। योगी म उल होता हे, आत्मविश्वास होता हे। उसकी वाणी म अपूर्व शक्ति होती हे। इससे जनता में भी आत्मनिर्भरता आयी।’

महाराष्ट्र में सन्तों के कार्य के विषय में ‘सन्तगज्याची सामाजिक फलश्रुति’ नामक एक महत्वपूर्ण पुस्तक ‘महाराष्ट्र साहित्य परिषद् पुणे’ ने १९५० में प्रकाशित की हे। इसके लेखक हैं ग० बा० सरदार। उन्होंने अपने ग्रथ के प्रथम और अन्तिम अध्यायों म स तविषयक दृष्टिकोण पर विशद और मार्मिक सामासा की हे। उसका साराश यहाँ हम देना चाहते हे

‘सन्त साहित्य की प्रेरणा क्या थी, तत्कालीन भौतिक परिस्थितियां से वह कहाँ तक सुसगत था, सर्व-साधारण जनता के हृदय पर वारकरी पथ का इनना प्रभाव क्यों हुआ, समाज की प्रगति के लिए स तां की विचार धारा विघातक थी या नहीं, इस विषय पर गये ७० वर्षों में न्यायमूर्ति रानडे, तिलक, राजाराम शास्त्री भागवत, राजवाडे, प्रो० रानडे, पोतदार, फाटक आदि विद्वानों ने बहुत सा प्रिचार किया हे। न्यायमूर्ति रानडे ने अपने ‘राइज़ आफ सगुल पावर’ ग्रन्थ में व्यापक और समतोल बुद्धि से यह प्रश्न शुरू किया। शिवाजी के समय के राजनैतिक आन्दोलन की वैचारिक पार्श्वभूमि सन्तों के कार्य से निर्मित हुई—उनका यह मत था। उ होंने सन्तों के विधायक कार्य

का ही उल्लेख अधिक किया है। भारतत धर्म और महाराष्ट्र धर्म का समन्वय इन सत्ता ने किया। राजवाड़े प्रभृति राष्ट्रवाद लक्ष्य का यह उदार दृष्टिकोण अच्छा नहीं लगा। उनके अनुसार ये 'सन्ताज' और उनका भक्तिपन्थ ने देश में निष्क्रियता और निर्दलता उदायी। पुनरुज्जीवनशील राष्ट्रवाद राजवाड़े कालीन विचारका की गरणा था। इसलिए सत्ता से अधिक रामनाम उन्हे उडे जान पडे। प्रो० रा० ड० रानडे का दृष्टिकोण साक्षात्कारवादी (रहस्यवादी) है। हरिभक्ति परायण पागारकर का दृष्टिकोण श्रद्धावादी होन से अधिक लोक्रगिय हुआ। परन्तु न्यायमूर्ति रानडे का दृष्टिकोण ही अधिक तर्कयुक्त और बुद्धिवादसगत था'।^१

आगे चलकर इतिहास की उद्गुवादी मीमाणा का महत्त्व मावर्मक उदाहरणा से उह पृष्ठों तक उताकर सत्तकालीन महाराष्ट्र की रूपना मते हुए लेखक ने वडी महत्त्वपूर्ण बात कही है। तेरहवी शती के अन्त स सन्ता का आन्दोलन शुरू हुआ। तब महाराष्ट्र में यादव कुल के रामदेवराव का राज्य था। यादव वंश अपनी गिरावट पर था। रामदेवराव (राजवाड़े सम्पादित महिकावती की वास्तर के अनुसार) वीर पुरुष नहीं था। शके १२१६ में अलाउद्दीन खिलजी का हमला हुआ। उसका आक्रमण से पहले ही कनाटक, कोंकण के माडलिक अनियन्त्रित हो गये थे। महानुभाव के लीलाचरित्र में 'रामदेवो निपर वख' उल्लेख है (भाग-२, पृ०-४६)। अलाउद्दीन पहले हमले में यहा से अपार सम्पदा ले गया। राजा बहुत ऐश्वर्यवान था, परन्तु सामान्य जनता की क्या दशा थी, यह कह सकना कम्बिन है। तत्सम्बन्धी सामग्री पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलती। केवल उस समय का साहित्य हमारे सामने है, कोई समाजैतिहासिक प्रमाण नहीं। केवल बा० र० सुठणकर ने अपने ग्रंथ 'महाराष्ट्रीय स तमण्डलाचे ऐतिहासिक कार्य' (पृ०-१६) में से पाच सात वचन उद्धृत करके उस समय किसान सुखी नहीं था, ऐसा अनुमान किया है, वह कैसे मनगढत है, यह सिद्ध किया है। जैसे ज्ञानेश्वरी क (अध्याय—१३, ओगी—२९) 'न म्हणे अवसीं पाहाटा' अक्ष का अर्थ है 'वह दिन रात कुछ नहीं देखता' इससे अनुमान खींच तावकर

निकाट गया—खनिहर रात दिन मिहनत करता है फिर भी उसका घरदार ठाक स नहीं चलता । दूसरा एक अवतरण तामसी वृत्ति के मनुष्य के विषय में है 'नरी देवचि खाय । विकृनिया' (ज्ञानश्वरी, अध्याय—१८, ओगी ५६१) कि 'वह दवता को भी चेष खाता है ।' इस पद में वस्तुतः किसान से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु सुठणकर उसे जर्जरस्तो लाय है । सत्ता के पदा का प्रताकात्मक अर्थ न लेने से और साधा अभिप्राय में उन पदा का समझने से कई बार सन्तों के गृहजीवन के विषय में भी गन्त अनुमान लगाय जाते हैं । जैसे जब ज्ञानश्वर स्थितप्रज्ञता के वर्णन में कहते हैं 'हातात नरोटी, जीणाचे ते भार । परळ भोपळ्याची गृहामाजी सम्पत्ति' (अध्याय—हाथ में नारियल का आधा कपच भिन्नापात्र की तरह है । जीर्ण वस्तुआ का भार है । घर में चिचिडा और काशीफल ही सम्पत्ति है ।) तब वह आ मनुष्या का आध्यात्मिक अहकार है, दुःखपीडियों का दैन्यमय निश्चय नही ।^१

'यादृक्कालीन आर्थिक परिस्थितियाँ का पूरा पता न मिलने से यूरोप के मध्ययुग के इतिहास की चौखट लेकर उसमें महाराष्ट्र के आन्दोलनों को ढूँढने का यत्न करना उचित नहीं है । यूरोप की भौति महाराष्ट्र में भी सामान्यताव था, परन्तु उसका रूप भिन्न था । काली जमीन ही उत्पादन का प्रधान साधन थी । अलग अलग वर्गों के आर्थिक हित सम्भव जमीन से सिगडत थे । परन्तु राजसभ्या ग्रामसभ्या का लक्ष्यकेन्द्र जमीन थी । यहाँ भी जमींदार थे । परन्तु यहाँ का किसान यूरोप की तरह भूदास नहीं था । महाराष्ट्र का किसान बहुधा अपनी धरती का मालिक था^२ । उसका झगडा प्रकृतिक साथ था । धरती की उत्पादन शक्ति अत्यल्प थी, यही उस समय की सामाजिक दुरवस्था का कारण था । यूरोप की भौति यहाँ किसानों का शोषण बिल्कुल नहीं होता था सो बात नहीं, परन्तु वह अप्रत्यक्ष और व्यक्तिनिरपेक्ष थी । राजा, धर्मस्थान, ग्रामसभ्या, जातिसभ्या आदि उसकी कमाई का बहुत भाग ले जाते, और वह धार्मिक समर्थन के साथ । यों उसकी

१ वही, ११ ।

२ अ० स० आलतेकर—ए हिस्ट्री आफ विलेज कम्युनिटीज इन वेस्टर्न इण्डिया, पृ०-८६ ।

नामता धर्मनिष्ठा के रूप में बदल गयी थी। यह दूरी अधिष्ठान ब्राह्मणों द्वारा लिया गया। पर यहाँ की पुरोहितशाही यूरोप की पोपशाही से भिन्न थी। यूरोप में ईसाई दुनिया की एक तिहाई जमीन चर्च के अधिकार में थी। पक्षवाई के बाद भी पूना में चार पंचमाश जमीन किसानों की मितिकथत थी। तेरहवीं शती में पुरोहितशाही की चर्चा या चर्च है। जब मठिरा और ब्राह्मणों को जमीन दी जाती थी, तब उसका अर्थ इतना ही था कि राज्य या माडलिक अपना भाग उन्हें देते थे। उसमें जमीन पर स्वामित्व का कोई पशन नहीं था। ब्राह्मणों के पास जनता का आर्थिक शोषण करने की अधिक शक्ति थी यह मानना गलत होगा। हाँ, ब्राह्मणशाही तत्कालीन शासन संस्था के हाथ मजबूत अवश्य करती थी।

सन्तों ने जनता को जब, मूढ़ और अगतिक निराश अवस्था में से मुक्ति दी। सन्तों के आंदोलन का कार्यक्षेत्र धार्मिक सांस्कृतिक था। समाज की असमानताओं (यथा स्त्री और शूद्रों के प्रति भिन्न व्यवहार) पर उन्होंने मूलभूत प्रहार किया। उन्होंने जनसाधारण के लिये आत्मविकास का मार्ग खोलकर उनका नैतिक सामर्थ्य बढ़ाया। इस सन्त सम्प्रदाय में ब्राह्मण, कुन्वी, माली, तेली, सुनार, कुम्हार, महार आदि सभी जातियों के लोग शामिल हुए। भक्तिमार्ग परलयन का मार्ग नहीं था। सन्तों ने अपने आचरण से और ग्रंथों से जनता में परस्पर सहिष्णुता बढ़ायी। उन्होंने अन्त शुद्धि, कर्मव्यनिष्ठा, भूतदया, क्षमाशीलता, परोपकार आदि दैवी गुणों का प्रचार करके विवेक और नीति का समन्वय सिखाया। जनता के मन का हीन भाव दूर किया। ये लोग तुकाराम के शब्दों में 'विप धारण करने वाले' (विप खाव प्रासोप्रासी, तुकारामगाथा-७११) थे।

सन्तों में आठवीं शती के बाद भारतवर्ष में सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन की एक सूक्ष्म धारा, सामाजिक अवनति के साथ साथ उठ रही थी। शंकर, रामानुजादि आचार्य वैदिक दर्शन की तर्कयुक्त नव विवेचना प्रस्तुत कर रहे थे, तो मेधातिथि, विज्ञानेश्वर, अपरार्क, हेमाद्रि आचार्य धर्म में एकसुत्रता लाने

१ अ० स० अलतैकर—दि राष्ट्रकूट एण्ड देवर टाइम्स, पृष्ठ-२३६।

२ ग० बा० सरदार सनवाध्यायी सामाजिक फलश्रुति, पृ०-१३।

का प्रयत्न कर रहे थे। गीर प्रोपदेयादि त्रिपुण्ड्रपङ्क्ति भागवत पर टीकात्रय लिख रहे थे। त्रिपुण्ड्र उपासना का परिणति पौराणिक भक्तियोग में हो रही थी। जन, शत्रु, नाथ, लिगायत, महानुभाव देशी भाषाओं द्वारा रामायण जनता को शिक्षित कर रहे थे। मुगलमान दक्षिण में देर से आये। परन्तु चालुक्य, कलचुरी, यादव (सेऊण), होयसाल, काकतीय, पाण्ड्यादि राजवंशों में परस्पर भ्रत्ता सघन चल रहा था। ऐसे समय अकाल भी आया। ऐसी सत्र दश में वारहरी गीर महानुभावपत्रीय सतों का कार्य गहुरा सामाजिक आशय रगता है। वे निराशावादी बैरागी मात्र नहीं थे। उन्होंने राजनतिक उथल पुथल क तिमिराच्छन्न काल में मानवतावाद की ज्योति को अखण्ड दीपित रखा।

अध्याय ४

रहस्यवादविषयक उपलब्ध सामग्री- साहित्यिक और दार्शनिक

‘रहस्य’ जिस ‘रहस्’ मजा से बना है, उसके पाँच अर्थ होते हैं—
(१) एकाग्रता, गुप्तता, (२) छिपने का स्थान, (३) कोई अज्ञान बात,
(४) स्त्री पुरुष सम्भोग, (५) कानून से सम्मत कोई अनुबन्ध । ‘शाकुन्तल’
में ‘रहस्यारयायां च स्वनसि मृदु कर्णान्तिरुचर ’ या ‘उत्तररामचरित’ में ‘रहस्य
साधूनामनुपमि विशुद्ध विज्ञयते’ इसी गोपन आचरण या गुप्त बात के अर्थ में
आया है । साहित्य से भिन्न अर्थ में आकर ‘रहस्य’ शब्द कुछ उपदेशात्मक
अर्थ देने लगता है, जैसे ‘याज्ञवल्क्यस्मृति’ में ‘अनभित्यातदोपस्तु रहस्य
वतमाचरेत्’ या ‘भगवद्गीता’ में ‘भक्तोऽसि मे सखा चति रहस्य द्येतदुत्तमम् ।’
अग्नेयी का शब्द ‘मिस्टिक’ या ‘मिस्टिसिज्म’ यूनानी धातु ‘सुस्टीस’ से बना
है, जिसका अर्थ है, जाब्रन और शून्य की सच्चाइयों का गुप्त ज्ञान जानने वाला
व्यक्ति । इस प्रकार ‘रहस्यवाद’ शब्द की भी तीन स्थितियाँ हैं — एक तो
समाजविज्ञान नृविज्ञान में जादू देने आदि के अध्ययनों की दृष्टि में एक
सामूहिक भय विश्वास के अर्थ में, दूसरे धर्म और देवशास्त्र (पारलौकिक)
में, जिसका छनकर प्रभाव प्राचीन सतत ऋषयों में और कुछ आधुनिक साहित्य
में भी आया है, तीसरे विज्ञान में, विशेषतः मनोविज्ञान में और उच्च भौतिक
विज्ञान या उच्च गणित में सापेक्षतावाद या ‘क्वांटम’ आदि की चर्चा में ।

फ्रेजर ने अपने ‘गोल्डन जाउ’ में ‘गोल्डन दि व्यूटिफुल’ अध्याय में पृष्ठ
३०४-५ पर लिखा है कि सभ्यता के विश्वास तीन अवस्थाओं में से गुजर
रहे हैं जादू, धर्म और विज्ञान । सबसे पहले मनुष्य को अपनी शक्तियों
पर इतना अधिक विश्वास होता है मानो सब कुछ वह स्वयं कर सकता
है । मन्त्र से वह साँप को बुला सकता है, भूत बाधा को उतार सकता

ह, मारण उच्चाटन कर सन्तता है—इस गालिश गालो माद की स्थिति में अपने मँ बाहर की बिना शक्ति पर विश्वास करने की जरूरत नही हाती । परन्तु धीरे धीरे यह विश्वास खण्डित होता है और प्रकृति की सहच्छक्ति के आगे जैसे मनुष्य हथियार डाल देता है । ऐसी अवस्था में धर्म का उदय होता है, पंच महाभूत बनाए जाते हैं, क्रूर और अनमोजी, परन्तु फिर मनुष्य संभलता है, प्रकृति का उपयोग करना सीखता है और अपना शक्ति पर पुनः भरोसा करके प्रकृति का नौयना चाहता है । यह अंतिम अवस्था है विज्ञान । इस प्रकार में सभ्यता के ऐतिहासिक विकास के साथ साथ रहस्यवाद की व्याख्या भी बदलती गई है । जो हमारे लिए वैदिक काल में रहस्यमय था, वह आज भी शाश्वत सनातन भाव से रहस्यमय है, ऐसा मानना मनुष्य की बुद्धि के मारे बभव और कृत्स्न का अपमान करना है । इससे उलट यह समझ लेना कि ज्ञेय का कुछ था वह सब ज्ञात हो चुका, आगे जानने योग्य कुछ बचा गया है, यह दूसरी क्रांति की हठधर्मिता है । ऐसे भी तो जीवन में अनुभूति के प्रगाढ़ क्षण होते हैं जहाँ 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा मह' जहाँ 'अविगत अविक्ल' अनुपम देखा, कहता कथा न जाइ ।' (कबीर) या जैसे दादू ने कहा था —

भाइ रे बाजीगर नट केला, ऐसे आपे रहै अकेला ।

यह बाजी केल पसारा, सब मोहै कोतिग हारा ।

यह बाजी कल दिलावा, बाजीगर किहूँ न पावा ॥

सृष्टि के इस रहस्य को, इस बाजीगरी को जानने का जैसा यत्न सन्तों ने, अध्यात्मवादियों ने किया है, दूसरी ओर उस विराट् प्रकृति के आगे कविजन भी नतशिर, चकित और शब्दा के लिए टटोलते हुए, चौथियाए हुए स्तिमित व्यक्ति बने हैं । ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की इस 'त्रिपुटी' को या आधुनिक रस शास्त्र की परिभाषा में कहे तो 'सञ्जेनट आञ्जेनट यूनिटी' को समझने में कई कवियों की दुशा दिग्भ्रमित सी हुई है । कई पूछते ही रह गए हैं, जैसे 'चित्रा' में रवीन्द्रनाथ —

जगतेर माझे कत विचित्र तुमि हे

तुमि विचित्र रूपिणी !

अयूत अल्लोके अल्लशिद्धे नील रागने
आकुल पुलके उल्लसिद्धे फूल कानने
धुलोके भूलोके विलशिद्ध चल चरने
तुमि चचल रामिनी ।

कत ना वर्ण, कत ना स्वर्ण गठिते
कत जे छन्दे, कत सगीते रटिते
कत ना ग्रन्थि कन ना कठे पठिते
तत्र अमरय काहिनी ।
तुमि विचित्र रुपिणी ।

और इसी विचित्र रूपिणी का 'गहि कालदेश, तुमि अनिमेप मृत्ति, तुमि अचपल दामिनी'—जैसा हाल है ।

यह रहस्य भावना आदिम जानियां न अभी भी उसी रूप में विद्यमान है, जो तर्क को चुनौती देती सी जान पड़ती है । डाक्टर रिचर्स ने 'दि टोडाज़' नामक ग्रन्थ में पृष्ठ २४९ पर कहा है कि 'भारत की आदिवासी जाति टोडाओं में भविष्य देखने वाले, जादू करने वाले और बीमारी उतारने वाले तीन भिन्न प्रकार के लोग होते हैं और ये तीनों पुजारियों में भिन्न होने हैं । इस प्रकार से सभ्यता की दिशा में टोडा एक विकसित प्रकार की जाति है ।' चीन में लाओ जे के समय तक—यानी इसा से छ सौ वर्ष पूर्व और शाक्यमुनि गौतम के सौ वर्ष बाद—धर्म राजाकार और वैज्ञानिक चिकित्सा एकरूप थीं । लाओ जे के बारे में कहा जाता है कि उसने मर्मा का हृदय पाया था, परन्तु उसका स्पर्श चद्य का सा था और दृष्टि किसी गणि शास्त्रज्ञ की सी । प्राचीन मित्त्रियां क विश्वासों में इसी प्रकार के कल्पना प्रसूत और वास्तव विश्वासा का सम्मिश्रण मिलता था । लाइपिजग से १९०८ में छप 'डाइ आस्ट्राइप्टिशन पिरामिडेण्टदस्ते नाखडेन पापीरावहुकेन' के आधार पर जो पिरामिड पर उत्कीर्ण लेख मिले हैं, उनका आशय भी इसी प्रकार का है —

जब स्वर्ग का अस्तित्व नहीं हुआ था,
जब मनुष्य का अस्तित्व नहीं हुआ था,
जब देवताओं का जन्म नहीं हुआ था,
जब सृष्टि का भी आरम्भ नहीं हुआ था—

आदि। असुरी महाभाग्य गिलगिमेस में भी सिदुरी जय शोक करती है तब कहती है—'शोक बूढ़ा है, क्योंकि इशर ने जय मानव को बनाया, तब कहा कि मृत्यु तरे हाथ में है, ज म हमारे हाथ में रहेगा।'

यह सहज निरवास की भावना सारे रहस्यवाद के मूल में मिलती है। चाहे असुरी-बाबुली, मिमी, चीनी या भारतीय, इसाई, इस्लामी कोई भी रहस्यवाद हो उसके मूल में दो तीन बात एक ही मिलती हैं और कविता में रहस्यवाद के अध्ययन में वे बहुत उपयोगी हैं एक तो काल के बन्धन से पर कोई वास्तविकता है, यानी वह जन्म मृत्यु के बन्धनों से परे, अजन्मा, अमर है। दो, मनुष्य उसे पाना चाहता है। उस अज्ञात अखण्डता के प्रति उसने मन में एक निरंतर अन्वेषण भावना काम करती रहती है, और तान, पाप या डुराई कुछ नहीं है, कवल भ्रम मात्र है। वह है तो इसलिये कि विश्व को खण्डन स्वयं शक्ति मानने से अपूर्णता पैदा होती है।

इस दृष्टि में रहस्यवाद की जो दो चार परिभाषाएँ हमारे काम की हुईं मिलती हैं वे इस प्रकार की हैं —

(१) 'परमोच्च के साथ प्रत्यक्ष मिलन के परम पवित्र आनन्द को उपलब्ध करने का मानवी मन का प्रयत्न रहस्यवाद है।' (गिगल पैटिसन दि आइडिया आफ गाड)

(२) 'प्रेम मार्ग से परमात्मा की प्राप्ति का और उसके लिये आवश्यक सफल सेवा के आदर्श से प्रेरित किसी व्यक्ति के आत्मनिरपेक्ष जाग्रह को रहस्यवाद कहते हैं।' (टी० एच० ह्यू दि फिलासॉफिकल बेसिस आफ मिस्टिसिज्म, पृष्ठ ९०)

(३) 'रहस्यवाद आत्म का नैरात्म्य से ऐसा सम्बन्ध है जिसमें अपने वैयक्तिक हेतुओं से परे वह बृहत्तर आदर्शों की प्राप्ति के लिये सामरस्य से या प्रेम से प्रयत्न करे। इस प्रकार से रहस्यवाद विश्व की अखण्डता के साथ भाव सम्बन्धों का आनन्दमय सश्लेषण है।' (हेवेल्याक एलिस)

(४) 'रहस्यवाद एक प्रकार की दिव्य अनुभूति है, सिद्धांत नहीं, यह तो एक प्रकार का आध्यात्मिक वातावरण है, कोई दर्शन पद्धति नहीं।' (स्पजियन)

छूगो क अनुसार का य के प्रयोजन जैसे उदलते गय हे, रहस्यवाद विषयक विचार भी उदलते गय हैं। इनका ऐतिहासिक विवचन हम उपनिषदों से शुरू करता चाहिये।

उपनिषदों पर गांध्यापक रा० द० रा० की पुस्तक 'दि कन्स्ट्रिक्टिड सर्वे आफ दि उपनिषदाज' एक अमूल्य और सामिक रचना है। उसमें उपनिषदकारों की शिक्षा देने की जो अनेक पद्धतियाँ उन्होंने बताई हैं उनमें से कुछ हैं (१) रहस्यात्मक, (२) सूत्रात्मक, (३) शब्दव्युत्पत्तिनिष्ठ, (४) पौराणिक ऋषयन्तःपरम्परा, (५) इष्टान्तात्मक, (६) समादात्मक, (७) मन्त्रयन्त्रात्मक, (८) आत्मगत भाषणात्मक, तथा (९) शिष्याधिका अनुसारीणी। इन सबमें रहस्यवादी भाव कविता के समान उद्भूत से अलग मिलते हैं। उपनिषद् का काव्य स्पष्टतः भावकाव्य नहीं, विचारकाव्य है। 'ईशावास्योपनिषद्' जैसे सबसे छोटे उपनिषद् को पढ़ने पर जैसा मन पमादन होता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। गांधीजी इस उपनिषद् को अपनी प्रेरणा का आधिस्रोत मानते थे और मराठी में विनोबा ने और हिन्दी में सियारामशरण गुप्त ने इस उपनिषद् के समश्लोकी अनुवाद तथा वृत्तियाँ लिखी हैं। सब उपनिषद् पद्यमय नहीं हैं, कुछ गद्यमय, कुछ गद्य पद्य मिश्रित भी हैं। डायसन ने गृह्यसूत्रोपनिषद् के गद्य के काव्य सौन्दर्य की खूब प्रशंसा की है छोटे छोटे सूत्रमय वाक्य, सरल शब्द और उनमें ऐसा गजब का अर्थ गाम्भीर्य। छान्दोग्योपनिषद् में छन्द शब्द की उत्पत्ति दी है। देवताओं ने छन्द से स्वयं को आच्छादित कर लिया, इसीलिये उसे छन्द कहते हैं (१-४-२)। पाणिनि के अनुसार 'छन्दस्' और 'साम' स्वतः प्रमाण थे, कुछ छन्दस् 'इष्ट' थे और कुछ 'प्रोक्त' थे ('छन्दस् इत्येत' और 'शौनकादिभ्यश्छन्दस्'), छन्दस् का मूल अर्थ था याचना, 'छन्दस्' और 'ऋग्' एक ही थे। 'आवसथ' नामक प्राचीन वैदिक शब्द का अर्थ है घर या समूह, 'अवस्ता' उसी का अपभ्रंश रूप है। अतः छन्द अवस्ता वस्तुतः छन्द आवसथ (छन्दों का समूह) है (दक्षिण दस्तूर होशगजी जमशदजी का जन्म पहलवी कौश)। 'गृह्यदारण्यक' में 'वाक्' अनुष्टुभ मानी गई है, परन्तु साहित्यी का उपदेश गायत्री छन्द में ही बताया गया है (५-१४-५)। उपनिषत्काल तक छन्द शास्त्र बहुत कुछ, निर्णयात्मक अवस्था में पहुँचा हुआ था। उपनिषदों में दन्तकथा, सवाद, उपदेश, रूपक,

अभ्योक्ति, सप्रेत, माननीकरण आदि सब प्रकार की सामग्री का प्रयोग किया गया है* कुछ उदाहरणों से मैं अपनी बात स्पष्ट करूँ

‘जिन प्रकार से ध्यान में तलवार सम्झी भरी रहती है, उसी प्रकार से नखात्र से समस्त शरीर में आमा सन्ध्याप्त है।’ (बृहदारण्यक १।४।७)

‘जिस प्रकार से मृत्तिका के एक घट से इतर सब मृत्तिका विकार जाने जा सकते हैं, क्योंकि विकार में निरं प्राणी के अवलम्बन है, मृत्तिका ही अलग सत्य है, जिस प्रकार से एक लोहे की अनी से सब लोह विकार जाने जा सकते हैं, क्योंकि विकार में केवल प्राणी से अवलम्बन है, लोह ही अकेला सत्य है, जिस प्रकार से सुवर्ण की एक वस्तु से सब सुवर्ण विकार जाने जा सकते हैं, क्योंकि विकार में केवल प्राणी का अवलम्बन है, सुवर्ण ही केवल सत्य है, उसी प्रकार से मैं कहना हूँ यह आदेश है।’ (उद्गा दोग्य ६।१।४ ६)

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् । (प्रश्नोपनिषद् २।६) ‘जिस प्रकार से चक्र के आरे रथनाभि में स्थित होते हैं, उसी प्रकार से सब वस्तु जगत् प्राणियों में स्थित है।’ यही चक्र और आरों का दृष्टान्त ‘सुण्डकोपनिषद्’ (२।२।६) में और ‘बृहदारण्यक’ (२।३।१५) में लिया गया है।

‘छादोग्योपनिषद्’ के तीसरे अध्याय (खण्ड १ स ५) में बहुत काव्य है। यहीं वह रहस्यमयी विराट् प्रतीक मयोजना है—‘यह आदित्य प्राणी देवताओं का मानो मधु है। द्युलोक वृक्ष की शाखा है, आकाश उस पर शहद का छत्ता है और उस छत्ते में का शहद है आदित्य। सूर्य किरणों में स्थित उदक अमर पुत्र है। पूर्व दिशा की किरणें इस छत्ते के पूरक क छेद हैं। ऋचा शहद जमा करने वाले अमर हैं।’ इत्यादि।

पुत्रेयोपनिषद् में ‘अक्षना’ (भूख) और पिपासा (प्यास) यह द्विविधो मानी गयी हैं और उनका आत्मा से सवाद कराया गया है। ‘सुण्डकोपनिषद्’ में आहुति का ऐसा ही सजीवप्राय वर्णन है। यह अब अप्रस्तुत विधान रहस्यवादी संकतवाद के बीजरूप में मिलता है। भारतीय काव्य परम्परा में हिरण्यगर्भ वाला ‘बृहदारण्यक’ का प्रसिद्ध अंश (१।४।१) प्रायण्ड ने अपने ग्रंथ ‘दि इगो एण्ड दि इड’ के आरम्भ में उद्धृत किया है। उसी प्रकार से

'बृहदारण्यक' में ज्यन पक्षों का रूपक कि 'तुम अन्तहान नभ होना युग उड़ जाण उड़ने में, परिचित हा एक न जोना' (महादेवा रश्मि अतृष्टि) ऐसे आनाश म मूमनर वह लौटकर नीड क प्रति आता ह और इस अन्तिम सुपुसाजरा में पिता अपिता हो जाता ह, माना अमाता, लोक अलोक आदि (४।३।१९ २२) बहुत सबल दृष्टान्त ह ।

उपनिषद् मं केवल रहस्य की टोह की भावना ही नहीं, उसे व्यक्त करने में रहस्यवादी कृपिताजाली शैली भी अपनायी गयी है । उपनिषत्कार की यह सतता वर्णामिनी जिज्ञासा, यह चिरौत्सुक्य हम कृपिता मं रहस्यवाद की आगे की मजिर्ला को समझने में बहुत सहायक होगा । भारतीय कृपिता में आरम्भिक रहस्यवाद के मूल में केवल उपनिषद् ही नहीं है । महापंडित राहुल सात्र थायन ने ६३ ५३ के एक पत्र में सुझे लिखा था कि 'सिद्धों पर महायान (बोधिसत्व) सिद्धान्त, योगाचार और माध्यमिक दर्शन के अतिरिक्त अत सलिला तात्रिक धारा का प्रभाव पड़ा । इस अत सलिला म बौद्ध ब्राह्मण दोनों ही धाराएँ सम्मिलित नहीं थीं । और कुछ और भी थी । सभी बातों की तरह यहाँ भी उद्गम 'देस' करना सुरिम्ल है । किंतु शैवा की लिंगपूजा तो बहुत पुरानी थी । 'अलख' 'निरजन' योद्धा के शब्द हं, यह एकाततया नहीं, किंतु निर्गुण उन्हीं का नहीं है । सूफीमत के कितन घट्टे भी अद्वैत वेदान्त द्वारा निर्गुण का गचार था । परंतु शैवमत, वेदांत वाडों का शून्यवाद, तात्रिका (शाक्तों) का समाज द्रोह आदि के प्रभाव भी बहुत स्पष्ट ह । इनको एक एक करके लें तो त्रिसृति की जो कल्पना है, उसके मूल म हम जाना होगा ।

उपनिषद् से 'माता पूर्व रूप' येसा वचन है । उत्तरावण्ड के लोगों की दृष्टि से 'मातर पितरो' रूप होता है । पहले माता का साहा म्य था । रामायण के 'सोमित्री' तथा महाभारत के 'कोन्तेय' रूप इसका क घातक है । 'गन्धर्व' कुमारी का परिग्रह करते ये, देवता, होत्रा शब्द स्त्रीलिङ्ग ही है । 'सूर' वैदिक सविता वाचन शब्द पाणिनि के 'सू' धातु से बना है । 'सूर' या 'सू' का अर्थ है-मा । सूर्या, मित्रा (असुरा की देवी) आदि भी इसी क द्योतक ह । 'मिलिता' असुरा की और 'मित्रा' इराणी लोगों की देवता थी (करे के 'हिराडोटस' मं प्रथम खड, परिच्छेद १३१ के अनुसार) । इसीलिङ्ग पाणिनि 'देवताद्वन्द्व' की

रात पहले करते ह। द्वन्द्व का मूल अर्थ था—स्त्री पुरुष। जर्मन भाषा में सूर्य स्त्रीलिंगी है, नाग की लोककथाओं में भी अद्विती स्त्री है और चंद्र कुमार, लक्ष्मीनी में 'द्वित्रिस' (अग्नि) स्त्रीलिंग शब्द है। मातृसत्ताक समाज पद्धति का यह गहरा असर बाद में भी देवी पूजा के रूप में रहा। 'काली पूजा इन तरह' नामक ग्रंथ में इसका ऐतिहासिक विवेचन है। सूर्य पूजा का ही यह उत्तर रूप है।

लिंग पूजा का सूर्य कुछ इतिहासकारों के अनुसार करनूल के पास का 'रीशैल', पाणमगा और गोदावरी के संगम का 'कालेश्वर' और रास गोदावरी का 'भीमेश्वर' इन तीन लिंगों का प्रदेश 'त्रिलिंग' माना जाता था। परन्तु मूलतः त्रिकलिंग उसका नाम था। 'कलिंग' 'आभ्र' और 'द्रोणकटक' मिलकर त्रिकलिंग बनते थे (जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी, जून १/३७, पृष्ठ ४९१)। हमी ने त्रि + अलिंग > त्रिलिंग बना। इस लिंगपूजा में त्रिमूर्ति की कल्पना का जीज है। 'पशुपति' के रूप में परमात्मा को याद करने वाले भक्तमूर्ति के काल तक गौड़ों का पालक लोकनायक कवि के सामने आदर्श था, उसे अध्यात्म का जामा दिया गया जीव, पशु की भाँति परतत्र है, पशुपाल पशुपति स्वतन्त्र है। यही पशुपतित्व याद में विष्णु का 'गोपाल' बना। इस प्रकार त्रिमूर्ति की तीन शक्तियाँ प्रधान थीं पहली शक्ति काली अर्थात् सहारक, दूसरी, पशुपति अर्थात् सरस्वक, तीसरी, विश्वास उत्पन्न करने वाली। 'काल' का बनाने वाला है सविता (सूर्य)। इससे काली उसका रूप बना। बाद में काल = मृत्यु की भावना भी उसमें जुड़ गयी। शक लोग आर की उपासना करते थे यानी गड्ग या रूद्र की।

शिव के अन्य नामों से भी इस बात का प्रमाण मिलता है जराह मिहिर की 'बृहत्सहिता' में किरात खण्ड नेत्रत्य और ईशान की ओर है। 'महाभारत' के वनपर्व में १४०३ अध्याय में किरातों के राजा का उल्लेख है। शिव किरात का रूप धारण करता था, ऐसी प्रसिद्धि है। रूद्र का अर्थ है, ब्राह्मण ग्रंथों के अनुसार 'सोरोदीत् यदरोदीत् तद् रूद्रस्य रूद्रत्वम्' अर्थात् रूद्राने वाला। याज्ञिकों की अच्छी तरह सरसमत करने के कारण 'किरात' और 'रूद्र' को उहोंने 'प्रमथ' भी कहा। 'वाजसनेय संहिता' में उल्लेख है कि किरातों का राजा श्यबक मुञ्जवान् पर्वत पर रहता है। उसकी अबिका नाम की 'स्वसा'

(सगी बहन, पत्नी) थी। बाद में किसी याज्ञिक ने अपनी लड़की सती पुरुष यज्ञ से ब्याही। फिर भी वह यज्ञों का समुचित आदर न कर सका, यह दक्ष कथा से स्पष्ट है। बाद में डर के मारे याज्ञिकों ने अपने यज्ञ का एक भाग यवकों को देना शुरू किया। किरातों के ग्यारह गण थे, वे पचादश रुद्र कहलाये। धनुर्वाचक 'पिनाक' से यही यज्ञ, रुद्र, प्रमथाधिप, पिनाकपाणि बना और किरात 'कृत्तिवासम्' होने से शिवा 'कृत्तिनासा' बना। अवाचीन शिवाय हिमालय पर्वत पर शैलपत का आरोप है। इसी से 'भागीरथी' उसके मस्तक पर है, वह 'दिगम्बर' है। पूर्व दिशा के अन्त में 'नाग' रहते हैं और पश्चिम के अतम सर्प, अत व ही उसके भूषण हैं। वृषभ या वनगाँव हिमालय की तराई में जुहुन होती है—वे ही उसमें वाहन हैं। इसी से वह 'गिरीश' या पर्वतों पर सोने वाला और पार्वती (पर्वत की शोभा) का पति है। संस्कृत नाटका का शिव अनेक परस्पर विरोधी धर्मों का चूँचूँ का मुरना है। उसमें यज्ञप्रिय ब्राह्मणों ने अयाज्ञिकों से जो कुछ अच्छा मिला, उनका समाहार कर लिया है।

शिव का पुत्र हरब (द्राविड भाषा में हरब का अर्थ है हाथी) और रुद्र हुप। हाथी की पूजा मतर्गा में पहले होती थी। 'अग्नीशिवो' देवता इन्द्र इस प्रकार रुद्र हुआ। श्रुति है अग्नि पूर्वभिर्भूषिभिरीड्यो नृतनैरुत।' ब्राह्मण और क्षत्रियों का परस्पर लाभ था होता था कि ब्राह्मण विजयों पत्रन और क्षत्रियों को अग्नि कहते थे (देखिए 'रघुवश' सर्ग ८, श्लोक ४)। विष्णु दोनों का पोषण करनेवाला बना। याज्ञिकों का विष्णुस्वरूप आकाश और समुद्र का प्रतीक नील रूप है। लक्ष्मी इसीलिए समुद्र कन्या है—दरियाइ डालुआँ की यह उपलब्धि है, विष्णु समुद्र का जमाई है। विष्णु का स्वरूप दो प्रकार का है, अगिरसू गधर्व कृत्ति और 'भृगु' असुर। दोनों लक्ष्मियों में भी अन्तर है। विष्णुपत्नी चंचला, सदा उसके पैरें चोपनेवाली है। लक्ष्मी के आदिगा से प्रायः लोग उस मत्त होते हैं—अतः उसकी इतनी निंदा बाद में सिद्धा ने की। इसी कारण विष्णु महाराज असुरादिकों की पत्नियों के साथ रममाण होत रहे और शास्त्र निर्दल स्त्री वेश भी उन्होंने लिया। त्रिमूर्ति के दूसरे रूप विष्णु के कारण क्षत्रियों की दशा बहुत शोचनीय बनी। 'शिव' और 'शिवा' का अर्धांग योग मन को पावन करने वाला था। विष्णु पितृसत्ताक

गमान पद्धति का प्रतीक है। यह विष्णु सर्प पर मोता है। सर्प याजिकों में अग्रगण्य है। यज्ञपुत्र्य उससे सहारे रहता है। सर्प और 'अग्नि' का बंधन बहुत पुराना है। शाहनामा के रचयिता फिरदौसी ने कहा है कि एक बार 'पशदादाजन' जदा का राजा हुआ अपने आदिमियों के साथ पहाड़ी पर शिकार को जा रहा था। इतने में उसे दूर से लम्बी काले रंग की और जख्दी जख्दी चौकती हुई कोढ़ वस्तु दिखायी दी। उग्र वस्तु के सिर पर दो अँखि रक्त के चश्मे के समान थीं। उसके मुँह से निकलती हुई भाप के कारण बुनिया में अँधेरा छाया हुआ था। यह एक बड़ा भारी अजदहा (सर्प) था। बादशाह ने एक जदा पथर उठाकर उसे अपनी सारी शक्ति लगाकर रार्य की ओर फका। वह पथर अजदहा के सिर पर लगा और वह चूर चूर हो गया। वह पथर उससे सिर पर लगने के बाद पास के दूसरे पथर से टकरा गया और टकराते ही उसमें चकमक (अग्नि) पैदा होने के कारण पास की घास जल उठी। हुआ और उसके साथी इस नयी जाति के तेज को आगे आता देखकर उसे लेने गये और उससे जल गये। यह तेज क्या है, इसका मान होते ही बादशाह ने उसे और भी अधिक प्रखलित किया और उसका नाम 'आतिश' या 'अग्नि' रखा। इस प्रकार अकस्मात् अग्नि का आविष्कार हुआ। बादशाह ने उसके लिए विशेष भवन बनाया और उसमें उसकी स्थापना की। अग्नि को प्रसार का होता है—पहला निराकार या अदृश्य अग्नि, जो मध्यबिन्दु में स्थित होकर आत्मसूर्य में छिपा हुआ है। दूसरा प्रकट जागतिक अग्नि, जो सृष्टि और सूर्य में सस्रूपों में रहता है। अशोई की शिखा के ऊपर आकाश के ऊपर निराकार प्रभु की दृष्टि में पकन वाली ज्योति को आग्ने अहूरमजद को प्रदीर्ण करने वाले अपना सिर अर्पित करते हैं। अग्नि ईश्वर का पुत्र है। (जरथुष्ट्र धर्म की अग्नि उपासना—नुरीमान सोरावजी गोलावाला, कल्याण-साधनारु पृष्ठ ६७५-६) कश्यप सरोवर के पास कद्रु नाम का एक गाँव था। कुदुश बेहिस्तुन शिला लेप, स्तम्भ २, परिच्छद १२ के अनुसार यह पीगिडा देश में था। कद्रु प्राचीन सर्प भूमि थी। आजकल का कुर्दिस्तान आरमीनिया के निकट है। कद्रु, कद्रु या गरुड का अपभ्रंश है। पुराणों के अनुसार कद्रु और विनता कश्यप ऋषि की पत्नियाँ थीं। शेष काद्रवेय हैं। वह अपने कई बन्धुओं के साथ कद्रु छोड़कर विष्णु से जा मिले। काद्रवेय यज्ञ विद्या का

तिरस्कार करने वाले थे। शेषादि याज्ञिक थे। गरुड विनता भ रहने वाला 'गरुडम्' ('उहुत से छोटे रखने वाला) आ। गवर्षों की सहायता से गरुड ने विनता को क्लेश मुक्त किया। गरुड इस प्रकार से विष्णु का वाहन बना। शिव और विष्णु में इस प्रकार से अन्तर पडा और विरोध बडा। शिव श्वन, विष्णु नील, शिव नि शेष भुवन मण्डल का स्वामी हे तो विष्णु कंठ ऊपर क विष्णुपद का, शिव के सर्प और विष्णु क गरुड प्रिय बने, शिव एकपत्नीव्रती हे तो विष्णु की अनेक स्त्रियाँ होने पर भी वह परस्त्रिया पर आसक्त जाता हे, शिव यज्ञ का मथन करने वाला ह, विष्णु स्वय यज्ञपुरुष, शिव मदन दहन करता हे, विष्णु रति लम्पट हे, शिव न अधोग शिवा का स्त्रिया, विष्णु ने पत्नी को पाद सवाहन के लिए दासी नियुक्त किया। इस प्रकार से 'सूर्य' आर 'हिमालय' शिव बने और 'आकाश' आर 'समुद्र' विष्णु।

ब्रह्मा त्रद स दोना को मिलाने क लिए तपुस्मरुत्विग 'ब्रह्म' से मिला। पुष्टिम ब्रह्मा वेदपुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ। वेद चार ह तो ब्रह्मा चतुर्भुज हे। कुरुक्षेत्र की प्रसिद्ध नदी सरस्वती के किनारे पर कइ मन्त्र मिले, अत यह वाङ्मय की अधिदेवता बनी। ब्रह्मा उसका पति। यज्ञ के प्रभाव से 'प्रजा' मिलती हे अत यह प्रजापति बना। यज्ञ पर 'सृष्टि' का अधिरोपण होकर ब्रह्म बना नाभि और गर्भाशय एक ही हे। नाभि=मारण, उनक उत्पादक। ब्रह्मा नाभिजन्मा हे। विष्णु 'नाभि' हे, यानी जगत का आदिमारण ह। योगिया की भाषा म नाभि कमल हे, अत ब्रह्मा कमलजन्मा हे। 'ब्रह्म' 'सज्जलानिति' अर्थात् 'तज्ज' और 'तल्ल' आर 'तदनिति' हे अर्थात् उससे बनने वाला, उसी मं लय पान वाला, उरी म सास लेने वाला हे। इस प्रकार ने 'त्रैगुण्यविषया वेदा निखैरुण्यो भगवर्जुन' (गीता २-४५) का आधार त्रिमूर्ति बनी। यही त्रिमूर्ति दत्तात्रेय कहलाई, जिसके नाम से त्रद मे त त्रां की रचना कही जाती हे।

'त्रिमूर्ति' की कल्पना का यह आरम्भिक इतिहास हुआ। इसी म आगे चल्कर शाकर अद्वैत और मायावाद तथा प्रोद्धा का श यज्ञ आकर मिला और तान्त्रिओं तथा शाक्तों का समाज त्रिदोह इसम शामिल होकर अन्तत एक अद्भुत प्रकार की कविता का ज म हुआ, जिसे हिन्दी क निर्गुण काव्य

की भारभक्त रचना सिद्धा की कृतिया कहते हैं। इन प्रभावों का कुछ विस्तार में अध्ययन आवश्यक है।

उपनिषदों का 'पूर्णपूर्णमिदम्' यदि एक भरा हुआ शून्य है, यात्री • है, तो जौड़ा का शून्य उसीका खोपला रूप मात्र • है। आजकल की अस्तित्ववादी परिभाषा में यह तो वस्तु सत्य को देखने के दो दृष्टिकोण मात्र है। जो भरा हुआ है, वह ग्यात्री भी है, क्योंकि वेदातिर्या के मत से यह निरा 'अध्याय' है, दृश्यम है, और जौड़ों के मत से यह केवल विन्दुओं का स्रवण है।

वेदात्तिया का मायावाद उदा विवृत है—'माया महा उगिति हम जाना'। द्वाशनिक्त प्रतलाते हैं कि माया एक स्मि की जादूगिरी है। जादू करक जादूगर उसम नहा फँसता, उन्नी तरह से यह माया है 'यथा स्वय प्रमारितया मायया भायावा त्रिपि कालेषु न सस्पृश्यते, अवस्तुत्वात्, एव परमात्मा अपि समारमाश्रया न सस्पृश्यत इति।' (शाकरभाष्य २-१-९)। 'निघण्टु' में माया को 'प्रज्ञा' के ११ पर्यायों में से एक माना है। यास्क ने भी 'निरुक्त' में माया का इसी अर्थ में उदाहरण दिया है। 'यजुर्वेद' के ११२ अध्याय के ६९व मन्त्र में 'आसुरी माया' शब्द आया है। इस पर उद्भट का और महीधर का जो भाष्य है उसमें भी माया को प्रज्ञा का समानार्थी माना गया है। 'ऋग्वेद' में माया शब्द ७५ बार और 'जयर्वेद' में २७ बार आया है। उपनिषदों में यह शब्द नहीं आता। केवल 'बृहदारण्यक' में एक बार प्रयुक्त है 'इन्द्रो मायाभिः पुरुष ईयते' (२।५।१९) अर्थात् इन्द्र मायाओं द्वारा पुरुषरूप हो गया। वस्तुतः यह 'ऋग्वेद' का एक पूरा मन्त्र (६।२७।१८) उर्जा का त्याग उद्भूत है। मूल में तो 'माया' केवल बुद्धि या प्रज्ञा थी वह गौडपादाचार्य के समय आकर छल स्रपट के अर्थ में कैसे हो गई? और मधुसूदनाचार्य ने 'पंचदशी' में यहाँ तक कह डाला कि—'मायात्पया कामधनोर्वरसौ जीवेश्वरा बुभो' (श्लोक २३६) अर्थात् 'ईश्वर और जीव दोनों माया नामक कामधेनु के दो बछड़े हैं।' यहाँ आकर माया दुर्युध बन जाती है, वह अतत्पर्य है—'न चोदनीय मायाया' (१३७)। इस सम्बन्ध में 'अद्वैतवाद' ग्रन्थ में प० गंगाप्रसाद उपाध्याय लिखते हैं कि यह वाद में जो माया का अर्थ दिया गया है वह बौद्धों का प्रभाव है। उन्हीं के शब्दों में—'हमारी अपना धारणा

यह है कि बौद्धों के माध्यमिक सम्प्रदाय के समय मायावाद ने जोर पकड़ा, यह लोग शून्यवादी थे। गौडपाद तथा शंकर ने इसी वाद को कुछ ~~अर्थ~~ या उलट पलटकर एक नया रूप दे दिया।' (पृष्ठ ११६)

सो बौद्धों के शून्यवाद का भी प्रभाव भारतीय काव्य के रहस्यवाद पर अवश्य पड़ा। माया का यदि इन्द्रजाल अर्थ किया जाय तो जादू में तो लेने की वृत्ति अधिक होती है। पब्लिन अण्डरहिल ने अपनी 'मिस्टिसिज्म' पुस्तक में पृष्ठ १४ पर लिखा है कि 'मेजिफ वाट्स टु गेट, मिस्टिसिज्म वाट्स टु गिव' (जादू लेना चाहता है, रहस्यवादी लेना)। बौद्धों का सारा धर्म आरम्भ से बहुत बुद्धिवादी था, तर्काग्रित था। प्रसिद्ध दार्शनिक ने जहां 'तर्कप्रतिष्ठानात्' कहा, वहां बौद्ध निरी श्रद्धा पर विश्वास नहीं करना चाहते थे। परंतु आत्मा और परमात्मा दोनों के नकार के बाद बौद्धों के पास जन साधारण में फेंकी भक्ति भावना को, रागात्मक सहज विश्वास वृत्ति को सतुष्ट करने का मार्ग कोई नहीं था। जन प्रतिक्रिया के रूप में निकले तान्त्रिकों के रामाज की सुस्थिर नीति को अमान्य करने वाले विद्रोही वामाचार। इसमें उत्तर शैव और उत्तर बौद्ध मत का मिश्रण था।

इस प्रकार से तंत्रवाद को प्रेरणा के स्रोतों में चतुर्ण और प्रमाणा में पंचम स्थापना मिली। तंत्रा के विकास का समय छठी सातवीं शताब्दी है। 'तंत्र' शब्द का मूलार्थ था जाटा, लच्छी या गुथी। इसका उल्लेख ५०० ईस्वी के 'अमरकोश' में नहीं है—यानी तंत्रवाद का रचनाएँ हैं। द्वाकर ने ६४ तंत्रों का उल्लेख किया है। इनमें से उपलब्ध मुख्य तंत्र ग्रंथ हैं 'तन्त्रकामुदी', 'शक्तिसंगम', 'रुद्रयामल', 'कालिका', 'कुलार्णव', 'तन्त्रतरंग', 'महानिवाण' आदि। अन्तिम दो के अंगरजी अनुवाद जार्जर एवैलोन ने किए हैं। ये तंत्र दत्तात्रेय नामक ग्रंथकार की रचनाएँ हैं। मोनियेर विलियम्स ने अपने ग्रंथ 'ब्राह्मणिसम गण्ड हिन्दूइज्म' में कहा है कि 'वेद, शास्त्र, पुराण तो सामान्य स्त्री के समान हैं। यह रहस्यमय शैव विज्ञान एक कुलीना स्त्री के समान है।' बौद्धों को निगम मानकर तन्त्रों को जागम मानते थे। इनके रचयिता कुल्लूक भट्ट थे। इसमें दक्षिणाचार और वामाचार दो पक्ष पते। वामाचार शत्रों तक सीमित थे। बाद में पश्चिमी भारत के जैनिया ने अपने त्रतोत्सवादि उपचारों

सन्तों का साजु विधियाँ लीं। व विधियाँ नेपाल और तिब्बत तक जा पहुँची।

तन्त्रों में निरुद्ध और सुख जैसे दो रूप ब्रह्म के बताये गए हैं, जो निर्गुण और सगुण के समानार्थ हैं। इनकी विधियाँ में मन्त्रों का, अक्षरों का, त्रीज, त्रय, त्राचक्र, वज्रचक्र, शुद्धा आदि का बड़ा घटाटोप है। इनकी रहस्यमयी धर्म गीतों में गति पाति या गति या कोई अन्तर नहीं था, सती की प्रथा भी नहीं थी। एक प्रकार से बाह्य प्रथा में यह शक्य मत ही था। इसके सूत्र निम्नलिखित हैं 'सद्ग' और तन्त्र 'रगु' कहलाय। तिब्बती में सुरक्षित तन्त्रों में 'गडर्म पुण्डराक' और 'कारड्यूह' अर्थात् 'महायानसूत्ररत्नराज' हैं।

इन तन्त्रों के अधिक विस्तार में न जाकर भक्ति के प्रथम मार्ग का और शक्य तन्त्रों का सूत्र समीक्षण जाने कसे हुआ यह दर्शनीय है। ए.पी.एम. 'जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी' के जुलाई १९११ के लेख में पृष्ठ ७३ पर लिखा है कि—'भक्ति के प्रथम की परिणति सकाम प्राप्ति में भी जाता है, एक अधिक रूप में भक्ति की जो व्यञ्जना हुई है, उसकी अन्वेषण नहीं जा सकता।' अन्वय (१४८६-१५३४) के पथ में इत्यं सुररम का मुक्त प्रशंसा है। उस पथ में भक्त स्वयं कृष्णरूप होकर अपना प्रेम उडेलता है। चण्डीनाम (१४वा शती) का महजिया पथ इन्हीं वामाचारी वादों में प्रभावित पथ था। दिनेशचन्द्र रौन ने अपने 'जगली कृष्णवेज पण्ड लिटरेचर' में पृष्ठ ४३ पर लिखा है कि चण्डीदास की उक्ति है 'मित्रो! सुनो, मुक्ति स्त्री के प्रति प्रेम द्वारा ही पाई जा सकती है।' पूसा ने अपने फ्रामीसी ग्रन्थ 'बोडीइडम जोपानियन्स सुर ला हिस्तरी द ला दौगुमेतीक' में पृष्ठ ४०२५ पर कहा है कि 'तन्त्रवाद का आधार ही इस सिद्धान्त पर था कि सय मायाया म—जब कि सब कुछ माया है—यह स्त्री नाम की माया सबसे दिय है, मुक्ति के लिये यह सबसे जरूरी है। 'स्त्री पूजा' सर्वोच्च देवता की पूजा है। अतः उसमें कोई पाप या कलक या बुराई नहीं है, सगोत्रीय के साथ समोग तक में। अतः 'आद्या काली की पञ्चमकारों से जो पूजा करता है या उसके ४०० नामा का जप करता है, उसके लिये कुछ भी अप्राप्य नहीं है।' (महानिर्वाण तन्त्र) इस प्रकार से शक्य मत को भी रहस्यवाद में एक स्थान मिला।

डा० पीताम्बरदत्त बडवाल अपने 'निर्गुण का य धारा' नामक अत्यन्त मूल्यवान ग्रन्थ के अंत में परिशिष्ट में तान्त्रिक गभाजा पर नाट्य दत्त हुए हैं। ह कि गोरखनाथ ने तान्त्रिक गभाजा को पूर्णतः टोड़ नष्टा दिया था, परन्तु उनसे परिवर्तित अवस्थ में उपस्थित किया। उसका अनुसार योगमिद्धि में तन्त्रीकी के सहजाली मराली दो रूप थे। इन्हें का उल्लेख 'गारुडपद्धति' में पृष्ठ ५१ पर हुआ है— 'पित्रोक्षणवाशप्रथमान्नुधारा' इत्यादि। अनेक बीभर्त प्रक्रियाओं के कारण कर्त्री को शाक्त मत पसन्द नहा था, वह उसका तिरस्कार करता था। परन्तु तान्त्रिक मत का एक अच्छा पहलू भी था जिमसे निर्गुण सतों ने पुनः कुछ सीया। पट्टचक्रा का सारा जगदब्याल और आर जाल निर्गुणिया को नाथ योगिया से मिला। इसकी विस्तृत याग्या डा० हजारासाद द्विवेदी के 'नाथ संप्रदाय' मिलता है। परन्तु नारा का पारस मानन न और मूल मानने का तार कनफटा में मिलती है 'नारी अर कह पारस दुहै। जाना मोहि शिष्य पह लइहै।' और कतार का पद है 'पारस पान बाल कह नीजे। कामिनि रह पारस हे सेवा।' तब धरमदास ने प्रश्न पूछा है —

सकल नरक नारी ढिग कहिए सोई नरक गुरु कैस चहिए।

इस प्रकार से 'अमरमूल' में कतार न 'पारस' का प्रत्यक्ष रूप दिया है। हमी का प्रभाव सिद्धा की कविताओं में भी मिलता है।

सिद्धा की कविता हिन्दी के आदिकाल के रहस्यवाद का प्रस्फुटन है। उस समय के रहस्यवाद में और आज कल के थियोसोफी ब्रह्मसमाज प्रभावित राधीन्द्रिक रहस्यवाद में या महादेवीजी के आपत्तिपदिक रहस्यवाद के 'येरीगाथा' की मारफत पुन स्मरण में या अरविन्दवाद में बहुत अन्तर आ गया है। इस परिवर्तन में ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का और विचारधाराओं का प्रभाव हमें बराबर मिलता जाता है। अत आधुनिक रहस्यवाद को समझने के लिए भी प्राचीन रहस्यवादी परम्परा का सुसंग्र अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

'ससीम ज्ञान, असीम ज्ञान की खोज का अभ्यास अनन्त काल से कर रहा है, परन्तु उसमें शांति नहीं मिली। अतएव असीम हृदय के अन्वेषण के लिए ससीम हृदय उत्कण्ठा से निकला। यहीं रहस्यवाद का मूल उद्गम है।

ख़्मून जगत् मं जो ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद है, भावना जगत् म वही रहस्यवाद कहलाता है। भाव प्राणरथ ज य तद्रूपशालता म रहस्यवाद के प्रादुर्भाव का रहस्य है। परन्तु काव्यगत रहस्यवाद का सम्बन्ध ज्ञान से न होकर हृदय से है। हिन्दी रहस्यवाद का वर्तमान स्वरूप पश्चिमीय प्रतिक्रिति है यह सभी मानते हैं। शुक्लजी का भी यही मत है। ' (सद्गुरु शरण अजरयी त्रिचार विमर्श, पृष्ठ ४५) । इसी प्रबन्ध में वे आगे बौन साहज का मत उद्धृत करते हैं कि (१) दैवी भाव, (२) दैवी ज्ञान तथा (३) दैवी उपासना रहस्यवाद की तीन स्थितियाँ हैं। काव्य गृहीत रहस्यवाद पहली स्थिति की अभिव्यक्ति है। दर्शन और काव्य का सूक्ष्म संयोग रहस्यवादी कविता म मिलता है। अलग अलग रहस्यवादियों का अपना अलग अलग दृष्टिकोण रहा है। जैसे मलिक मुहम्मद जायसी ने कहा था —

सुन हस्ती कर नाव, अधरन टोवा धाय के।

जहि टोवा जेहि ठाव, मुहम्मद सो तसे कहा ॥

'हिन्दी काव्य धारा' नामक अमूल्य अपभ्रंश का य संकलन की भूमिका में महापण्डित राहुल साठ्यायन ने धार्मिक और सांस्कृतिक अवस्था का जो विशद चित्र उपस्थित किया है, उससे पता चलता है कि सिद्धा में समाज द्रोह की भावना बढ़ने के ऐतिहासिक कारण क्या थे। उनके शब्दों म 'बौद्ध धर्म चलाचली पर था, उसकी भीतरी कितनी ही कमजोरियाँ उसके हितचिंतकों को मालूम होने लगी थीं, तो भी सबसे बड़ी कमजोरी—सामाजिक समस्या से हाथ खींच लेना—की ओर उनका ध्यान नहीं गया। मठों के अप्राकृतिक जीवन म जो बहुत सी तुराहियाँ बहुत भारी परिमाण में घुस आइ थीं उन्हें देखकर कुछ विचारका ने सोचा—हम इस ढांग को हटाना चाहिए और मनुष्य को सहज स्वाभाविक जीवन पर लाना चाहिए। सरहपा के वचनों से ज्ञान पढ़ता है कि वह भोग स्वात य को अस्वाभाविकता या अति में नहीं ले जाना चाहता था। उसने मन्तर तन्तर, देवी देवता पर भी ठोकर लगाई है। मगर ज्ञान पढ़ता है भीतरी बाहरी विरोध बहुत जबरदस्त था इसलिए सरहपा का सहजयान हजारों मिथ्या विश्वासों और ढांगों के पैदा करने का कारण बना।' (पृष्ठ ३५)

इस प्रकार न सिद्धांत के रहस्यवाद की कुछ मालिक विवेचनाएँ थीं—कि तो वे कविता के रूढ़ संकीर्ण लक्षणों को तोड़ रहे थे, उन्होंने अपना जीवन पर अधिक जोर दिया और दर्शन के उच्चतम रहस्यों को अनिसरलीकृत किया, जिसमें वे 'अलग निरजर' या 'गौड़ों के निवाण का ही विशेषण' निकला। वे पाखण्ड मात्र के विरोधी थे और घोर 'यक्तिवाद' भी थे। इन बातों के कुछ उदाहरण सिद्धांत की रहस्यवादी रचनाओं में से उद्धृत करता हूँ

(१) जादवी सदी के सरहपा ने कहा
 'मन्त ण तन्त ण छेज ण धारण ।'
 'मन्त वि रे यह । वि भम काण'

और

'आह ण अन्त ण मन्त णउ, णउ भव णउ णि-राण ।' प्रकार का स्वर कितना प्रधान है।

(२) स्वयम्भू की रामायण में एकाकीपन या 'यक्तिवाद' का स्वर बहुत प्रधान हो उठा है

एकैग कणुपउ विदुरकाले । एकैग सुयेवउ उरपयाल ॥
 एके । एनेउ तनि गियाए । एनेग एउवउ पिय रिऊए ॥
 एऊहाँ ज पाउ एकटा ज धम्भु । एऊहाँ ज मरणु एकहा ज जम्भु ॥

(३) सुसु-रूपा, गुण्डरीपा, डोगिवपा आदि नवी सदी के सिद्धांत में उद्वेगप्रतिभा कहकर सुता चालों को चमत्कृत करने की भी प्रवृत्ति है, जैसे यह कविता यदि आधुनिक सुन्दर छन्द में लिख दी तो आप समझेंगे कि किसी 'सुरियलिस्ट' कवि की रचना है, परन्तु इसका मूल नीचे दिया जाता है, यह सुसु-रूपा (शांतिदेव), नालन्दावासी की ८०० ईस्वी की रचना है

रात जभियारा ह
 मव ओर चूहे ह ।
 बड़े उटे अमर कहलाने वालों का
 कुतुर कुतुर खा गये चूहे ।
 मारो रे मारो, जोगी हवा करो बन्द,

६ हि० म०

चूहों भरा हवा है ।
 जाना जाना बन्द हो ।
 काल यह चूह ह, न बाल नहीं रग,
 आममान से उट्टे, पी गये सत्र अमृत
 चूहे बहुत अचल हे चंचल हैं,
 अल्ल उस्ताग न जाना
 तत्र तत्रे हुए ।

(मूल—गिनि अधारी सूना करन अचारा । अमिज अत्यज सूसा परअ अहारा ॥
 मार रे जाह्या । सूसा पत्रा । जण तृटइ अवणा रावणा ॥
 काला मण उहण पाण । गअणे उठि करअ अमिज पाण ॥
 तत्र मूणा अत्रल चंचल । सत्रगुरू वात करह सो निच्चल ॥)

(४) का नोऽज्ञानयन विषयक गीत सुझ मिले ह जो त्रिलकुल भिन्न
 नश फल परिस्थिति पाले ह । उतम रहस्या मरुता का कसा साथ हे यह
 मिद्ध करन के लिए उ ह प्रस्तुत करता हूँ । ८४० ईस्वी क डोशिया भा चर्यापद
 स राग धनसी हे

गगा नमुना मोझ हड गां । तेंह टुडिलि सातगी पोडना लील पार करड ॥
 वाहुतु डोम्नी गहलो डोम्नी, वाट भइल उछारा ।
 सबगुण पाअ पण जाडए पुनु जिनडरा ॥
 पाच बंडुगाल पड ते मांगे पीठत काच्छा बाँधी ।
 गअण वग्वोल मिच्छह पाणी न पइसइ साँधी ॥
 चन्द सज्ज तुह चक्रा मिठि सहार पुलि डा ।
 वास नहिं तुह भाण न चेवह वाहतु द्रन्दा ॥
 कवडी न रेइ, बोडा न लई सुच्छडे पार फराई ।
 जो एव चडिया गहज न जाइ, कूल कूल जुझाई ।

इस अपभ्रंश गीत स तेरहवीं सदी की सन्त कवि जनाचार्य के मराठी पद
 की तुलना की जा सकती हे —

जहाज तारि तारिलें । शेवटीं उगमासी आले ॥ १ ॥
 भाव शिडाभी लाविला । नाम फरारा सोडिला ॥ २ ॥

कथा भरीयेले कण । ध्यारे नका दन्यवाणे ॥ ३ ॥
 एना मनाचा विसार । आधीं देखनि निर्धार ॥ ४ ॥
 कोण देतो फुकासाठीं । आर्तभूत न्हाव पोटीं ॥ ५ ॥
 आर्तभूत हा रे । जनां म्हण केण ध्या रे ॥ ६ ॥

सिद्धों की रहस्य कविता के वाद निर्गुण काव्य धारा और सूफी गभगात्री सक्षित चर्चा भी अप्रामाणिक न होगी ।

नैहर और ससुराल के प्रतीक मयोजन का एक सकलन सद्गुरुद्वारण अवस्थी ने प्रस्तुत किया है । ऊपर में से कुछ उदाहरण देखिए
 'नैहर में बाग लगाइ आई चुनरी,' 'भैरो चुनरी में परि गौ बाग पिया ।'
 'का लै नैनी खुसग घर एरो,' 'आयो दिन गोने को मन होत हुलास ।'
 'खेल रे नैहरवा टिंग चांगि,' 'हरि मोर पीव में राम की बटुरिया ।'
 'नोंको पीव मिलेने, पृषट के पट गोल रे ।'

(१) मिलाग कठिन ह, जैसे मिलोगी पिय जाय ।
 मसुरि सोचि पग धरा जतन मे वार बाग डिगि जाय ।
 ऊंची गल, राह रपटोली, पाँच नही म्हाराय ।
 लोक-टाज, कुल जी मरजादा वैचन ही सकुचाय ।

(२) दुलहिन गावहु मगलाचार,
 हमारे घर आये राजा राम भरतार ।

(३) गालम नाओ हमारे गेह रे,
 तुम दिन दुखिया देह रे ।

(४) चली मे खोज में पी की । मिटी नहीं सोच यह जी की ॥
 रट्टे नित पास ही मरे । न पाहूँ यार को हरे ॥
 कटी जग रैन की क्षौई । लरयो तज गगन में सौई ॥
 कबीरा शब्द कहि भासा । नयन में यार को वासा ॥

(५) छोट नह नेह लागि तुमसों, भइ चरनन लवलीन,
 तालामेलि होत घर भीतर, जैसे जग त्रिन मीन ।

सेजमिया पैरस भई हसको, जागत रेन विहाय,
हम तो तुम्हारी दायी मज्जा, तुम हमरे भरतार ॥' इत्यादि

इन सप्त उदाहरणां म पर पुरुष के प्रति प्रीति का बड़ा व्यक्तान है। अपने कुछ अष्टाद्य तत्का के सा १ चन्द्रगला पाण्डेय ने अपने 'विचार विमर्श' म कवीर को 'निर्वीर' या आजाद सूफी माना ह। उनके मत में कवीर बरया पुत्र थे। 'लै राखो रामगनिया नाउ।' पूरपिला भरतार आदि क उदाहरणां स चन्द्रगलाजी ने कवीर को 'छोठे मटफुन' म विश्वास करने वाला माना है। यह पर पुष्परति परम पुरुष प्राप्ति क निरुद्ध का मार्ग माना जाता रहा और उसका मिन सभी सप्त कवियों म मिलता ह। मराठा सप्त कवियों म एकनाथ और तुकाराम क भो एस पद ह चिनस गापा अपने आपको 'म निर्लजा हो गई' कहता है।

'सौरी झाल सौरी सगे। जाइ ! झाल त्याची नारी ॥' (शुपद)

और

'सौरी झाला जाई ! लागला मतापाया ॥'

सानवा शक्ती क लभिल कवि सप्त दर १ अपने एफ पद में शिव को परम प्रभिक और भक्त को प्रेमिका माना ह—'पुणई वृत्त रिल है। उनम पकी है। गेम ने मुक्त पर अपने स्पष्ट चिह्न अमित क्रिये। क्योंकि वह जिसने मरा टुप्य दूर किया, वही अनंत दुरा छोड गया। सनात्तनखुडि उसकी सुदरी प्रिया ह। ओर वहाँ उसका छोटा दाम रहता है'

बदांत का प्रभाव उमर खय्याम पर स्पष्ट ह हमें दिखाइ देता ह। खैय्याम ने तो यहाँ तक कहा है अपनी एक क्वाइस—'व कहते हैं मुसलमान क लिये पीता उचित नहा ह। म पूछता हँ मुसलमान को जे कहाँ खोजू ?'

सुन्नियां न ईरानी-दर्शन के धर्म सशोधन को कृतीति क कारणों से बढ़ावा दिया। खलीफा सामून के जमाने म स्वय को पाखडी कह लेना एक फैशन बन गया। इमी स उसे 'अमीरिल् टाफिरिन' कहने। उनके मोतज़ज़हा सप्रदाय ने सप्त चीजा पर सन्देह किया, धर्म की त्याज्य बाता का उपहास किया। 'इब्रान उस्ताफा' ने ज्ञान सग्रह का कार्य किया। उसक इक़ावन प्रयन्धों का

सूफियों पर उदा प्रभाव पड़ा है। सगुणोपासना, अवतार, पुनर्जन्म, पुनरात्मन्य आदि बातों के बीज माना इरान के रक्त मंत्रे। जरा अनुकूल संधि मिलते ही हल्किया, तनसुलिया, मज्दकिया, सविया, तुरमिया आदि रूपों में वह नार नार आगे आता रहा। आरू मुसलिम, विहाफरीद, अलमुकाना, वायन, सिनाद, अल हल्लाज, अब्दुह्या, सैमून आदि 'प्रेषिता' का इतिहास यही प्रतयाता है कि नार नार फिर कुचले जाने पर भी अतताश्यादि तर्जों का पुनर्निमाण होता रहा। इन सब पत्रों का उन्मय खुरापान भई हुआ। अब काठिन्यों ने 'अत्तरुल मिलाद' में इरा श्यान ता म रूमि कहा है।

उत्तररस्ययाम की भावधूमि पर अद्वैतवाद का उदा प्रभाव है। अब वह लिखता है

'The drop wept for his severance from the sea
But the sea smiled, for, 'I am all, said he,
Yea, God is all in all, there's none beside,
But one point circling seems diversity'

प्राय इन्ही तरह की कल्पना महाराष्ट्र कवि सत ज्ञानेश्वर ने की है 'गंगा का प्रवाह समुद्र से जा मिलता है, पर राह में किनारे के पेड़ों का सिंचन भी करता है।' (ज्ञानेश्वरी १६-१९९)

प्रो० निकोलसन ने सूफियाद पर एक मार्मिक ग्रन्थ लिखा है। उनके अनुसार सूफा सन्त आरम्भ में त्रवक्ष्य और उन पर ईसाई धर्म का वहा प्रभाव रहा है। उ होंने 'आनवादियाँ स देवी शक्ति के आन्धन्तरिक ज्ञान की लक्षा ली और जोर्दा से माला को। सूफियों के चार विधान थे (१) यात्रा, (२) आलोक और जान व ('स्वाटनेस एण्ड लाइट' से साम्य वैलिय), (३) ज्ञान, (४) देना प्रेम। इस प्रकार से सूफियों में दो बातों का मान्यता हुत स्पष्ट है (१) पगमतत्त्व चित्स्वरूप है, (२) जगत् अथात् मात्र है। ही बात जायसी ने भी कही थी

'देखिए एक कोतुक हों रहा, रह अत्तरपट पेनहिं अहा।' इत्यादि।

निर्गुण सन्त कवियों की एक बात और थी। वे साधना पक्ष पर अधिक

ज्ञोर देने थे । व वण-भेद भी नहीं मानते थे । उनके लेखे उपनिषद् की यह बात बहुत अर्पणरती थी—'न मेधया, न बहुधा श्रुतेन । नायामात्मा प्रवचनेन लभ्य ।' नरसी मेहता का यह पद इसका साक्षी है

'ज्यों लगी आतमा तत्त्व की यो नहीं त्यागी लगी साधना सर्व जूड़ी ।'
ओर उसी पद में

'शु ध्यु वद व्याकरण वाणी वध, शु य्यु राग ने रग जाप्ये ?
शु य्यु सट दरशन सेव्या यकी, शु य्यु वरणना भेद जाप्ये ?

ओर यही बात तुकाराम ने अपने अभंगों में बहुत खोलकर कही है
पवित्र तं कुळ, पावन तो देश, जेथ हरीचे दास जन्म घेती ।
कर्म--धर्म त्याचे जाला नारायण, त्योचनि पावन, तिन्ही लोका ॥
वर्ण--अभिमान कोण जाले पावन, एस द्या सागून, मजपाशी ।
अत्यजादि योनी तरली हरिभजन, त्याची पुराणे भाट झाला ॥

अध्याय ५

प्रस्तुत प्रबन्ध की विवेचन-पद्धति

जसा कि प्रथमा गाय से चिन्तित होगा, इस तुलनात्मक अध्ययन द्वारा मराठी और हिन्दी भाषाभाषी साहित्य में जो निर्गुण गत-वाच्य मिलता है उनमें विशेष रूप से स्पष्ट दर्शन कराना उद्दिष्ट है। गद्यगोप्य उन कथियों पर जो प्रभावादि हुए हैं उनका भी उल्लेख आवश्यक हो जाता है।

अतः, हमारा विवेचन का आधार मुख्यतः वस्तुनिष्ठ तथ्यसंकलन तथा उनमें सप्रथस्थापन करना है। सत्यबोधन की विशुद्ध इच्छा इसका मूल मंत्र है। अतः किसी भी भाषा, जाति, संप्रदाय अथवा प्रदक्ष का मिथ्याभिमान यहाँ वाञ्छित नहीं है। सत्य को शुद्ध रूप में न देखने दान वाली वृथा भावुकता और मिथ्या अतीत-गौरवाभिमान अथवा अर्थाशून्य अतीतादर को यहाँ स्थान नहीं दिया गया है। सबसे पहले इस खण्ड में हमने विषय मयादा और मूलभूत परिभाषाओं का प्रश्न उठाया है। कोई भी ज्ञान विषय अथवा ज्ञान-विषयों से कटा हुआ नहीं होता। यहाँ तक कि परमज्ञान का जो विषय निरुपाधिक निर्गुण ब्रह्म है उसका भी विचार जीव जगत् के दृष्टिकोण से सापेक्षभाव से किया जाता है। इसलिये अद्यपि हमारा विषय है साहित्य और उसमें भी दार्शनिक विच्छिन्नियुक्त काव्य, तथापि उसके अध्ययन में साहित्य जित देश काल परिस्थिति में निमित्त हुआ, उस अनुबन्ध का सम्यक विचार, साहित्य निर्माता की मानसिक स्थिति अर्थात् उसके मनोलोक की रचना पर होने वाले विभिन्न चिन्तन परम्परागत संस्कार, उस व्यक्ति और उसके सामाजिक परिपार्श्व के बीच के सम्बन्ध, जो कि संघर्ष अथवा समन्वय अथवा दोनों के परस्पर सघात से निमित्त एक तीसरे ही प्रकार की गतिविधि के होते हैं, इन सबके सम्मिलित प्रभाव आदि का वैज्ञानिक विवेचन अपेक्षित है। उसी प्रसंग में दर्शन, इतिहास (धर्मैतिहास, समाजैतिहास आदि),

मानवविज्ञान, मनोविज्ञान और साहित्यशास्त्र की आधुनिक कसौटियों का माधुर ग्रहण करते हुए चलना आवश्यक है। अन्यथा हमारा विवेचन आधुनिक और मौलिक नही होगा।

सबसे पहले निर्गुण सन्त काव्य को परिभाषित किया गया। सन्तों के सामाजिक कार्य तथा दार्शनिक-रोमांटिक परम्परा भी बताया गया। उसमें विस्तारपूर्ण वेद, उपनिषद्, षडदर्शन, वेदान्त शैव शास्त्र बौद्ध सन्तों का और विभिन्न भारतीय भाषाओं में आरम्भिक रचनाओं का तुलनात्मक तथ्य संकलन प्रस्तुत किया गया। विभिन्न पुस्तकों से और लेखों से इस विवेचन के लिए उपयोगी उद्धरण और गदर्न भी दिये गये। और उनमें से जहाँ विशिष्ट प्रभाव, विशेषतः मुस्लिम आक्रमण और उसकी प्रतिक्रिया का प्रभाव, सूफावाद और भाषाविज्ञान का भी महारा लिया गया है। आरम्भिक खण्ड में केवल कुछ पत्र और विचारसूत्र उगाये गये हैं जिनका कि विस्तारपूर्ण विवेचन, आगे जहाँ उसका प्रयोग-लायेगा, किया जायगा।

'निर्गुण' शब्द का विवेचना अधिक नहीं की गई क्योंकि जहाँ तक और सगुण निर्गुण में भेद न करने वाली एक मतधारा है, वहाँ दोनों से परे समियाँ और सन्तों की रहस्यानुभूति ही ऐसा भी माना जाता है। सतीशचन्द्र विद्या भूषण जिसे हिन्दुस्तान का अरिस्टाटल कहते हैं उस प्रौढ़ नैयायिक नागार्जुन ने कहा था —

शून्यमिति न तत्तन्मयम् अशून्यमिति वा भवत् ।

उभय गोभय चेति, प्रज्ञप्तर्थं तु कथ्यते ॥

उन्नी प्रकार से करीबदाम ने बाद में कहा

'सगुण निर्गुण से परे कबिरा देखा नूर।' और ज्ञानेश्वर ने भी अपनी अभंगाँ में कहा है

निर्गुणाची वास्तव सगुणा माडली । सगुण निर्गुण दोन्हीं एकरूपा जालीं ।
सगुण न०हे तें निर्गुण न०हे । गुरुमुखे चोजवे जाणीतले पा ॥^१

^१ ज्ञानेश्वरमहात्म्याया अभंगानी गाथा (रामोदर सावळाराम शण्ड वचना, १००६), पृष्ठ-१८४ ।

अर्थात् 'निर्गुण' की वाता सगुण क रूप म रखा। सगुण निर्गुण नाँ एक रूप म आय। सगुण नहीं हे वह निर्गुण भी नहा। गुम्बुज से बह मय जाना।' पर तु उही जाल्श्वर अ यत्र कहते ह

^१ निर्गुणीची द्याया सगुणा विजली। तस्वीं तत्तें गेली अनुमाया ॥
निश्चळी निश्चळ न लगे अनुमाळ। तत्पता जाऽते धगजची' ॥^१

भाषा—'निर्गुण' की द्याया सगुण म विरत हुई। ओर तत्व म तत्व अनुस्थापिन हुए। निश्चल म निश्चल का अनुमान क्या लगता है? तत्पता वहाँ हे? वह न-यत्र ही हे।'

अत्र तत्र के विवेचन म 'निर्गुण' क पीछे की ज्ञान परम्परा और दार्शनिक विश्वांग श्रृंगला का सकेत मात्र किया गया है। निरीश्वरवादी ईश्वरद्वय का सात्त्विकारिजाओं म एक गीति जी, जिम पर गौडपाद का भाष्य है, परन्तु राम म वह कारिकाओं म से हटा ली गयी ऐसा लोकमान्य तिलक ने गीतारहस्य उर्फ मर्मयोग शास्त्र^२ में कहा हे। वह गीति यों हे —

कारणमीश्वरसेके अत्रते काल परे स्वभाव या।

गजा कय निर्गुणतो व्यक्त काल स्वभावश्च ॥

यहाँ निर्गुणत्व का उल्लेख हे। वसे उपनिषद् और वेदा त से तात्परि। तत्र हम शब्द का काफी उपयोग हुआ हे। उमका स्थान स्थान पर पूर्व विवेचन से इंगित हे।

अब आगे के विवेचन म हम मराठी और हिन्दी दोनों भाषाओं क निर्गुण सत्त-काव्य को निम्न उपशीर्षकों म विभाजित कर देवने वा त्रत करग

१ विशेषताए

२ परम्परा

३ दार्शनिक विश्वास ओर मान्यताए

जीव, जगत् ओर परमतत्व की परिफुलपना

४ निर्गुण कत्रि विशेष

१ वहाँ, अद्वैत पर अभंग, पृष्ठ-२४३।

२ पृष्ठ-१६०, नोट।

१ उक्त द्वारा प्रयुक्त प्रतीक और संकेत

२ लोकोत्तर अभिव्यञ्जना की प्रवृत्ति

३ उक्तका रहस्यवाद और प्रभाव

इन दोनों भाषाओं के जिन गमुप्त कवियों का विचार होगा उनकी काल-क्रमानुसार नामावलि इस प्रकार है —

मराठी

नाम	तिथि
१ चक्रधर	११९३ से १२७२ ई०
२ नरेन्द्र	१२४३ ?
३ अन्य महानुभाव	१३वीं से १४वीं शती
४ जानेश्वर	१२७५ १२९७ ई०
५ नामदेव	१२७० १३५० ई०
६ एकनाथ	१५३३ या १५४८ ? से १५९९
७ महाराष्ट्र के जय चारुसुरा सन्त	१३वीं से १४वीं शती

हिन्दी

नाम	तिथि	स्थान
१ रामानन्द	१४०० से १४७० ईस्वी	दक्षिण भारत
२ पीषा	१४२५ —?	
३ कबीर	१४४० १५१८	काशी
४ रैदास	१४७० —?	?
५ सेना	१४७० —?	रीवा
६ नानक	१५००	पंजाब
७ दादू	१५७५	राजपूताना
८ लालदास	१६००	भरुवर
९ सतनामी	१६००	नरनाल
१० बाबालाल	१६२	देहानपुर
११ मलकदास	१६३०	कडामणिकपुर
१२ सुन्दरदास	१६५२ १७४६ सबत्	काशी

१३ नीरमन	१६५८	दिल्ली
१४ चरणदास	१७२०	"
१५ शिवनारायण	१७२४	चंद्रवारा, गाजीपुर
१६ मरीचदास	१७४०	रोहतक
१७ रामचरण	१७०	शाहपुरा(राजपुताना)

तत्पश्चात् दोनों भाषाओं के निर्गुण सत ऋष्य क चिंतन का सामान्य गुण दोषात्मक विवेचन देकर, दोनों की अभिव्यजना और अनुभूतियां के बीच साम्य तथा अंतर का विमर्श होगा। चक्रधर भार प्रार का तुलना, दोनों भाषाओं में लिखने वाले नामदेव का अध्ययन, गीति रचना तथा पारिभाषिक शब्दावली का विशेष विवेचन करके अन्त में यह धाराकर्षी सूत्र रची इसका कारण भी भाषा होगी।

यह सक्षेप में आगे के विवेचन की एक रूपरेखा मात्र है। इसमें स्पष्ट है कि हिन्दी और मराठी के अनेकानेक उद्धारण दिये जायगे और विस्तार से प्रत्येक बात का विश्लेषण होगा। इस प्रकार के तथ्योद्घाटन में बहुतेक बार यह आक्षेप किया जाता है कि अन्यों के बातों के कई अज्ञान में लेखक का अपना स्वयं का मत जोड़ल हो जाता है, या कि विश्लेषण की सूक्ष्मता में सारा का सारा प्रभाव कई बार मन के सामने से हट जाता है। परन्तु दोनों ही आक्षेप निराधार हैं, चूँकि अध्ययनकर्ता या अनुसन्धित की दृष्टि का अन्त सूत्र सर्वत्र विद्यमान रहता ही है। वह जो अर्थ प्रस्तुत करता है, उस संकलन के पीछे विशेष दृष्टिकोण, एक विचार सरणि सदा उपस्थित रहती है। दूसरा बात खण्ड के फेर में संपूर्ण को भुलान का यहाँ डर इसलिये नहीं है कि तुलनात्मक समीक्षा में यह व्यापकता भुलाइ ही नहीं जा सकती। वही तो इस विवेचन की विशेष 'व्याप्ति' है।

इस विवेचन में सहायक ग्रंथसूची परिशिष्ट में दी गयी है। यद्यपि वस्तुतः ऐसी संपूर्ण सूची बना पाना संभव नहीं है। हमारे विचार हमारे अनेक ग्रंथों के अध्ययन का परिपाक होते हैं। और उनमें से विशेष बीज मूल या उत्स खोज निकालना सुदूरवन की गंगा में या भृगुकच्छ की नर्मदा में उसके मूल की तरंगों पाने के विफल प्रयास की तरह है।

इस प्रकार से आगे का विवचन पहले दोनों भाषाओं का स्वतंत्र तथा बाद में तुलनात्मक ऐसे तान खण्डों में होगा। अंतिम खण्ड उपसहारात्मक रहे। तुलना का अर्थ ही गुणदायक साहित्य निदर्शन है। रहस्यवाद किसी एक भाषा या प्रत्यक्ष का, यहाँ तक कि राष्ट्र का भी अपना विचार दर्शन नहीं होता। वह एक विश्व व्याप्त प्रवृत्ति है। जत तुलनात्मक अध्ययन में स्थान स्थान पर नये प्रादेशिक भाषाओं के आगे निदर्शी साहित्य के भी उल्लस आगे आयेगे जो अनिश्चर्य है। अब चाप सामित, समुचित खंडों में बँटा हुआ नहीं रहा। वह विश्व व्यापी रूपधूम है। उम्र महा योग्यता की शालाओं से और व्यग्रोध उत्पन्न है। पर तु सबका मूलजीव बहुत छोटा था पर तु एक ही है। उपनिषत्कालीन तपस्वियों का यह दृष्टान्त यहाँ उल्टा सही है जत दिक् काल के अधन कम कम होते जा रहे हैं।

खण्ड २

विषय-सूची

- १—विशेषतार्पण ।
- २—पद्मपुरा चन्द्रवर और महानुभाव पन्थ, गारक्षणात्र और
वेदान्त की शैव उपासना आदि ।
- ३—दार्शनिक विश्वास और मान्यतार्पण जीय, जगत् और परम
तत्त्व की परिकल्पना ।
- ४—निर्गुण कवि ज्ञानेश्वर, नामदेव, महानुभावपन्थी (दामोदर
पंडित, नरेन्द्र पंडित आदि) तथा पञ्चनाथ ।
- ५—निर्गुण कवियों में प्रयुक्त सामान्य पंक्तियाँ और सूक्त ।
- ६—लोकोत्तर अभिव्यंजना की प्रवृत्ति ।
- ७—मराठी निर्गुण कवियों का रहस्यवाद और उसका प्रभाव ।

अध्याय १

विशेषनाएँ

महाशय न विगुण का य का परम्परा खोजने से पहले उसका आसपास न प्रा तां स अर्थात् तमिलनाडु, आ प्र ञार कर्नाटक से इसकी परम्परा का पना लगा रेना तर्कमगत हागा, तथा 'भक्ती ञात्रिड ऊपजी, छाये रामान द' चात् प्रात सार्क होगी। यही रामानद उत्तर भारत स आकर ननारम स ञ्गीर ञाद्रि के गुफ हुए और यही श्रापाद रामानद ञानेश्वर क पिता क गुरु ञ, ञ्या प्रा चापक रा० द० रानड का मत है^१। रामान द करीब १४०० से १४७० इस्वी तक रह और ईस्वी १४०० से वे ननारस में प्रचार करने ञगे। रामानद अने भक्ति प य स प्रराशिर्षा को, अरूतां ले और हि दुर्षा हो भा ले ञाय। उ होंन शूर्तिपूजा पर टीका टिप्पणी की, पर तु शूर्तिपूजा का मीध विराध नहा क्रिया। एफ० ई० के० के अनुसार ञात पॉत न गानना रामान द पर मुस्लिम प्रभान का चोतक है^२। रामानन्द के गुरु का नाम राघवान व था। ञिरी अनुशासनसम्ब धी विषय पर गुट से मतभेद हो ञागे पर न अपना सम्पत्तिशाली मठ त्याग कर उत्तर भारत की ओर चल दिये। सच पूछा जाय तो मध्ययुग की ममग्र स्वाधीन चिन्ता के गुरु रामानद ही रे^३। परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार रामानन्द का ञम स० १३५६ और निर्वाण स० १४६७ म हुआ। वे कान्यकुब्ज ये ओर प्रयाग में ञमे थ। उ होंने विशिष्टाद्वत राघवानन्द के शिष्य होने पर अपना 'रामानन्द सम्प्रदाय' चलाया।

१ मिस्त्रिसिञ्म इन महाराष्ट्र, पृष्ठ-१९, (आयभूषण प्रेस, आक्सि पूना, १९३३)।

२ ननार एट हिज फानोअर्म, पृष्ठ-५ (रिलीजम लाइफ आफ इण्डिया सीरीज, आक्सफोर् १९३१)।

३ हि द्वा मादित्य की भूमिका भक्तों की परम्परा, पृष्ठ-८७ (हि दी प्र य रत्नाकर ञर्षालय बम्बइ, १९४०)।

उनके हिन्दी पद्या मं से कवल दो उपलब्ध ह ओर उनस भी एक सिक्खों क 'आदिग्रन्थ' म सगृहीत ह^१ । उसी म ये दो पक्तियाँ हँ जो स्पष्टत निर्गुणवाद का द्योतन करती हँ

एक दिवस मन भई उमग
घसि चोआ च दन बहु सुगन्ध ।
पूजन चाली ग्रह टाइ,
सो ग्रह ब्रताइउ गुरु मनही भाहि ।

आचार्य जितिमोहन सन ने 'भारतीय मध्ययुगेर साधना' में हरिहरनाथ का हरिभक्तिप्रकाशिका का एक उद्धरण लिया हँ, जिनम रामानन्द क वणाग्रम के गन्धर्वा को 'ग्रथ' मानन का बात स्पष्ट लिखी गयी हँ । मना परमेश्वर क प्रनाथ भाई भाई हँ, सभी एक जाति क हँ, श्रेष्ठता भक्ति म होता हँ, जात मे नहीं^२ ।'

इस कारण रामानन्द की परम्परा मे मेना नाई, रैदास चमार, कवार जुलाहा, धत्रा जाट, पीपा राजपूत ओर भवानन्द, सुत्तानन्द, आशाानन्द, सुरसुरानन्द, परमानन्द, महानन्द, श्रीआनन्द आदि हुए । इस सारी नाम्नाइलो म 'मेना नात्रा' महाराष्ट्र सन्त साहित्य म भी मिलता हँ । उसक सङ्ग्रन्ध म ओर जानकारी बहुत कम मिली हे । सिर्फ बहू उषरा शना का आचार नाइ का काम करता था, यह अन्त साक्ष्य ह^३ ।

महाराष्ट्र के निर्गुण सन्तों में यह जातिभेद का न होना और जाति-भेद, वर्ण-व्यपस्था की चिन्दा यह पहली उन्की विशेषता हे । इन्के ऐतिहासिक कारण ह । 'महायान बौद्ध धर्म की उत्पत्ति' लेख म^४ राहुल सांकृत्यायन ने कहा हे कि 'बुद्ध क जीवन में ही उनके शिष्य गन्धार, गुजरात (सूत्रापरान्त), पठान (हदराबाद राज्य) तक पहुँच चुके गे । शुर्गा और काण्वा क प्राद

१ सत्काय, पृष्ठ-१५४-१५ (किताबमहल, १९५०) ।

२ रामानुज हरिहरदास की भक्तमाल की टीका, पृष्ठ-८१-८२ ।

३ सत्काय-समालोचन राण्ड-१, अध्याय-७, पृष्ठ-१५९-१७७ । (शं नं० जोशी, चित्रशाला प्रेस, पुणे, १९३९) ।

४ गङ्गा, पुरातत्त्वाङ्क, पृष्ठ-२०८ ।

गीत या आधुनिक सन्त काव्य। इनका सर्वपुरातन राजधानी प्रतिष्ठा (पद्य) महाराष्ट्र था। पाठ्य पद्य के इन शातवाहनों का शाका से भावित्व-सम्बन्ध हुआ। इन्हें अपने देश के नाम पर रट्टिक (राष्ट्र) या महारट्टिक भी कहते थे। पाठ्य नाटकों में शाक या शाकार के लिए 'रट्टिक साल' (राष्ट्र साल) शब्द प्रयुक्त होने का यही कारण था। रट्ट या महारट्ट नाम पद्य से पूर्व पद्य के आसपास का प्रदेश अन्धक कहलाता था। अन्धक साम्राज्य में महामाधिका और धर्मात्तराया के होने का काल^१ और नासिक के गुहा लया में पना लगाता है। अन्धका के कुछ ७२ सिद्धान्त थे, जिनमें से १० धर्म के सम्मिलित प्रिय गये थे। स्थिरवादा महाशासक २, सर्वास्तिनागी और सम्मिलीय ८, ऐसी 'कथावस्तु' में स्पष्टित सिद्धान्तों से पता लगता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में अर्थों को 'रत्नकूट' तथा अन्य शास्त्रों के रचयिता बनाया गया है। महाराष्ट्र पुराना जनवाचक शब्द है। मस्कृत नाटकों में 'मरहट्ट' उसी अर्थ में आया है। कुछ लोगों के अनुसार जोधपुर के 'महाराठोड' से इसका सम्बन्ध है। परन्तु यह बहुत प्राचीन की बात है। वस्तुतः शालिवाहन या शतिवाहन (आजकल के मराठे सालवं, सुर्व उपनाम) पैठण में राज करत थे जय चन्द्र मगध में राज्य करने थे। दत्तक्या है कि शालिवाहन और विक्रम की ब्यापक हई और अन्त में विद्याचल के ऊपर विक्रम अपना सबत चला आ लगा और नाच शालिवाहन। विक्रम रावत और शालिवाहन 'शके' के बीच १३३३ तथा का अन्तर था, इय तर्क का उत्तर यह है कि विक्रम के दो सवत्थ। राचतरगिणा के अनुसार काश्मीर में चले वाला विक्रम शक शालिवाहन शक के समान है। यह हर्ष विक्रमादित्य (उज्जयिनी नरेश, जिसने कश्मीर जीता) का शक होना चाहिये। इय शककाल का शकों के आक्रमण से कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि बृहद्रथ गण के नाम से बराहमिहिर ने एक आर्गा दी है— 'पडद्विपचद्वियुत शकालारतस्य राज्ञश्च'^२ (अर्थात् युधिष्ठिर का शककाल २२-२६ वर्ष था)। वैसे तो जैसलमेर के राजा और भावनगर के राजा भी

१ एशियाटिका इण्डिका, भाग-७ पृष्ठ-५५, ६४, ७।

२ 'अथर्ववेद रत्नमाला' शकालात्तर रचना कर्तृ (निजायसम्राट, मीलोन सरकार का मुद्रा, १९००)।

३ दृष्टान्तिता।

अपने आपको शालिवाहन का प्रशन्न मानते हैं। प्राद का भगध राजा गोतमीपुत्र 'शातवाहनकुल्यश गतिष्ठापनकर' और स्वसशती का कर्ता शालिवाहन भिन्न ह। भयभूति^१ और राजशायर^२ महाराष्ट्र क कवि थे। भारवि ने महाद्वि का उल्लेख किया है। तारहवा सवी म जाकर देवगिरी के क हरद्व का पिता जयपाल मराठी क आदिऋषि मुकुन्दराज का आश्रयऋता बना। ज्ञानेश्वर ने अपने ग य के अंत म 'यदुवश त्रिलोच' रामदेवराम का सम्मान पूर्ण उल्लेख किया है। कुय मराठ अपने नाम का निर्बचन कुय राष्ट्रकूट नामा भ करते हैं, य ग नल से 'नलोड' (जयपुर न नलवशी राजपूत), सौर्य से 'मार', रुद्रय स 'रुद्रम', यादव से 'जादव' आदि। शालिवाहन प्रश की समाप्ति शालिवाहन शक की चौथी शती म हुई तार प्रतिष्ठान नगरी का सूर्य भी उम्मी समय डल गया। उम्मी समय राष्ट्रकूट जागे आय। वे पहल 'चेर' ऋ क सूत्रेण थे, और 'रेड्डी' वश क य। उनक नाम भी राष्ट्रकूट वश के राजा की तरह ही ह। य मूलत तेलुगी थे। रेड्डी का राष्ट्र और महा उमका विशेषण रहा होगा, ऐसी भी एक व्युत्पत्ति ह। 'महारथ' से महाराष्ट्र, 'सुरथ' से सोराष्ट्र ऐसी भां एक व्युत्पत्ति कही जाती ह।

'मराठा' की गार्चीन सामाजिक दशा^३ का विचार करने पर भी यही अनुमान किया जाता है कि मूलत महाराष्ट्र म जातिभेद इतना जकडवद नहीं था। मराठा की 'गावगन्ना' व्यवस्था थी, जिसके अनुसार लडाई करनेवाले और लिखनेवाले लोठा हर गाव म थे और बाकी सत्र नाम 'त्रुतेदारा' पर सोंपा था। लडाई करनेवाले 'राव' थे और लिखनेवाले 'परडु'। 'त्रायु' एक तेलुगु धातु है, कानडी म भी वह प्रचलित है 'वरी' नाम से, गोंवा की भाषा म उसे वरी कहते हैं। हर पेंठ म तारह त्रुते होने थ, और साथ म उतने ही अलुत भी।

१ विदभ के पञ्चपुर म न मा, कर्तौज के यशोवर्मा का आश्रित था।

२ राजशेखर का गोत्र 'थायावर' था। वह 'महामण्डिपुत्र' था और अपने आपको 'महाराष्ट्रचूडामणि' कहता था।

३ विविधज्ञानविस्तार, १८८६ (पुस्तक १८, अङ्क ११-१२)।

बारह जलुत इम प्रकार से थ—

पहली काम	दूसरी कास	तीसरी काम
१ सुतार	५ कुभार (कुम्हार)	९ भाट (पोवाडे गानवाले)
२ लोहार (लुहार)	६ चाभार (चमार)	१० तेली
३ महार	७ परीट (घोषी)	११ गुरव
४ माग	८ न्हावी (नाई)	१२ कोली

और बारह अलुते—

१ तावोली (तमोली)	७ शिपी (दर्ची)
२ साली (जुलाहा)	८ गांधली (देवी के नाम से नाचने
३ माली	और भिक्षा मागने वाले)
४ घडशी (बाजा प्रजानेवाले)	९ रामोशी (गश्तवान, जासूस)
५ तराल (बाजेवाले के साथ सुर ^१	१० साटीक या मुलाणे (कसाई)
लगानेवाले)	११ डवरया (भैरव के नाम से भिक्षा
६ सोनार (सुनार)	मागनेवाले)
	१२ कलजत (वेश्यापुत्र, गायक)

इन चौबीस जातियों में वर्म से सम्बन्ध रखनेवाले भाट (भद्र भद्र भद्रजी) पुजारी बलुते और गांधली, डवरया अलुते थे। गाँव के ऊपर के 'कुला' म और 'पट्टेकरी' (पट्टीदार) म कई जाडताव (उपनाम) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में जो एक से मिलते हैं वे इम बात क साची हैं कि वर्णव्यवस्था पहले रुढ़ी नहीं थी। ये नाम हैं कुलकर्णा, देशमुख, दशपाडे, पाडे, पाटील, देसाई, चौगुले, चौधरी, पेठे आदि। राव यह नाम क साथ जुडनेवाला जादरार्था 'राय' 'राज' का रूप ब्राह्मण मराठे दोनों ही लगाते रहे हैं। जैसे कि आगे

१ 'कलवतीण' गाँव का नृत्याङ्गना थी। उसके पुत्र को 'कलवत' बाद में कहने लग। पहले वह गायक के अर्थ में था। मराठों के पुराने वाद्य थे 'सूर', 'समद' और 'समेल' या 'सवल'। 'पडघी' और 'धूम' मिलकर 'समेल' बनता है। 'समेल' बजानेवाले को 'समेल्या' कहते हैं। टिमकी, पावा, तुतारी (तुरही) भी इहा वाद्यों जैसे हैं। 'तुणतुणे' (एकतारे नैमा वाद्य) और 'डफ' लोकगीतों के साथ प्रयुक्त बहुत प्राचीन वाद्य है। पखवाज बहुत बाद में आया। इस मराठी में पखवाज कहते हैं।

महाराष्ट्र के हरिजनसत्ता का विवरण हम उगे, उससे पता लगेगा कि चारफरी पय न कितना उदा काम किया। ज्ञानेश्वर ने कहा है कि 'सांख्यवादि प्रतिमे। सामादिल'।^१ वहाँ शास्त्रप्रामाण्य और जन्मगत जातिपरम्परा की अवहेलना करके भक्ति का मार्ग मार्ग लिए खुला करने का साहस उन सन्तों ने किया। संना नाई ने इर्मात्रिण कहा—'जडजावा उडार कला। मार्ग सुपय दादिला ॥'^२ और नामरूप न कहा—

निर्गुणीच वभय आस भक्तिमिष। त ह विद्वस वय ठसावल ॥

नामा म्हण आम्हा अनाधारागुनी। निडारल नयनी वाट पाहे ॥

[अर्थ—निर्गुण का वैभव भक्ति का मिस बनाकर जाया। वही विद्वल के वेश में हृदय पर जम गया। नामा कहता है—हम अनार्था के लिए अभय (अनुग्रहपूर्ण) दृष्टि से राह देखता ह।]^३

यद्यपि आरम्भ में यह कहा गया है और 'महावश' से जाना जाता है कि वाद्यों का मतप्रसार महाराष्ट्र से उहन प्राचीन काल में हुआ, फिर भी मराठे मूलतः शैव ही थे। शिव की रूपना 'सूर्य' से निरुती या हिमालय से, इम त्रिवाद की यहाँ आवश्यकता नहीं। 'लिंग' और 'पिडा' (मराठी में पीठिकाया रुद शब्द) सूर्य और आकाश के लिंग जान पड़ते हैं। जैसे आकाश में सूर्य जैसे पिडी में लिंग। उविड भी सत्र शैव थे। इसीलिए दक्षिण में लिंग पुजारिया को सत्र 'गुरव' कहते हैं। शैवमत का प्रभाव मराठी निर्गुण सन्तों पर विशेष रूप से है। इसका और शाक्त प्रभावों का विस्तृत विवेचन अगले अध्यायों में है।

प्राचीन महाराष्ट्र में त्रौद्यों की अपेक्षा जैन प्रभाव अधिक रहा, यद्यपि बौद्ध जैन दोनों ही प्रभावों को बाद के ब्राह्मणों ने आत्मसात् कर लिया। महाराष्ट्र के प्राचीन शिलालेख सत्र जैनिया के हैं। गौतमश्वर (श्रवणपल्लव) के नीचे का 'चामुण्डराये करविये' यह प्रथम मराठी शिला लिखित वाक्य है।

१ ज्ञानेश्वरी, १८, १६९९।

२ सकलसतगाथा (आवटे), पृष्ठ-६७।

३ वही, पृष्ठ-३५।

जन लोगों ने कौल और 'देवस्की, मा-यताय आदि' शर्वा से सीखा। शिव और देवी को पहले मुर्गा चण्ड जाती थी, भैरव को बफरा। मगर जादू म जैनियों के प्रभाव से यह उल्टि प्रथा बन्द हुई। ब्राह्मणों ने यह कौल मा यताय आदि जनों से लीं। महाराष्ट्र 'देवस्की' म 'जना ब्राह्मणा' पाठ हस्तीलिपि आता है। पश्चिम महाराष्ट्र म ब्राह्मणों ने जन मूर्तियाँ क उदले अपनी मूर्तियाँ स्थापित का। जाडी आदि स्थाना म दो प्रकार का पडियाँ अभी भी पायी जाती है। बौद्ध, जैन, ब्राह्मण तीना ही योगी, तापसी, वैरागी, साधु, सिद्ध, सन्त, यनियों को एक मा मानने वाले थे। शालिवाहन शक की तीसरी चौथी शती के ऋद्धर्ष वश के राजा क जो लेख हँ, उन सभ में 'जिन'का मगलाचरण है। पञ्चावता के शिलालेख म भी 'जिन' को प्रारम्भ म नमस्कार है। चालुक्यवशीय रणराग के पुत्र पुलकशी तक शालिवाहना का कोई 'अश्वमेध' कहीं शिलालेखों में बणित नहीं है। पुलकशी क पुत्र कीर्तिवर्मा और उमक जादू के मगलीश ने ब्राह्मणों को ताम्रपत्र दिये। उसके भतीने पुलकशी द्वितीय ने ब्राह्मणों के साथ जैनों को भी आश्रय दिया, ऐसा शक २०६ के शिलालेख से पता चलता है। बाद में राष्ट्रकूटवश शुद्ध ब्राह्मणधमा बना। जैन मुनियों की कद्रता के कारण धारे धारे वह श्रमण पथ प्राचीन महाराष्ट्र म विलुप्त हुआ। महाजुभाणियाँ पर जैन पन्थन के पुढाल आकाश कालादि तन्वा का सूचम छाया कह सकते हैं। जैसे मराठी स ता पर बौद्ध या जैन पर्या का कोई प्रभाव नहीं।

वसे मजसे रहस्यमय है 'मिट्टल'निषयक करपना। १३वी शती के चौडरम कवि के 'अभिनव दशकुमारचरित' म यह शब्द आया है। 'ज्ञानेश्वरी' म मिट्टल या मिट्टल सम्प्रदाय का कही उल्लेख गहा हँ, परन्तु ज्ञानेश्वरी के अमगाँ म मिट्टल नाम ही आता है, यह एक पहली है। ओ० रा० द० रानडे ने ज्ञानेश्वरी के बारहव अध्याय से २१४ से २१८ ओणियाँ उद्धृत की ह^१,

^१ म म परीहा पाथा। माह्वया भचना गस्सा। तरा तयातें भी माथा। मुकटकरी उत्तमासि मस्तक। सालविन हं कायकौतुक। परीमा करिति ति हीलोक। पायगणिया। तरा नद्धावस्तुमो आरु। करिता जागिन प्रकास। तरा हाय श्री गुरु मणशिव ॥ परि ह अमो आता। महेशाते वाविता। जात्मसुति होना। सचार असे। यथात्मा ह नाह। म्णित रमानाहै। अर्जुना भी वाहे। शिरी तयातें ॥

सं ज्ञानेश्वर का एक कानडी पद्य दिया है, जिसमें त्रिभोगा को कन्नड़ देवता प्रताया गया है।^१ या विट्ठल सम्प्रदाय कर्नाटक में शुरू हुआ होगा, ऐसा भी एक मत है। पुरन्दरदास पाचुरगगढ़ में रहता था। अचलानन्ददास के साथ आराध्य पदरपुर से जा रहे थे। परन्तु वहाँ त्रिभोगा का मन्दिर वैष्णव होने से वे वहाँ नहीं गये। भीमरथी में जत्र से नहा रहे थे तो देखते क्या है कि वे विट्ठल मन्दिर के तिलकुल मध्य में हैं। इसके बाद वे सब हरिदास हुए। हरिदासा की तरह पीढ़ियाँ मिलती हैं, जिनमें नरहरी तीर्थ सन् १३३१ में हुए। उनके पुत्र रगविट्ठल १४९२ में हुए। आगे तो नामों के पीछे विट्ठल पदवी लगाना कर्नाटक के हरिदासा का साधारण रिवाज हो गया। महाराष्ट्र के निर्गुणियों जैसे नामदेव भी विट्ठल को 'माउली' (माता) कहते हैं। डॉ० क० भीमसेनराय के अनुसार त्रिष्णु का कन्नड़ में 'त्रिडु' हुआ, महाराष्ट्रियों ने 'दा' प्रेमवाचक प्रत्यय उसे लगाया।

महाराष्ट्र के निर्गुण सन्तों की चौथी विशेषता यह है कि उन पर सूफीमत का प्रभाव त्रिस्तुल नहीं है। 'सूफीधर्म और भागवत' नामक लेख में १० फाटक^२ ने कुछ साम्य स्थल खोजे हैं, परन्तु वे सब बाद के हैं। वैसे तो अद्वैत दोनों में मूलतः एक है और योग की प्रक्रियाएँ भी बहुत सी एक सी हैं, जिनका विवेचन हिन्दी निर्गुण कवियों के प्रसंग में किया जाएगा।

महाराष्ट्र के सन्तों को सूक्ति या दोहे या पदा से अधिक रमने प्रथम धार्मिक विवेचन, जैसे ज्ञानेश्वर का (अमृतानुभव) या एरुनाथ के भागवत के अर्थ, अधिक प्रिय हैं। खण्डन मण्डनात्मक, तर्कयुक्त, उत्प्रेक्षा रूपकादि का प्रयोग इन सन्तों ने अधिक किया है। जो व्यंग्यप्रियता हिन्दी के निर्गुणियों में मिलती है, उसकी भी महाराष्ट्र के सन्तों में कमी है। अध्यात्म को ज्ञानयोग का अंग मानकर उन्होंने अधिक ग्रहण किया है, उपासना का क्रम। इसीलिए प्रतीका और अल्पव्यक्त रूपकों का प्रयोग तो पर्याप्त मात्रा में मिलता है, पर उल्टासिधियाँ और सन्धाभाषा कम है।

१ कानडी हो विट्ठल कर्नाटक।

२ प्रतिभा विशेषाङ्क १९३५।

महाराष्ट्र के निगुण सन्तों की विशेषताओं का यथा सक्षिप्त परिचय दिया है। परन्तु निगुण विशद विवरण तो आगे होगा। 'रहस्य' को ग्रहण करने का प्रत्येक दश काल परिस्थिति के अनुसार कवि को अलग अलग पडती होती है। महाराष्ट्र की चि तन परम्परा को समझने से महाराष्ट्र के निर्गुण स त काव्य का यह विशिष्ट समझने में अधिक सहायता मिलेगी।

अध्याय २

परम्परा

चक्रधर महानुभावा, गोरक्षनाथ, वेदान्त तथा शैवोपासना

अ चक्रधर तथा महानुभाव

मराठी निर्गुण सात न्ना व की परम्परा क विचारम सत्रसे पहले महानुभावों का उल्लेख आप्रश्यक है। महानुभाव नाम कहीं से आया, यह विद्वानों में विवादा विषय है। 'चक्रधरोक्त सूत्रपाठ' के सम्पादक हरिनारायण नेने के अनुसार यह नाम 'सूत्रपाठ' ग्रंथ में कहीं नहीं मिलता। सूत्रपाठ में इस पथ क जो नाम आया है, वह है 'मार्ग, महात्मा, प्रतीति पथ, परमेश्वरशास्त्र, परधर्म, अच्युतगोत्रीय' आदि। पंद्रहवा सदी के बाद का प्रमुख कवि 'भटा भागु' ग्रंथ में इस पथ का नाम देता है। अर्थात् चक्रधर ने केवल दर्शनपरक मूल सूत्र लिखे, जिनके आधार पर नागदेवाचार्य ने बाद में सगठन किया। महानुभावों के सात प्रमुख काण्ड हैं, उनसे भी यही बात सिद्ध होती है। श्रीमद्भागवत के एकादशस्कंधों में हमारातर ने ब्रह्मा को जो उपदेश दिया, उसके आधार पर इस पथ के ग्रंथ लिखे गये, ऐसा भी एक विश्वास है। 'पचनास' और 'पचकृष्ण' प्रकरणां से यही व्यक्त होता है। इस पथ के सात प्रमुख काण्ड हैं, इनमें वरस हरण, शिशुपालवध, उद्धवगीता, रविमणी स्वयंवर (नरेन्द्र कृत) चारों कृष्ण कथा वर्णित करते हैं, 'ऋद्धपुरवर्णन' में दत्तात्रेय प्रभु की लीलाएँ हैं और 'ज्ञानप्रबोध' में गीता के 'अमरतरंग' आदि श्लोकों की टीका है।^१

'दत्तात्रेय सम्प्रदाय का दार्शनिक मतवाद'^३ नामक लेख में महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज ने लिखा है—'गुरु दत्तात्रेय के सम्बन्ध में

१ इसस्वरूपवददच्युत आत्मयोग

दत्त कुमार ऋषभो भगवान् पिता न ॥ श्रीमद्भा० अ०-४, श्लोक-१७।

२ इ० ना० नेने सूत्रपाठ उपोद्घात, पृष्ठ-१०।

३ कस्याण, भाग २४, सत्या-९।

पुराणादि में बहुत सी कथाएँ वर्णित हैं। वे अत्रि मुनि की जोरत और कर्दम मुनि की पुत्री, कपिल मुनि की ग्रहन असूया के गर्भ से भगवान् विष्णु के अक्षरूप में अवतीर्ण हुए थे। वे विष्णु के छठे अवतार थे। निश्चय ही यह सत्य है कि विष्णु के सप्त अवतारों में इनका नाम नहीं आता। माघ (१४-७९) में लिखा है कि सम्प्रदाय विच्छेद होने के कारण जब सारी श्रुतियाँ नाश को प्राप्त हो गयीं, तब उनका स्मरण करके उद्धार करने के लिए 'अप्रतिहतस्मृति', 'अविनाशीविग्रह' दत्तात्रेय ने अत्रिगोत्र में जन्म लिया। ब्रह्मपुराण (२१३। १०६-११०) में कुछ इसी प्रकार की बात मिलती है। हरिउपनिषद् (१-४१) में, महाभारत (स० कुम्भकोणम ४/ पृष्ठ) में और विष्णुधर्म पुराण (१-२८) में इस बात का समर्थन प्राप्त होता है। अहिर्बुध्न्य संहिता के मत में दत्तात्रेय वासुदेव या विष्णु के ३९ विभवों में से एक थे (५-५०)। श्रीकृष्णयामल तन्त्र में भी दत्तात्रेय अवतार माने गये हैं।^१

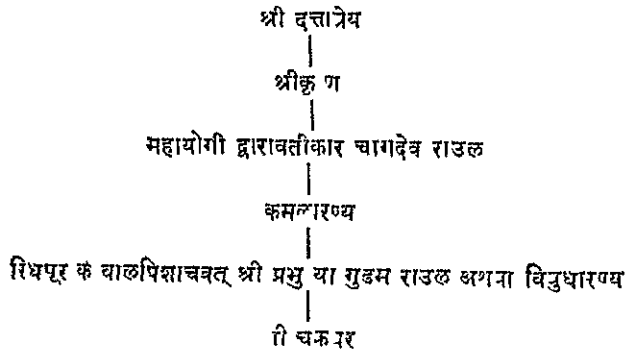
दत्तात्रेय ने अलर्क, प्रह्लाद, यदु, कार्तवीर्य प्रभृति को आन्वीक्षिकी अथवा आत्मविद्या प्रदान की।^२ अलर्क को उन्होंने आत्मा, योग, योगधर्म, योगिचर्या, योगमिद्धि और निष्काम बुद्धि का उपदेश दिया था, यह मार्कण्डेयपुराण^२ में वर्णित है। ब्रह्मपुराण (अध्याय १/०-३२) में लिखा है कि उन्होंने अलर्क को अष्टांगयोग का उपदेश दिया था। दत्तात्रेय शिव के उपासक थे। उनकी 'आत्मतार्थ' नामक शिव की स्तुति का वर्णन ब्रह्मपुराण (११७ वें अध्याय) में है। पिता की आज्ञा से वह गौतमीश्वर तीर्थ में जात है और वहाँ शिव की आराधना करते हैं। शिवजी प्रसन्न होकर उनको ज्ञान और मुक्ति प्रदान करते हैं और उस तीर्थ का नाम 'आत्मतार्थ' रखते हैं। कथा प्रसिद्ध है कि गर्ग मुनि की आज्ञा से कार्तवीर्य भगवान् दत्तात्रेय के आश्रम में जाकर उनका सेवा करते हैं। दत्तात्रेय उन्हें चार परदान देते हैं। (१) युद्ध के लिए सहस्र प्राहुर्जा की प्राप्ति, (२) सार्वभौमता और सुशासन, (३) अर्द्ध थोड़ा के हाथ से मृत्यु और (४) धर्मोपदेश। दत्तात्रेय महायोगी थे। भागवत (६।८।१६) में उनको 'योगनाथ' कहा गया है। मार्कण्डेयपुराण (अध्याय-१७) में लिखा

१ श्रीमद्भागवत, अध्याय-१, श्लोक ३-८१।

२ अध्याय-३५-३८।

ह कि ४ नामत्रिंशत्सु म सप्त होकर भा निविकार ह, ससार म रहकर भा गगार ये मुक्त रहत ह । सर मत्त न होत हुए भी मत्त की भौति आचरण करते ह । इनको ईई जगट मद्यप्रिय भा कहा गया ह, परन्तु अत्रूत गीता म मद्य ओर सा की नि दा स्पष्ट अक्षरों म की गयी हे । पराशर मात्र क दूसरे अध्याय म साधनाचार्य ने 'अनु मत्ता उन्मत्तवदाचरति' कहा ह । वे अवधूत परमहम ह । जात्राल उपनिषद् म उनको सवतक, आरुणि, श्वेतज्जु, दुर्गाला, रैवतक प्रभृति ते समान अव्यक्त, निर्गमन तथा शयत्ताचार परमदय कहा गया हे । वे अद्वैतवादी थ, इनका उल्लेख नपधकार श्रीहर्ष ने किया हे।^१ भागवत क ११४ अयाय म दत्तात्रेय क २४ गुरुओं का वर्णन मिलता हे । अत्रूत गीता और जीव-मुक्ति गीता के उपदेष्टा क रूप म दत्तात्रय प्रसिद्ध हे । उसम दत्तात्रेय के सिद्धा न वर्णित ह । इस नाम का एक ओर ग्र थ मिलता ह । उस पर नीलकण्ठ चतु र्र की 'प्रकाश' नाम की टीका ह । एक अनाम लेखक का १६ अध्याया का 'अद्वैतश्रुतिसार' ग्र-थ मिलता ह, जिसके प्रत्येक अध्याय के अन्त में एक पुपिका ह । चौदहवीं शता में नरशिख सरस्वती नामक ब्राह्मण सन्यासी ने दत्तात्रय संप्रदाय चलाया । 'नरसोत्राची वाडी' म उनका स्थान हे । प्रचलित भाषा म नृसिंह सरस्वती के शिष्य गंगाधर सरस्वती ने 'गुरु चरित्र' लिखा ।

महानुभाव या मानभाव दत्तात्रेय को अपना आदिगुरु मानते हैं । उनके अनुसार गुरुपरम्परा इस प्रकार से रही



^१ सतमद्वयमयेऽर्चनं दत्तात्रयमजुनयशोऽजुनवाजम् ।

नीमि योगजनितानघसस त्वामलकभवमोदितमोऽर्कम् ॥ (नैपथ २१-२४)

इन छ नामां म म कमलारण्य का नाम मत्त का यों म नहा मिलता । पञ्चनाम मिलते ह । चक्रधर की गुरुपरम्परा म दो ज्ञान गम्भिरणीय हे । द्वाराजतीकार चागदेव फलटण के नन्हाडे प्राहण थे । जहाँ से ब्रह्मचर्य म प्रवृत्त होकर ने मातापूर माहूर म गये । वहाँ दत्तात्रेय से उन्ह 'शक्ति न्वीकार' हुआ । दत्तात्रेय बाधक क रूप म आवे^१ और उन्हाने श्रीमुकुट पर पजा रत्ता । जब च फलटण से जा रहे थे, तभी उन्होंने कट्टर त्रैराग्य धारण किया था । काउरली की कामाख्या हठयोगिनी जब 'रतीचिया चाडा' (रति की तीव्र इच्छा से) आयी थी, तत्र सात दिन और रात जहाँ खड़ी रही, पर चागदेव की तो ब्रह्मचर्य में प्रवृत्ति थी, इसलिए 'ज्ञान बाहर न गिये' (मगौनि बाहरा गीजे न करिती) । अनन्त चागदेव ने वह 'पुर' ही छोड़ दिया । कुछ कहत है कि याग सामर्थ्य से अपना शरीर छोड़ दिया । दूसरा महत्त्वपूर्ण उदाहरण श्रीगणेशचरित्र क सम्बन्ध म है । पेटण म गणपति मठ म चक्रधर का अवस्थान था । 'महदाइने' नामक स्त्री ने जत्र प्रश्न पूछा कि यादवां का इतना बडा श्रीकृष्ण था, तो यादव वश का नाश कैसे हुआ ? इस पर चक्रधर ने उत्तर दिया—'गई । उद्धव को छोड़ और कोई श्रीकृष्ण को चक्रवर्ता मानता ही नहीं था । च अ य दवनाओं के भक्त थे । जैसे सूर्य, सोम, वायु, अग्नि आदि । श्रीकृष्ण जार जार कहते थ 'शराव न पिओ, शराव न पिओ ।' यादवों ने वह बात गहा मानी । इसलिए उनका नाश हुआ, इसम श्रीकृष्ण का क्या दोष ?'^२

लङ्कपुरचरित्र (गोविन्द प्रभु) लीला ९ म कमलारण्य गुरु का उल्लेख है । जगन्नाथपुरी क गोवर्धनमठ आज्ञाय पीठ के आचार्य के नामान्त में 'भोगजार सम्प्रदाया बनारण्ये पदे स्मृते' कहा गया है । द्वाराजती में श्री गुडम राउल गये, उ ह 'शक्तिसच्चार' हुआ, पर चक्रधर को दीक्षा फिसने दी यह अभी तक अज्ञात है । चक्रधर ने सन्यास का, त्रिषय वासना से उपरति का,

१ लालाचरित्र एकाङ्क, पान प्रथम, लाला पवली ।

२ लालाचरित्र उत्तरार्ध पान १६१, लीला ६९ । मूल या है —

बाद श्राद्धण चक्रवर्ता बारिन झाले मत्त द्र य न सबागा मत्त द्र य न सेनागा ते श्रीकृष्ण चक्रवर्ता चे भणातले न करतिचि आणि तय कवण चक्रवर्ता चा होता क इणी सूर्याचा क इणी सोमाचा क इणी वायूचा क इणा अग्नीचा एकु उद्धव वाचौनि' ।

ज्ञान का मूल बराबर होने का, पपणा त्रय याग का, नित्यानित्यवस्तुविवेक का, सुसुख न वा, मोट मोटे वस्त्र पहनने का बार बार उल्लेख किया है। स्त्रियाँ के विषय में सुत्ताचार का उद्धाने वार विरोध किया। चक्र पर कर्म का यम जिन प्राचीन दक्षताओं और महापुरुषों के उल्लेख मिलते हैं, उनका नेने ने सूचा दी है।^१ 'विचारमालिका' १७२-१७४ में 'उज्ज्वला सिद्धाली दि योली या चा ही जोली नाय चिया कलियुगा बज्जोला अमरोली जाति सिद्धौली नाहीं। ह च्यारहा अष्ट भरवाचे अगम रहियाग।' उल्लेख मिलते हैं जिनसे स्पष्ट है कि ताम्रपत्रिया ना और उज्ज्वलान सिद्धों का प्रभाव उन पर कितना था। महानुभावों मन्त्राचार और श्राकृष्ण भक्ति के साथ साथ यह 'शक्तिमचार' भी ताम्रिक प्रभाव में आया ऐसा जान, पड़ता है। विचार और 'विचारमालिका' में निम्न सूत्र दिये हैं, व त त्राम न तालनीय ह।^२

'विचार' तथा 'विचारमालिका' में	तन्त्रागम
<p>नाद त्रिदु कला उद्योति ता आवस्था भानदु आवेशु आगम ते सिद्धकृत।</p> <p>आपसी सा य साधनसाधकु ऐमी त्रिविध प्रतीति शान्तीय साध्यसाधकु ऐमी द्वीध प्रतीति। शान्ती साध्य प्रतीति। भावशु अवस्था स्थिति। साजात्या साजा या त्रेतु। अशबेध सपूर्णचि प्राप्ति। वेदु विद्या ज्ञान साधन धर्म। उभयान्वीक्षमाणे सत्ता सनिधिसात्र शक्ति सचरे याल अतयागु बोहिते।</p> <p>बोधोनि बोधिता का बोधोनि बोधिति वस्तु समग्र धे शक्तिनिक्षेप। दश स्पर्श आलापु अत करण।</p>	<p>दर्शनास्पर्शनाच्छेदाकृपया शिष्यदेहके। जनयद् य समावेश शास्त्रमप्यत हि देशिका ॥ यथा पक्षी स्वपक्षाभ्या शिखरसन्धयेच्छने। स्वर्शदीक्षोपदे शान्तु तादृश कथित प्रिये ॥ स्वपक्ष्याणि यथा कूर्मा वीक्षणेनैव पोषयेत्। दृग्दीक्षोपदेशस्तु तादृश कथित प्रिये ॥ यथा मस्ती स्वननया ध्यानमात्रेण पोषयेत्। वधदीक्षोपदेशस्तु मनसा स्यात् तथाविधा ॥ शक्तिपातेन सयुक्ता द्विधा वेदात्तत्राक्यजा। यदा यस्य तदा तस्य, विमुक्तिर्नात्र सशय ॥</p>

१ सूत्रपाठ उपोद्घात १६-१४, अष्ट भैरव, यास, वशिष्ठ, शुक्र, कलिभद्र, भीष्म, वृसिंह, सुरभि, अद्वैतनाथ, प्रह्लाद, शेष, सञ्जय, उद्धव, ऋष्यशृङ्ग आदि।

२ नेने सूत्रपाठ उपोद्घात १८-१९।

आद्या शक्ति के विषय में भी विचारमालिका १२७ म सूत्र है 'आद्या शक्ति माया गुणवती धर्मवती विचारवती एसा ते माया'। आर्यर एवलौन ने इस आद्या शक्ति क विषय में कहा है—'आद्याशक्ति, गो वृत्ति वृत्ता, अनक पयोपरा, जिसका अपरण कभी नहा हटता, पृथिवीसिम्, काला, हयोर, साइप्रेला, इडा, त्रिपुरसुन्री, आयोमिक माता, श का पत्ता तेक चिसक द्वारा सारा सृचन होता ह, अक्रोडाइट, आन्तरल जिकर उपवन कुजा म पालाम जड थे, प्रिलोनिया की मिलिटा, ग्रांड तारा, मेक्सिको की इग, हलमिक ओमिया, पार्वता क समान विचरने वाला अफ्रीका का सलम्पा, रोमन जनो, जीवन-विचार आदि की दीप्त सामिता जितना उमय अ य त जानन्त मे मनाया जाता या, मिस्री बस्ता, असीरिया का माना मुस्काय पेनाय, उत्तरा फान्या, भूल प्रकृति, समित्री, माया, इन्तर, जेवतागी की मतिकनाय माता, कुडला, गुह्य महाभैरवी, मय चार्जा की अनन्त गहिर तल।' इय प्रकार की मातु पूजा आर्यन्तर सभ्यता म प्रहुत प्राचीनकाल से प्रचलित थी। इन्दीके चार म गोरख नाथ ने कहा ह—

तो जुडा राडया जोगम्पर याह्या, मिय सन्ती मू पेरा ।

जा पद मिदर पुरप तिलया, गहि मिदर घर मेरा ॥ १४ ॥

या रहता म घर घर प्राया, जोग जुगति कर पाया ।

मिध समाधि पच घर मेला, गोरख तहाँ समाया ॥ १५ ॥^१

चक्रधर के दार्शनिक मत विश्वायों की चर्चा आगे होगी। पर तु यहाँ यह बात ध्यान म रखने योग्य है कि महापुभागों में ब्राह्मण, शूद्र, तेली, माली, कोली (मडुए) आदि सभी जातियाँ क अनुयायी मिलते हैं। लीला चरित्र म उत्तरार्ध लीला प ६ म गसग गणित है कि एक मातंग को चक्रधर ने 'आडला' नामक शिष्या क द्वारा एक प्रमाण का लड्डू परमा और बाद म उही लड्डू जब मातंग न उन्हे अपित क्रिया तो उसक दुम्डे बनाकर सय लोभां म पौटे। महापुभाषिया क मंदिर न होकर चत्रतर होते हैं। इनक सस्य व स साहित्य के इतिहारा लेखका म काफी भ्रम है। महाराष्ट्र सारस्वतकार भापे ने महानु भावों की इस प्रवृत्ति को सुस्लिम शाग्यर्नासे मुनि व्यास (कसलाकर अयाचित

कोठी) नामक महानुभाव व्यक्ति ने फरमान लाकर उ-ह खुश करने के इतु से एमा क्रिया, कहा ह। और बीड, पठण, आपगोंन, फण्टग, यत्ररु, मठ विपरा, अरण्यगोंन, मिगाट, रामदास जागेबरी आदि स्थलों में प्राचीन देवालयों में भी 'ओट' (चतुर्थे) बनाय। ६० ना० देने का मत इसमें भिन्न है। उनके अनुसार विरक्त सन्तवासियों के सोने के लिए यह बनाय गया थे, क्योंकि वे 'पर्यवश्यन' नहीं करते थे। आज भी जो महानुभाव 'ओट' है, वहाँ के पुजारी या भावे पूर्वपरपरित ही ह। उनका नाम आराध्ये, लाडगे, बीडकर उपाध्ये आदि ह। कई स्थानों पर पहले की मूर्तियाँ वही हैं उदाहरणार्थ, आपगोंन में विनायेश्वर का लिंग, देवदेवेश्वर (माहूर में शिवलिंग इत्यादि)। रिद्धपूर की कोल्हारी देवी के पुजारी 'गुरब' जाति के सनातनधर्मा हैं। कई तीर्थों में सनातन और महानुभावी पडे एक से हैं। ये लोग किसी भी प्रकार के जाग्रण वेश या भेष के विरुद्ध थे। 'लिंग चिह्न सुद्रा न हो आयी' (आचार २१)। बाद में काले कपडे ये क्रम से पहनने लगे पता नहीं। भावे के अनुसार आरगजत्र ने महानुभावियों को 'जजिया' माफ कर दिया था। परन्तु प्रो० कोलने द्वारा प्रकाशित अमरावती के कारज की दुआ की सनद के अनुसार 'जजिया' सभी प्रकार के सातुओं के लिए माफ था। शाहगढ (सिरपुर) गाँव में जो महानुभावियों का ठिकाना है, वहाँ का मंदिर मुसलमानों के कब्जे में ह। पर तु यह सुसलमान मस्जिद नहीं आते। 'सिद्धा तबोध' ग्रंथ लिखने वाले महानुभाव मुस्लिम नाम वाले शहासुनि इसी स्थान के थे।

प्रसिद्ध इतिहासशोधक यशवत सुशाल देशपांडे ने 'महानुभाव वाङ्मय' पर ५४ पृष्ठ का एक निस्तृत लेख लिखा है, जिसे ल० रा० पागारकर ने अपने 'मराठी वाङ्मयाचा इतिहास' में परिशिष्ट रूप में दिया है। उसके अनुसार महानुभावा के ग्रंथ २५ साकेतिक लिपियों में लिखे हुए मिलते हैं। नाथपंथ इत्यादि पंथों से उन्हें कष्ट पहुँचता होगा अथवा अन्य कारणों से उन्होंने अपनी ब्रह्मविद्या, मत और धर्माचार गुप्त रखना आवश्यक समझा। यह नागदेवाचार्य^२ के १६५० वर्षों में ही होने लगा। सबसे पहले 'सहाद्विवर्णन'

१ सूत्रपाठ उपोद्घात, पृष्ठ-३४।

२ 'शक्तिमणी स्वयंवर' ग्रंथ में नागदेवाचार्य भारकराचार्य नागदावा मुनि कमलाकर।

ग्रन्थ के कर्ता रावबोणा ये उर्फ रग्लो 'यास ने सन् १३०३ क करीब सकल या सगल लिपि प्रयुक्त की। हमारे मत से उड़िया कपि सरलान्त्य (१३०८-१३५२) से हमका कुछ सम्बन्ध रहा होगा। यह लिपि महानुभावों के अन्य आम्नायों में गयुक्त है। सन् १३६३ में सुन्दरी, सन् १३६८ में पारमान्त्र्य और कवीश्वरी अकलिपि सन् १४०३ के करीब निमित्त हुई। इनमें अलावा उत्रलिपि (उत्रयान से सम्बन्ध ध्यान देने योग्य है), सुभद्रलिपि, सिंहलिपि भी है। नागदेवाचार्य सन् १३०२ में द्विवगत हुए। उनके बाद भास्कराचार्य द्वितीय आचार्य बने। महीन्द्र भट्ट के बनाये हुए चरित्रग्रन्थ आदि उनके पास में। सुलतान के आक्रमण के कारण ये लोग काँकण में भाग गये। राह में चोराँ ने उन्हें लूट लिया, तब यह ग्रन्थों की झोली भी गयी। मूलग्रन्थ याँ गये। चरित्रग्रन्थ के इस प्रकार में कई पाठ हैं। उनके बाद परशरामाचार्य तृतीय आचार्य हुए। उनके बाद इस पथ की नेरह शाखाएँ हो गयीं। उनकी आगे और उपशाखाएँ नहीं। इस प्रकार ये चक्रधर के जो भी सूत्र बचे हैं, वे केवल स्मृति के सहारे हैं। सन् १३५० के बाद महाराष्ट्र में महानुभाव पन्थ स्थिर बना। उनके पूज्य पचदेव रीदत्त, श्रीकृष्ण, श्रीचक्राणी, श्रीगोविन्द पशु और श्रीचक्रधर की लीला से पवित्र कई पूजा स्थान महाराष्ट्र में बने। कुमाराज्ञाय कोठी उर्फ मुनि 'यास ने सन् १३५३ के करीब एक गद्यग्रन्थ लिखा, जिसमें इन सब स्थानों और लीलाओं का वर्णन है। इस ग्रन्थ को 'स्थानपोथी' कहते हैं।

श्री चक्रधर के ग्रन्थ 'कर्तृत्व' के विषय में डा० त्रि० मि० कोलते ने प्रश्न उठाया है।^१ जब भावे, य० खु० देशपाढे, नेने आदि इन सूत्रों के 'दृष्टा तदाता' केशवराज सूरी उर्फ केशोवास को मानते हैं, तब सूत्रपाठ, दृष्टा तपाठ आदि ग्रन्थ केशोवास के हैं या चक्रधर के यह शका उपस्थित करके उन्होंने अपना मत दिया है कि यह सब ग्रन्थ चक्रधर द्वारा निरूपित हैं, अतः 'श्रीकृष्ण चरित्र, श्री दत्तात्रेयचरित्र, लीलाचरित्र' आदि सब चक्रधर की ही रचनाएँ हैं परन्तु महदाइसा (महाउबा) के 'धवले' के उत्तरार्ध के चारों में सम्पादक वा० ना० देशपाढे का तर्क गलत है। वस्तुतः वह भाग गहाइभट और लक्ष्मी

धर भू के णि लिखा गया है। कवयित्री की स्वयं की रचना नहीं। या कोलतनी के अनुसार महाराष्ट्र की आद्य कवयित्री के प्रथम कर्तृत्व का मान उससे छिन गया है।

जा गोरक्षनाथ और परम्परा

गोरक्षनाथ को ज्ञानेश्वर ने अपना गुरु माना है। बीच के गौरीनाथ या गहिनानाथ के विषय में कुछ विशेष पता नहीं चलता। नामदेव का परम्परा में शायद गहिनी नाम की एक सिद्धांती। १ डा० मोहनसिंह की 'गोरक्षनाथ एण्ड मिडवेल हिन्दू मिस्टिसिज्म', २ शिवाजी की 'गोरक्षनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज़', ३ रागची 'कौलज्ञान निर्णय', ४ 'योग्यम्प्रनाथापि कृति', ५ हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'नाथ सम्प्रदाय', ६ पीताम्बर दत्त उड्डवाल का 'गोरक्षनाथी' और 'योगप्रवाह', ७ राहुल सांकृत्यायन का 'गंगा' पुरातत्वांक (जनवरी १९३३) में 'मंत्रयान', मंत्रयान और चोरासी सिद्ध, लेख पृष्ठ २१४ से २२६, ८ बुडरफ का 'शक्ति एण्ड शाक्त', ९ आर्थर एलेन का 'महानिर्माण तंत्र', 'कौलावली निर्णय', १० कल्याण शिवाक तथा ११ रागेय राघव का 'गोरक्ष नाथ तथा उनका युग' नामक अप्रकाशित प्रबन्ध में पढ़े हैं। उनका सहार नाथ का जानकारा संकलित करके उपस्थित कर रहा हूँ।

राहुल जी ने ति उत्ती तजूर के और तेरगाँ मठ से गात सूची के आधार पर जो सिद्धांती सूची की है, उसमें नौव 'गोरक्षपा' है। इस चोरासी सिद्ध सूची में चार शिवा हैं, जो 'योगिनी' कहलाती है। वे हैं, मणिभद्रा, मेखला, कनखला, लक्ष्मीकरा। वर्णरत्नाकर की सूची में गोरक्षनाथ का दूसरा नाम है। नव नाथों के जो परपरित नाम हैं, उनमें आदिनाथ मत्स्येन्द्रनाथ, जालंधर नाथ के नाम अग्रस्थ होते हैं। आदिनाथ को नाथपथ वाले शिव, उड़ीसा वाले मत्स्येन्द्र, और राहुल और उड्डवाल जालंधरनाथ मानते हैं। स्वाभाराम की 'हठयोगप्रदापिका' (५-९) में 'चौरगी मीन गोरक्ष निरूपण त्रिलक्षमा ।' आदि श्लोकों में गोरक्ष सातव है। चर्यापद की सूची में गोरक्ष नहीं है। महार्णवतंत्र में बारह शिवा का चर्चा है, वहाँ जो नव नाथ दिये हैं, उनमें गोरक्ष प्रथम है और उपर्युक्त चार नाथों के सिवाय नागार्जुन, सहजार्जुन, दत्तात्रेय, देवदत्त और जडभरत भी हैं। कौलावली तंत्र में गोरक्ष का नाम पाँचवाँ है,

ग्यामारहस्य म द्रुटा । इस् प्रकार मे गोरक्ष का ब्यक्ति ए एक रहस्य म लिपा ह आर उमका काग भी अनिश्रित ह । शहीदुल्ला उन्ह आठवीं शती म ले आत है तो ना० प्र० मभा क १९०२ क विवरण म उन्ह पन्द्रहवा शती क आरम्भ म पताग गया हे । प्रगाल क धर्मन्त्र सम्प्रदाय म सष्टि उ पत्ति की यह कया मानी जाती हे कि मत्स्यन्द्रनाथ (माननाथ) चार अन्य मिडा सहित आदिदेव या आदिनाथ के गडे हुए मृत शरार से निरल थ । गोरखनाथी म कइ स्थाना पर म स्येन्द्र को आदिनाथ (निरजन या धर्म तथा मनसा का पुत्र) कहा गया हे (सुकुमार सेन प्रेमी अभिन वन ग्रन्थ, टीकमगढ़, १९४६) । योगि सम्प्रदायाभिपक्रति क अनुसार गोरक्ष की गुरु परम्परा ह आदिनाथ मत्स्येन्द्र नाथ गोरक्षनाथ गहिनानाथ । पागारकर क 'ज्ञानेश्वर चरित्र' म इमी परम्परा म निवृत्तिनाथ ज्ञाननाथ कहा ह । पर निवृत्तिनाथ का एक मराठी अभाग हे

आग्निनाथ उधा जीज प्रगटल । मत्स्यन्द्रा लावल सहज स्थिती ॥

तच्चि प्रेम मुद्रा गोरक्ष दिधली । पूर्ण कृपा केली गैनीनाथ ॥

और पागारकर ने गहिनानाथ की लिखी एक हिन्दी पुस्तक 'गहिनीप्रताप' का उल्लेख किया हे, जिसम लिखा ह

गोरख सुत गहनी कह, नाथ पत्र की बानी ।

ग्यानी जानत गुरु पुत होत, सोहि चढ़े निरबानी ॥

डा० बडवाल के अनुसार^१ गोरखनाथ के परिक्षीलन से पता चलता हे कि गोरखनाथ ने अपने योगप्रदान मत की नींव शाकर अद्वैत वेदान्त पर रखी थी

अभेद भेद भेदीले जोगी उदत गोरख राई ।

आत्मा परिचे रागो गुरुदेव सुदर काया ॥

साथ ही (गोरख की) रचनाओं में नागार्जुन क श्र यज्ञाद और असग के विज्ञानज्ञाद के भी कुछ भवशिष्ट चिह्न मिलते हे, यद्यपि वे अत्र केवल ब्रह्मज्ञाद और मायावाद के जाहरी आवरण मात्र रह गये हैं । कहीं कहीं तो शून्यवाद का स्पष्ट विरोध भी मिलता हे

१ योगप्रवाह काशी विद्यापीठ प्रकाशन, म० २००३, पृष्ठ-१८ ।

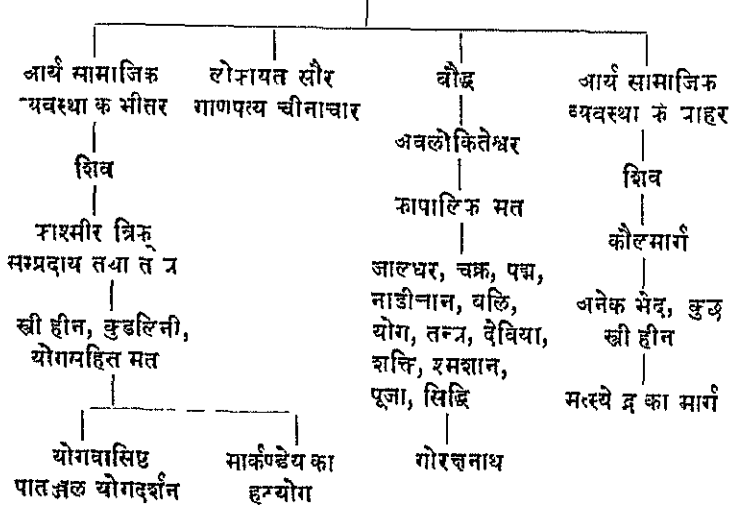
प्रतां न सुय सुय न प्रतां अगम अगोचर ऐया ।

गगन सिग्ग म तालका त्रोल ताका नाप धरहुगे कया ॥

इससे तो बात प्रकट होती है, एक तो यह कि गोरक्षनाथ का प्रौढ़ धर्म क साथ कुछ न कुछ सम्पर्क था और दूसरी यह कि शाकर मत का इतना प्रचार हो गया था कि उगने स्वयं प्रौढ़ धर्म में घुसकर उसे पन् च्युत कर दिया था ।

गोरक्षनाथ का नाम उडिया भाषा के प्राचीन साहित्य में, रारल्लदाम के महाभारत में, अच्युतानन्द रास की श्रयमहिता में और जसोवत दाम्य के रास में मिलता है । जहाँ शिव परमगुह्य ज्ञान को जानने वाले, उनसे रोमांच, सुशुण्डि, वशिष्ठ, राम, हनुमान, ७ योगी, स स्यन्द, गोरख, मलिकठ यह गुरु परम्परा है । डा० रागेय राघव के अनुसार—

यज्ञवाद शाक्त उपासना



डा० रागेय राघव का निष्कर्ष है कि 'यज्ञवाद वास्तव में सामंतकालीन व्यवस्था में उत्पादन के साधना में परिवर्तन न होने से एक विशेष प्रकार की वर्धरता है, जब मनुष्य विलास की ओर आकर्षित होता है । इस अवस्था में व्यक्तिवाद ही चरम सीमा है । यही गोरक्ष में परिलक्षित है ।' (पृष्ठ-२९३) ।

त्रिगज का (पृष्ठ-२२०) अनुमान है कि 'गोरक्षनाथ पहले पञ्चयानी साधक थे, बाद में इन हुए ।' सम्बन्धनाथ का ज्ञानमार्ग शाक्त था, बौद्ध नहीं । पूर्ण गिरी गोरक्षामी अपने नाथसम्प्रदाय नामक लेख में कहते हैं, 'गोरक्षनाथ का नाथ पर उल्लेख नहीं है । उसमें अनीश्वरवाद के लिए कोई स्थान नहीं है । भगवान् आदिनाथ शरर इस पर के भूत प्रवर्तक माने जाते हैं । जिन विद्वानों की यह प्रारणा है कि नाथसम्प्रदाय बौद्धों से प्रेरित हुआ, वे सम्भवतः चोरामी सिद्धों और नाथों से कोई मौलिक अन्तर नहीं समझते । यदि नाथ लोग सिद्धों के दिवाय मार्ग को ही अपना साधन चुन लेते तो उनको कोई भी महत्त्व न मिलता । किन्तु सिद्ध लोग निश्चय ही धार्मिक द्वाय के द्योतक थे और पञ्चयान का शाखा प्रशाखाया से उनका विश्वास रचन थे । नाथों की प्राथिकता में 'शून्य' और 'निवाण' जैसे शब्द आते हैं, जिनसे कुछ लोग यह अनुमान लगा सकते हैं कि बौद्धों का 'शून्य' और 'निवाण' नाथों को भी प्रभावित कर चुका था । योगियों ने इस प्रकार के शब्द बौद्ध धर्म से ही नहीं, और भी बहुत से सम्प्रदायों से लिये, किन्तु उनका प्रयोग सर्वत्र अपनी परम्परा के अनुकूल नहीं मिला है । योगशास्त्र के अनुसार ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर साधक ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है । इसका अनुभव सुनिफल कहकर पुनरा गया है—

उत्तरखण्ड जादृश सुनिफल प्रादृवा ब्रह्म अगनि पहरिना चीर ।

नीक्षर झरण अमृत झरिया यू मत हुआ धीर ॥

—गोरखवानी, पृष्ठ-२४

यहाँ उत्तरखण्ड का अर्थ 'ब्रह्मगुहा' लेना होगा और 'सुनिफल' का अभिप्राय उस अवस्था की अनुभूति से है ।

सुनि ज माई सुनि जा वान । सुनि निरजन जारे वान ॥

सुनि के परचे अया समीर । निहचल जोगी महा गम्भीर ॥

—गोरखवानी ।

यहाँ सुनि का अर्थ अन्तःप्रज्ञात मन्त्रादि है । उस स्थिति को प्राप्त कर लेने के पश्चात् योगी निश्चल अवस्था को प्राप्त कर लेता है ।

वस्ता न सुन्य सुन्य न वस्ती अगम अगोचर एसा ।

गगन विपर म वालका गोल ताका नाव बरहुगे केसा ॥

—गोरखपानी ।

उम निर्गुण सगुणातीत ब्रह्म को जो केवल अनुभवगम्य है, किस नाम से पुकारा जा सकता है ?

गोरखपथी योगियां क त्रिषथ सं और एक मनोरजक बात ह सुसलमानों द्वारा उनका भय मानना । इन्हें प्रतूता नामक सिखी यात्री ने लिखा है कि मात्रश उच्चहर क सघाट तरम शीरा क कैम्प सं प्रतूता ने स्वयं इन योगियां के चमत्कार को देखा था । य धरती म गुफाए बनाकर रहते थे और सत्रे शाम सिंगी बजाया करते थे । ताती, जुलाह, गडरिए, दरजी आदि प्रयत्नजात्री जातियां आदिनाथ को माननेवाली गृहस्थयोगी २ । उक्त से गृहस्थयोगी सुसलमान हो गये हैं । कत्रीर ऐसी हा गृहस्थयोगी जाति के थे । बुद्धदेखण्ड के गडरियां क पुरोहित 'योगी' होते ३ । उनके विवाह म त्रां म गोरख मछुन्दर क नाम आते हैं । शक फेजुल्लाह नामक उगाली कवि की पुस्तक 'गोरखविजय' म कदली देश की जोगिन गोरखनाथ को फँसाती है, तब कहती है, 'तुम बलिष्ठ योगी हो, म जवान जोगिन हू क्यां हम किसी परया करे म चिहना सूत कात दूंगी, तुम उसकी महीन धोती बुनोगे और हाट में बेचने ले जाओगे, तब इतनी सम्पत्ति मिलेगी कि तुम्हारी क्या म भी नहीं अँटेगी ।' कबीर के चरित्र के प्रसंग म डा० मोहनसिंह ने कहा है कि 'गोरख की गद्दी के शालनाथ क टाले के जो वारिस ह (यह टीला निजामुद्दौल ओलिया ने १२वीं १३वीं शती म वर्णित किया है, १६वीं शती म दामोदर ने, १७वीं शती के नानक क जीवनी लेखकों ने और निजामुद्दीन एहमद, एनेअकबरी, फरिश्ता आदि ने इस जगह का उल्लेख किया है) वे अपने आपको धीर कहते हैं । कई यवन नार्थों में विद्वान्तात हुए अधपानाथ अरब और गुगा क गुरु बाबा रतन हाजी दोनों गोरख के चेले हैं । गोरखपथ का निर्गुण सुखिलम मूर्तिपूजाविरोध से मेल खा गया हो तो आश्चर्य नहीं । उल्लेख म जो भर्तृहरि की गुफा है, उसके पास का मछुन्दर का टीला हिंदू सुखिलम दोनों द्वारा एक सा पूजित था, ऐसी परम्परा मिलती है ।^१

^१ नाथ सम्प्रदाय, पृष्ठ २१ ।

डा० बडध्वाल कहते हैं—“निर्गुण शाखा वास्तव्य म योग का ही परिणाम रूप है।” ज्ञानेश्वर के दादा गोविन्द पन्त और दादी निराड पर भी गयतीनाथ का अनुग्रह था, ऐसा नामदेव की आदा स^२ जाना जाता है। भिगारकर ने अपने ज्ञानेश्वर चरित्र म मत्स्य-द्रव्यहिता से दो श्लोक उद्धृत किये हैं, निम्न ‘सष्टे पुरा सप्तैवासीद्वक्त्रमेवाद्वितीयम् जसोऽपदान्त शदावली ह। परंतु डा० शंकर दामोदर पडसे के अनुसार^३ मडि दर और गोरख को श्लोकपद रचना करके लायक नस्कृत भाषा आती थी, ऐसा मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। डा० माहनसिंह द्वारा अत्रनी म अनुवादित गोरखप्रोध म शून्य शब्द कई बार आये हैं। मन का प्राण जीव है, जात्र का आधार ब्रह्मरूप है और वह अचिन्त्य है। शिव और शक्ति का भी उल्लेख गोरख ने किया है। ‘सिद्ध सक्ति ले उनमनि रहं, ऐसे विचार मच्छन्द्र कहै’ (गोरखप्रोध, पृष्ठ ६०)। ‘यहु मन सकती यहु मन सीव’ (गोरखप्रानी, पृष्ठ १८)। उल्टी शक्ति से कुडलिनी जागृति का उल्लेख है। पट्टचक्रों का भी नाम लिया गया है। गोरखनाथ के नाम पर कुछ मराठी पद भी हैं, उनम भी मूर्ति पूजा का निष्फलत्व दिखायी देता है।^४

पाषाणाची डउळ । पाषाणाचा देवो ॥

पाषाणाची पाउळी । तेथ न फिटे सवेहो ॥

निजलिग न्याहाळितां । जागही तुम्ही नाही ॥

—(महाराष्ट्र सारस्वत, पृष्ठ-३७)

यह पद डा० बडध्वाल की ‘गोरखप्रानी’ म पृष्ठ १३३ पर इस प्रकार दिया है। इस पद की भाषा पर मराठी प्रभाव स्पष्ट है।

कैसे बोलो पटिता देव कौनों ठाई।

निज तत निहारता अम्हें तुम्हे नाही ॥ टंक ॥

१ योगप्रवाद, पृष्ठ-७५।

२ सकलस तगाथा नामदेव, पृष्ठ-८८४-८५।

३ श्री ज्ञानेश्वराचें तत्वज्ञान, पृष्ठ-६०९।

४ वहीं, पृष्ठ-४१२-६१३।

पापाणची देवली पपाणचा दय ।

पपाण पृजिला तैस फाटाला मनह ॥ १ ॥

सगजाय तेडिला निरजीय पृजिला

पायची करणा कैसे दूतर तिरीला ॥ २ ॥

डा० पडमे क अनुसार मस्छिन्द्र, गोरस्त, गयनी और निवृत्ति के दर्शन मं शून्यवान्, निर्गुण, निराकार, नामरूपातात परमतत्त्व का अद्वैतवाद, मायावाद, भ्रान्ति, अज्ञान इत्यादि भावना स अद्वैत की उपपत्ति, सृष्टि का सृगजलवत् आभासकत्व, अतिरेक और अन्वय दोनों पद्धति स अद्वैत प्रतिपादन का पता चलता है। महाराष्ट्र की दूमरी नाथपरम्परा है मुकुन्दराज की आदिनाथ हरिनाथ, रघुनाथ, मुकु दराज। मुकुन्दराज न त्रिविकसिन्धु और परमात्मत दो ग्रथ प्रख्यात हैं। हरिनाथ को तो प्रत्यक्ष आदिनाथ शम्भू का अनुग्रह प्राप्त था। उनका उत्तर क नाथपन्थ स सम्बन्ध नहा आया। मुकुन्दराज ने गोरख ज्ञानेश की तरह योग का समर्थन नहीं किया। सी० अद्वैत का प्रतिपादन किया है।^१

इ वेदान्ती तथा शैव परम्परा

१३५० ईस्वी क बाद क शैव साहित्य क सम्बन्ध में फरकुर ने लिखा है कि इस काल म बहुत सा ऐसा शैव साहित्य निमित्त हुआ जो शैव पन्थ से जाहर का था। बंगाल में राम कृष्ण का शिष्यायन लिखा गया। पर वह बहुत बाद की रचना है। गुजरात में शिवानन्द क पद भी बहुत प्रसिद्ध हैं। तेलुगु प्रदेश म रू दपुराण का १५वीं शती में, कूर्मपुराण का १५वीं शती में, और मत्स्यपुराण का १५५० म अनुवाद हुआ। वमना के प्रसिद्ध पद इसी काल क हैं। वमना त्रिसना (कृष्णा), गुट्टर और नेल्लोर प्रांता में राज्य करनेवाले वमा रेडी कुल का था। वमना का काल पन्द्रहवीं शती का प्रारम्भिक काल है। तिरुवाकुर म सत्रहवीं शती में मलयालम म शिवपुराण और ब्रह्माण्डपुराण भी अनुवादित हुए। पन्द्रहवा शती में तमिल में अरुणगिरि नाथर ने तिरु पुहल नाम से 'सुब्रह्मण्य' देव की स्तुति में गीतिमाला लिखी। कन्नड के लिंगायत सन्तों की प्रभुलिगलीला का तमिल पद्य में अनुवाद शिवप्रकाश स्वामी ने किया (१७वीं शती) और अभी भी शैव उसे प्रयुक्त करते

है। पाशुपत शैव इस काल में प्रायः लुप्त हो गये, केवल कापालिक, अघोरी, ओषड़ जन्म मिलते हैं।

कापालिका के त्राममार्ग में त्रौल्लिमार्ग और चानाचार तक मिलते हैं। कोलसायना में योगसाधना का तरह गुफा में बड़ा माहात्म्य है। गुरु ही परमशक्ति है, वह बहुत उच्चरथानीय है। वह परममंत्र और परमजप है। वहीं पराविद्या है। उसके बिना कुछ नहीं। जिसमें गुरु प्रसन्न है उसमें महेश्वरी भी प्रसन्न है। जिसमें गुरु सतुष्ट नहीं, उसमें सदाशिव भी सन्तुष्ट नहीं। जो गुरुद्रोही है वह सतत पाप करता है। उनका मुटु भी धुरे रस है। घृणा, शत्रुता, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील, भक्ति, पाप है। पाशुपत पशु है। पाशुमुक्त सदाशिव ही पाशहर है। गकार सिद्धिदायक है, रेफ पाप का नाशक है, उकार शिव है। ताना ही ताना का परमगुरु है।" ऐसा गुफा अन्तर्मुख, अन्तर्दृष्टि, सर्जक, देशकाल का जानता है। यह सब गुरुवर्णन ज्ञानेश्वर के 'अमृतानुभव' के आरम्भ में भी मिलता है। गुरु माहात्म्य के अतिरिक्त वामाचार दूर दूर तक फैले थे। बलचिरतान में हिमालय के शाक्त मन्दिर को ही आये भक्त सफेद मणियों की माला गले में पहनते थे। उनका मंत्र 'शिवगोरक्ष' था। तामिलनाडु में शिव मन्दिर सब नातियाँ के लिए खुले हैं। पुजारी सर्वत्र

- १ गुरुरेव परो मत्रो गुरुरेव परो जप ।
गुरुरेव परा विद्या नास्ति किञ्चिद् गुरु बिना ॥
यस्य त्रुष्टा गुरुर्नास्ति तस्य त्रुष्टा महेश्वरी ।
येन सनोषितो देवि गुरु स हि सदाशिव ॥ (रुद्रयामल)
- २ ये गुरुद्रोहिणो मूढा सदिते पापकारिण ।
तेषां तु यावत् सुकृत दुःकृत स्यात् मशय ॥ (ब्रह्मवैवर्त)
- ३ घृणा शत्रुता भय लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी ।
कुल शील तथा शक्तिरष्टो पाशा प्रकीर्तिता ॥
पाशुपत पशु प्रोक्त पाशुमुक्त सदाशिव ।
नस्मात्पाशहरो योऽत्र सद्गुरुर्नाय उच्यते ॥ (मेरुत्रय)
- ४ गकार सिद्धिदा प्रोक्तो रेफ पापस्य दाहक ।
उकार शिव इत्युक्तस्त्रितयात्मा गुरु पर ॥ (आगमसार)
- ५ अन्तर्मुखोऽवहिष्टि सत्रसो देशकालवित् । (कुलार्णवत्रय)

ब्राह्मण है, कुछ छोटे मंदिरों में पड़रम अर्चन है। वेदान्त सूत्रों पर श्राकण्ठ त्रिपाचार्य ने शब्द भाष्य लिखा। इसकी लिपि का निश्चय विद्वानों में नहीं हो पाया है। पर शासन १४०० ईसा नहीं है। उस भाष्य का मत शप विशिष्टाद्वैत है।^१ अल्पय दक्षिण में इस पर 'शिवकार्यमणिनीपिका' नामक टीका लिखी है। शम्भुदेव की 'सिद्धा न्यापिका' का सार नीलकण्ठ के श्रियासन में मिलता है। शिवाद्वत मत तामिल शास्त्राहित्य में पाया जाता है। इन्हां में परश्वरनादा गुडिनात्ता मूर्तिपूजाविरोधी पत्र चित्रर या मित्रर नाम का मिलता है। इस शास्त्र का र्ज है सिद्ध। यह शब्दों की नीति में हुए। इसमें अल्पय और परश्वरती मुख्य गायक हुए। मित्ररों का भजन 'शिवप्राकयम' में मिलते हैं। तनुप राथर ने सत्रवा गती में मूर्तिपूजाविरोधी ग्रन्थ 'अटङ्गन मुडङ्' लिखा। फरकुहर के अनुसार यह शायद मुस्लिम प्रभाव का द्योतक हो, अथवा मुस्लिम ईसाई दोनों प्रभाव उस पर पड़े हैं।^२

वेदान्ती तथा शैव परम्पराओं का यह मिश्रण दक्षिण में जब हो रहा था, तब उसका हमारे विवेच्य काल में सर्वोत्तम स्वरूप कर्नाटक के वीरशैवदर्शन में मिलता है। नव कल्याणमठ, धारवाड़ के श्री कुमारस्वामी जी ने 'दि प्रीरशेव फिलासफी एण्ड मिस्टिसिज़्म' नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। उसमें पृष्ठ-५९ पर काश्मीर के प्रत्यभिज्ञामत और प्रीरशेवमत के सास्य को बताते हुए लेखक ने बताया है कि काश्मीरी शैव महेश्वर को निरी 'सिसृत्ता' (सृष्टि करने की इच्छा) होते ही यह सृष्टि निर्मित हो जाती है। यह सिसृत्ता ही पापकारण है। प्रीरशेव मत में इमी को चिच्छक्ति कहते हैं। इमीका दूसरा नाम शिवशक्ति भी है। अनुभवसूत्र में कहा गया है—

१ श्राकण्ठ के शैवभाष्य (१११३८) में तत्र को वेदवत् प्रमाण माना है। दोनों के निर्माणगत। एक ही शिव है। वेद भी शिवनाम है। केवल एक निर्माणकों के लिए है, आगम सभी के लिए।

वयं तु वेदशिवानामयोर्भेदं न पश्याम। वेदोपि शिवनाम त्वत्तियवहारो युक्त तस्य तत्त्ववृत्तत्वात्। जन शिवनामो द्वित्रिषु त्रैत्रिगुणविषय सर्वविषयश्चेति। उभयोरैक एव शिव कर्ता उभावपि प्रमाणभूतो वेदनामी॥

२ फरकुहर वही, पृष्ठ-३५२।

शक्तिरप्रतिभा साक्षात् शिवान् सह प्रमिणी ।

साक्षिणी सत्यस्य पूर्णा निर्विकल्पिका मत्स्वरा ॥

इन्हा सूत्रों का परब्रह्म का वर्णन है—

एकमेव परब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ।

शिवत्वं च शिवाचार्यं स्वल्पित्वाहुरादरात् ॥

पारम्परिक मत में इस प्रकार से 'स य, ऋत और वृहत्' का प्रकार हुआ है । यही ज्ञान आगे चलकर अहमप्रभु के गोप्य मंत्र में मिलती है, जहाँ प्रकाश का वर्णन है, जो रजा द्रव्य का गीताजलिक 'आटो । माटो । भुवन भरा आटो ।' से मिलता है ।^१ नाद, त्रिबु, स्पन्द, मला नाडि शत्रु रहस्यवादिश्री की पारिभाषिक शब्दावली यहाँ भी है । साहस से 'म' (नाम) 'ह' (माया) जब चली जाती है तो विशुद्ध प्रणव या ॐ वचता है । जैसे कहा है—

सोऽहं त्यक्त्वाऽसमग्रं स्वपदपरपदं व्यक्तवर्णद्वयं तत्,^२

व्यालुपेत् व्यजने द्वे पुनरपि रक्षयेद्विन्यमौकारमन्त्रम् ॥

ज्योतिर्लिंग (परब्रह्म) ही इष्टलिंग (आमन्त्र) है । 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' की बात छा लोग और बृहदारण्यक में चार्ले के दाने, जाँ के दाने, राइ के दाने से भी छोटे प्रमाण से कही जाती है, जो कि धरती से, आकाश से, स्वर्ग से, सप्त लोक से भी बड़ा है । बाइबिल में भी यही राइ (मस्टर्ड) के दाने का दृष्टान्त है । वहाँ स्वामी सब अस्तित्ववाचक वस्तुओं का स्वामी है । गीरशत्रु मन्त्र बसवेश्वर (चारहवीं शती) का एक वचन इसी प्रकार है ।^३ अग चिद्रूप है, लिंग सद्रूप । अहमप्रहोपासना में लिंगाम सामरस्य वर्णित है ।

अकामहादेशी नास्ती रहस्यवादिनी कवयित्री के शब्दों में करस्थल, मनस्थल, भावस्थल में से होते हुए ज्ञानस्थल (जो कि अनुभवजन्य है) तक पहुँचा जा सकता है । वहाँ से सर्वांगलिंग स्थल तक हम पहुँचते हैं । यह लिंग वस्तुतः वीरशर्मा के लिए एक 'कुरुह' या प्रतीक मात्र है । ज्या प्रिजिलुस्की के

१ निटिल भ्रम यद् स्पष्टिक उणद् ज्योति (महामन्त्र गोप्य) ब्रह्म कवि अहमप्रभु ।

२ शिवयोगप्रदीपिका ।

३ जगद्गल मुगिलगल मिगेयगल निम्मिगल ।

अनुसार आग लागत (हल) से निकला है और इसका मूल आस्ट्रियन एशियाई है। कुछ विद्वान् इस वदिक गजबंदी से निमित्त मानत ह। तीमरा मत 'लिंग' धातु म इमफा निर्गुण करता ह। परमात्मा शिल्पी ह, अत उह परम लिंग (आग) ह। द्वाविड आन, अनिल, अम्मा और अतम् के प्रतीक ह शिव, शरण, शक्ति और सृष्टि।^१ आत्मलिंग हा उल्लेख जानशचरी में है और अध्यात्मलिंग का भा।

ब्रह्मयज्ञर क उचना स भी शिरोपासना और अद्वैत का यह सामजस्य स्पष्ट जाना ह। उमय कहते ह (१) इस ससार ने मुझे सर्प की भाति काट लिया ह और पञ्चन्द्रिया के विष ने मुझे अचत कर दिया है। तब से मे नम शिवाय म त्र दुहुरा रटा हूँ हे कुडल सगम। (२) हाय। हे शिव, तुम्ह कोई दया नहा। मे मर जाऊँगा। हे शिव। तुममें जरा भी कृपा भावना नहीं। तुमने मुझे जन्म हा क्या लिया, इस लोक म दुग्नी और परगोक म निराश, म जनमा ही क्या। ओ कुडल सगम, इसस तो म मुझे एक पोधा या बृच हा जना दता तो अच्छा होता। (३) यदि शिव तुझ पर प्रसन्न हुए तो नष्ट हो जायगा जमे पर से मिट्टी का उडा उर्तन, ओ कुडल सगम। (४) ककैया चमार मेरे गरु, छेचैया महागुरु और शत्रैया था मेरे पड़ोसी ह। इह भक्ति क मूल मन्त्र मालम है। पर (मेरे मन्त्री कुल म होने से) इन गरीबों श्रमिका से मेरे सम्पर्क के तार म फुमफुसाहट होता हे, ओ कुडल सगम। (५) ककैया मेरे चाचा ह। बाममया टोह उजाने वाले मेरे उडे भाई है। फिर भी मुझे भूल गये कुडल सगम।^२

ब्रह्मेश्वर ने एक विराट् रूप का वचन भी कहा हे 'तेरो ग्रीवा से रुद्र बने हूँ। तेरे स्कन्धों से विष्णु। तेरे जाजुर्वा मे ब्रह्मा। पैरों से इन्द्र, मन से चन्द्रमा, जीवों से सर्प जन्मे। सुरा से अग्नि और श्वास से वायु और नाभि से ध आकाश। उमगुना तीन और ताम दशलक्ष (१३ कोटि) देवता तेरे मिर से निकले। तेरे परों क नाचे पृथ्वी और तेरे कानों म उशदिशा अस्तित्व के धन्धना म फूट पडे है। अपन उदर म तूने अतीम अनन्त की सयोजना की

१ कुमारस्वामा गीरसैन फिल्लासफी एड मिस्टिसिबम, पृष्ठ-११९।

२ सुरिगण्या चिगटरी और सी० एस० वामी सिलिकेटेड सेविगज आफ बमब (वचनमडप, बेलगाव) १९५२।

हे। इस प्रकार से सर स्वामी कुडल सगम क सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष, सहस्र हस्त, सहस्र चरण और सहस्र दान हे। इस विराट रूप से ज्ञानेश्वरी के विराट रूप दर्शन का भाग तुल्य है।

अपने 'कुडलिनी तत्त्व' लेख में गायानाथ कपिराज वेदान्त और क्षेत्र मती का यह 'मिलनस्थल' 'महाविन्दु तुरीय' की सामरस्यावस्था और परमाणुओं के पचीकरण के प्रसंग में समझाते हैं ' जो साक्षा की दृष्टि का क्षेत्र है वहाँ आनाश पदवाच्य है। प्रथम त्रिन्दु का प्रस्तरक्षेत्र ही चित्राकाश है। इसी को कहीं कहीं 'परन्धोम' भी कहा है। द्वितीय त्रिन्दु के प्रस्तर क्षेत्र को चित्राकाश कहा है। इसके मध्य में गद्योत्तमाला के समान कोटि नाटि गद्याण्ड श्रेणियाँ भासमान रहती हैं। इस द्वितीय मण्डल के बाहर गाडाघ कारमय तृतीय मण्डल की सत्ता है। यह अग्रण्ड तमामय एत विभाग का प्राप्त हुए तृतीय त्रिन्दु के प्रस्तरण में उपन हाता है। इस 'अनाश' भा कहते हैं। यही 'माया' या 'आवरण' कहा जाता है। वेणवगण इन्हीं भूमि को बहिरंग कहते हैं। महाप्रलय के समय में यह पचीकृत भूमि स्वभाव के नियम से अपचीकृत अवस्था का धारण करती हुई पाँच भागों में विभक्त होकर विशुद्धादि पंचचक्रों में विलीन हो जाती है। प्रसरशक्ति की क्रिया के समाप्त होने पर सकोच शक्ति की क्रियावृद्धि के क्रम से पंचचक्र उपसहृत होते हुए पंचत्रिन्दु का रूप धारण करते हैं। पुन सकोच शक्ति क्रम से वे पंचत्रिन्दु आपस में सम्मिलित होते हुए एक त्रिन्दु की जाकृति में परिणत हो जाते हैं। आज्ञामण्डल अथवा तदस्थ चित्परमाणुपुज भी इसी प्रकार उपसहृत होते हैं तथा सहस्रारमण्डल भी मूल सत्त्वत्रिन्दु में आनुचित होता है। तदनन्तर 'सत्त्व, रजस् और तमस्' य तीन त्रिन्दु अथवा मूल त्रिकोणरूपा महाशक्ति के तीन कोण, जिनका आविभाव सृष्टि के आरम्भ में हुआ था, अपना वेपथ्य परित्याग कर अन्त स्थित महात्रिन्दु में साम्यभाव से अभ्यिस्त रहते हैं। इन्हीं महात्रिन्दु को वेणवगण 'महात्रिण्यु' तथा त्रिक मतावलम्बी शवाचार्य वा शाक्तागमविद्वगण 'सदाशिव' कहते हैं। वेदा त में यह 'तुरीय' नाम से व्यपहृत होता है। वस यही सामरस्यावस्था है। इस समय साक्षा और साम्यशक्ति एकाकार अर्थात् अद्वैतभावापन्न रहते हैं। इस अवस्था में न देश है, न काल है, न कला है, न मन की सत्ता है, अधिक

व्या, उ मनां शक्ति भी इय समय निःप्रिय रूप वारण कर लेती है। इयके अन तर भी एक जयन्त्या ह जियका कुछ विद्वान् 'तुयातात' पद से व्यवहार करते हैं। तत्र एव तात्क गण के शिव और शक्ति या कामेश्वर जामेश्वरी, तथा गाँडीय पणवा के रावा वृण पृजाक्त महाविदु से उर्ध्वभूमि म अज भियत रहते हैं^१। इसी पर टिप्पणा करते हुए गोपीनाथ खिराज ने आगे बताया है कि द्वाका, मथुरा, वृत्ताय य तीन वाम महाविदु की सीमा से अतीत है। चिन्तन भद्राशिवनत्र क भेद किये गिया (जाने विना) अर्थात् आचार्य तन्त्र द्वारा प्रदर्शित निर्गुण अद्वैत तत्त्व म प्रतिष्ठित हुए त्रिना नित्य लीला म प्रकाश नहीं हो सक्ता। यहाँ हजारिप्रसादजी की उम उक्ति का खण्डन मिलता है, सर्वा का निर्गुण तम और भक्तां को प्रमत्ता का भाव एक ही है^२। महायान सम्प्रदाय के प्रौढ इसीसे 'तत्रधातु' रहते हैं। उनकी सुप्तावर्ती एव अन्य य नि यधाम इसा उपादान से बने हैं। उसी प्रकार का भाव्य 'आकाश' तत्त्व क विषय म मिलता है। योगवार्तिक (३, ४०) में विज्ञानभिद्ध ने कारण कार्य भन् से आकाश क दो भेद माने हैं। उनका कारणआकाश, तमोमण्डल या 'माया' क समान ही है। स्वस्तित्वादी प्रौढ भी आकाश को असंस्कृत धमा म मानत है और उसे आवरणभाव जोर अवकाशरूप मानत है। आनुनिक विज्ञान के 'ईथर' की भांति वह अजायित और अजायक है। इसका हास या वृद्धि नहीं होती। यह नित्य, त्रिभु, नीरूप, स्वप्रकाश वस्तु है। वसुधे ने कहा है कि आकाश यदि आवरण भावन्वरूप न होता तो किसी वस्तु म म्रिया ही न होती। योगियों का विशुद्ध चक्र विज्ञानभिद्ध के कार्याकाश की तरह है।

प्रसार सं 'सुख' और सकोच से 'दुख' का द्व द्व पुरातन है। रागद्वेष युक्त मानव का रसज्ञान भी इसी पर आश्रित है। डा० भगवानदास ने अपने 'साय स आफ दि इमोशनल्' में इसकी विस्तृत चर्चा की है। उनके अनुसार अपने स विशिष्ट 'उत्कृष्ट' जीव की ओर 'राग' का नाम ही है सम्मान,

१ दिव्ये अभिनदन ग्रन्थ, पृष्ठ १७२-१७७।

२ शानेश्वरी (२२६) नातरी एकार्दे नाव। तैचि शैव कां वैष्णव वाचै वसे त वाग्भव। तप जाणवै।

उद्दामान, आदर, प्रथम, सुदिता, पृचा आदि । 'समान' की ओर मन्त्री, प्रेम, अनुराग, स्नेह, प्रीति, मन्त्र्य आदि । 'हान' की ओर वया, ऋणा, अनुष्णा, अनुक्रोश आदि । एमे ही द्वेष क भी भेद ह 'विशिष्ट' की ओर भय, मत्सर, असूया, इर्ष्या, 'तुल्य' की ओर काप, क्रोध, रोष, 'हान' का ओर तर्प, गर्व, अभिमान, घृणा आदि । यों, साहित्य शास्त्र म राग, द्वेष क भाव की ओर उत्तम, म यम तथा जयम के जान की वृत्तियाँ क गकर से मचारी अभिचारा भाव उत्पन्न होते हैं । यदि द्व द्व, जोडा, करना चाह तो स्यात् यां उठग शृङ्गार रौद्र, (काम त्राध), हास्य ऋणा, वार भयानक, प्रीभ म अन्भुत ।

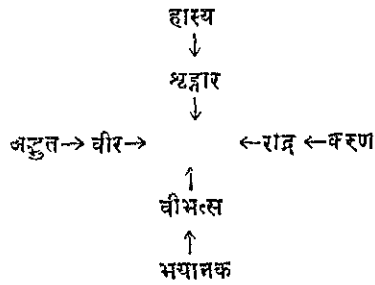
राग के इसी द्व द्वराद का समझन म निर्गुण म तत्राय क त्रव्यान्त का सीमासा की जा सकती हे । यह द्वन्द्व 'अज्ञापाम' या 'प्राणापान' क वैदिक युग से विद्यमान ह ।

इस द्वन्द्व का प्रशमित अवस्था का ही शान्त कहते हे । जयया शा त ओर शृङ्गार दोना ही केवल अवस्थाएँ हे, इस विषय म गापीनाथ कविराज ने कहा हे—

'राग का भा क्रमिक विकास ह । पृथर्वावस्था का अनुभव दास्यभाव-पर्यन्त ही होता ह । इनक अनन्तर मातुर्यावस्था का विकास होता हे । मातुर्यावस्था सख्य, वात्सल्य ओर कान्त इन तीन रूपों म प्रकट होती हे । कान्त भाव में ही मातुर्य की पराकाष्ठा हे । यही कान्तभाव क्रम से महाभाव में परिणत होता हे । यह आदिरस हे । यद्यपि शृङ्गार को आदिरस कहा गया हे फिर भी शा त ओर शृङ्गार में कौन आदिरस हे, इस विषय म साधर-सम्प्रदाय म बडा मतभेद हे, जो लालानुरागी हे व शृङ्गार को आदिरस मानते हैं ओर गांडाय वण्णव शान्त को सर्वापेक्षा निम्न मताते ह । मुख्य वात यह हे कि शा त ओर शृङ्गार दोनों ही रसास्वादन की प्रान्तावस्था हैं । काश्मीरीय शैवाचार्य यद्यपि शा त रम को प्रधान बतलाते हे तथापि व शिव शक्ति के सामरस्य रूप म शृङ्गार का शान्त से समन्वय करते हे ।' (द्वित्रदा-अभिनन्दन ग्रन्थ, प्रष्ट १८३) ।

'जय ओर विनाश इन दो वि दुओं म अस्थिरता से झूलने वाले मानवी जीवन में जो मूलभूत द्वन्द्व हे, वही नष्ट होने पर, नीचा की गति रूढ़ होने

पर, पर काव्य नहीं होगा, कोन सा रस निमित्त होगा, इसका उत्तर हे रसवृत्त स ज्ञान रस का दिया हुआ स्थान। राग भयादि, सुख दुःखादि द्वन्द्वों भा तरह रसचतुष्टया क द्व द्वाना उपशम करन पर एक शा त रस निमित्त जाना ह। पर तु इस प्रकार का द्व द्वाना अनुभव जीवन न कुछ प्रक्रिया का हो सकता ह। पर तु जापन और व्यक्ति मन का द्वन्द्व मन के लिए रस गान्न होगा, इ। शर्त्त म चचा करक श्री दि० के० गडेकर ने भरत मुनि। गिन प्रकार से रसद्वन्द्व की रूपना का हागी, उसका एक मानचित्र दिया ह—



वेदान्त शैलमत की परम्परा की चर्चा से हम रस के द्वन्द्ववाद म पहुँच गये। अरतु, महिम्नस्तोत्र के इस श्लोक से यह प्रसंग समाप्त करते ह—

त्रयी साख्य योग पशुपतिमत वैष्णवमिति,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमद् पथ्यमिति च।

वैत शैव तथा वेदान्त दर्शन का निर्गुण सन्तकवियों पर प्रभाव की चर्चा अगले अध्याय म की जायगी।



अध्याय ३

दार्शनिक विश्वास : जीव, जगत्, ब्रह्म, सृक्ति आदि

निर्गुण सत्त कवियां नी दार्शनिक सा यत्ताण प्राय ण्ण-मा ह । यहा हम इस निर्गुण मनपरम्परा ना पुराणा म, वक्तमप्रनाय म आर मत्तानुभाज, जान श्वर, नामन्त्र, एरुनाय म पुष्टि दिवाकर मनेप म य मन विश्वास मकलित कर रहे है । यथात्मभव सत्तों के मूळ उच्चन ही प्रमाणभव द्विय है । हम पहन अध्यायां में कह आय है कि उक्तिक उद्दुत्तात्ताद् धीरे वार एक सागब्रह्म नी ओग चुना, जो सनेह नहा ग ।

यह निर्गुण परम्परा ओपनिषदिन ह । ओप वेदान्त दर्शनां ने उमे पुष्टि दो । साग्य वैशेषिक, जोड्ज जन जैस निराश्वरतादी दर्शनां का भा द्रटा उमम है । शाक्त और योग मत्तों वा भी परिपाक मिलता है । पुराणा म तो स्वय भग वान् ने अपने आपको निर्गुण कहा ह । पद्मपुराण के पाताल खण्ड म श्रीकृ ण शकर से कहते ह—

- १ नारूप निर्गुण व्यापि क्रियाहीन परात्परम ।
वदन्त्युपनिषत्सचा हृदमेव ममानघ ॥
- २ प्रकृत्युत्पगुणाभावादन तत्वात्तयेश्वर ।
असिद्धत्वात्मगुणाना निर्गुण मा उदन्ति हि ॥

अर्थात् सारे उपनिषद् मेरे इस घनीभूत निर्मल प्रेममय मच्चिदानन्द रूप को ही निराकार, निर्गुण, सर्वव्यापी, निष्क्रिय और परात्पर ब्रह्म कहते है । मुझम प्रकृति का कोई गुण नहीं है और मेरे गुण अन त ह, उनना वर्णन नहा हो सकता । मेरे वे गुण प्राकृत दृष्टि से सिद्ध नहीं होते, इसलिए सय मुझे निर्गुण कहते है । पद्मपुराण का श्रीकृष्ण अपने आपको निर्गुण कहता है, तो एक अन्य पुराण में भक्त जो स्तुति करता है, उसमें उसने भगवान को त्रिगुणविरहित माना है । विष्णुपुराण के ये श्लोक इस त्रिपथ मे द्रष्टव्य है—

मन्वान्यो न सतीगं यत्र च प्राकृता गुणा ।
 न शुद्ध सर्वशुद्धंभ पुमानाद्य प्रसीदतु ॥
 सधिनी ह्यग्निनी सवित त्र्ययेका ह्युपपद्यते ।
 ह्यान्तापकरी मिश्रा त्रयि नो गुणप्रजिते ॥

अर्थात् व आग्निपुराण भगवान् मुझ पर प्रगत हर्षा, जो सारे शुद्ध पदार्थों की भी अपेक्षा शुद्ध है और जिनमें प्रकृति के सत्त्व आदि गुण नहीं हैं। हे भगवन्! आपमें एकमात्र सच्चिक्ति, चिच्छक्ति और आनन्दशक्ति ही हैं। सुख, दुःख, मोह आपमें नहीं है, क्योंकि आपमें त्रिगुण का अभाव है।

इन वचनों से स्पष्ट प्रकृत होता है कि जगत् के व्यवहार की दृष्टि से सत्त्व गुण भले ही सत्त्वान्त हो, किन्तु भगवान् में वह प्राकृत सत्त्व नहीं है। भगवान् अप्राकृत सत्त्वात् है। भगवत्सत्त्वा से तुलना करने पर प्रकृत सत्त्व अपने उच्चात्तुच्च स्तर में भी तुच्छ है, हैय है। यही तो भगवान् की भगवत्ता है।

इस भगवत्ता को पाने के लिए दत्तसम्प्रदाय के या अवधूता मत के अनुसार पहले परमात्मा के स्थूल और सूक्ष्म देह का अन्तर समझना चाहिए। परमात्मा का स्थूल देह विराट्स्वरूप है। वह चतुर्दशभुवनात्मक है। भ्रमण्डल का घटन करके जल, तेज, वायु, आकाश, अहकार और महत्ताव का वर्द्धमपिंड विद्यमान है। पृथ्वी तत्त्व सात आवरणों से ढका है। अतः शून्य और अण्डाकार है। इस अण्ड में पाच भौतिक कर्मपिंड उत्पन्न होते हैं। वह भीतर से जल द्वारा पिण्ड बनकर सहचर अग्नि के द्वारा सूक्ष्मता है और घट के समान जल पडता है। इसी कारण योगी इसे घट कहते हैं। इसमें वायु होती है। यह अन्तःशून्य होती है। ब्रह्म ग्राहक के स्थूल विषयों के ग्रहण के लिए यह सच्छिद्र होता है (अन्ते घग्भाजशाब्दोघोऽपि घटाकारा वृत्तिः । न त्वभावाकारा)। यह आत्यंतिक प्रलय की अवस्था है। बौद्धों में भी मृगतृणा, धूम, जुगनु, ज्योति, निरभ्राकाश में सूर्यप्रकाश, यह पाच अवस्थाएँ विनयतोप भट्टाचार्य के अनुसार परमज्ञानप्राप्ति में आती हैं।^१

अवधूत मत में जीवों के अलग-अलग देह ईश्वर के अनुरूप देह से विमित होकर उसी में बने रहते हैं। ये सब जीव देह अन्त में ईश्वर देह में मिलीन हो

जाते ह । जीव देह ईश्वर देह म अभिन्नता हे । जिन तरह हर घर म अंधेरा हे पर वह सर्व-यापी महा-धकार से अलग नहीं ह । दीपक के कारण यह अंधेरा अलग अलग जान पड़ता हे । दीप न होने पर उसका भाव नहीं रहता । विवेकपूर्वक देखने से जान पड़ता हे कि दीपक के होते हुए भी अन्धकार म भेद नहा हे । अलग अलग प्रत्येक जीव म जो आ मज्ञान हे, यह माया स्वरूप से भिन्न नहीं हे । जीवों के सत्र महाकारण महामाया से अभिन्न हैं । इसीलिए जत्र भगवान् जानते हैं, सत्र जन जानते हैं, जत्र वे स्वप्न देखते हैं, सत्र स्वप्न देखते ह । सभी रूप उ हीं के शरीरभेद हैं । समस्त विश्ववर्ग म वही एक ब्रह्मा हे । समस्त तैजस वर्ग म वही एक त्रिण्यु हे । समस्त प्राज्ञवर्ग म वहा एक रुद्र हे । आत्माज्ञान ही परमेश्वर जान हे । सब नाम, सत्र रूप, सत्र क्रियाएँ एक की ही हैं । परमात्मा सर्वदेवमय, सर्वभूतमय, सर्वलोकमय, सर्वमय, सर्वत्र सब ओर सत्रके सग समान हे । श्री गोपीनाथ कविराज ने 'दत्तात्रेय सम्प्रदाय क दार्शनिक मतवाद' लेख म इसका विस्तार से विवरण दिया ह ।

जगिरा, याज्ञवल्क्य, कपिल, पतञ्जलि, ऋषि, कश्यप आदि महर्षियों ने इस लययोग को समझाया हे । प्रकृति पुरुष के शृंगार से उत्पन्न ब्रह्माण्ड और पिंड दोनों एक ही हैं । समष्टि ओर व्यष्टि सम्बन्ध से एकत्रयुक्त हे । ऋषि, देवता, पितृ, ग्रह, नक्षत्र, राशि, प्रकृति, पुरुष दोनों का समान रूप से स्थान ब्रह्माण्ड ओर पिंड म ह । पिंडज्ञान से ब्रह्माण्डज्ञान हो सकता ह । श्री गुरु पदश द्वारा शक्तिसहित पिण्डज्ञान करने के बाद प्रकृति को पुरुष में लय करने को लययोग कहते हैं ।

पुरुष का स्थान सहस्रार म है और कुल्कुण्डलिनीनाम्नी महाशक्ति आधारपत्र में प्रसुप्त हो रहीं ड । उसके सुप्त रहने से ही वहिर्मुखी सृष्टिक्रिया होती ह । योगाग द्वारा उसको जागृत करके पुरुष के पास से लै जाकर लय कर देने पर योगी कृतकृत्य होता हे, उसीका नाम लययोग ह ।

योगशास्त्र म इसके नीं जग बताये गये हैं । यत्र—

अज्ञानि लययोगस्य नद्यैवति पुराजिद ।

यमश्च नियमश्चैत्र स्थूलसूक्ष्मक्रिये तथा ॥

प्रत्याहारो मारणा च ध्यान चापि लयक्रिया ।

समाधिश्च नवाज्ञानि लययोगस्य निश्चितम् ॥

स्थूलदेहप्रधाना वै क्रिया स्थूलाऽभिधीयते ।
 वायुप्रधाना सूक्ष्मा स्याद्भ्रान बिन्दुमय भवेत् ॥
 ध्यानमेतद्धि परम लययोगसहायकम् ।
 लययोगानुपूर्वा हि सूक्ष्मा या लभ्यते क्रिया ॥
 जीवन्मुक्तापदेशन प्रोक्ता सा हि लयक्रिया ।
 लयक्रिया साधनन सुप्ता सा कुलकुण्डली ॥
 प्रमुद्ध्य तरिमन् पुरुषे लीयते नान्न सशय ।
 शिवत्वमाप्नोति तदा साहाय्यादस्य साधक ॥
 लयक्रियाया ससिद्धौ लयत्रोध प्रजायते ।
 समाधिर्वन निरत कृतकृत्यो हि साधक ॥

योगतत्त्वज्ञ महर्षियों ने लययोग के नौ अंग वर्णन किये हैं यम, नियम, स्थूलक्रिया, सूक्ष्मक्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि, य नौ अंग लययोग के हैं। स्थूलशरीर प्रधान क्रिया को स्थूलक्रिया और वायुप्रधान क्रिया को सूक्ष्मक्रिया कहते हैं। यह ध्यान लययोग का परम सहायक है। बिन्दुमय प्रकृति पुरुषात्मक ध्यान को बिन्दुध्यान कहते हैं। लययोगानुपूर्व अति सूक्ष्म सर्वोत्तम क्रिया केवल जीवन्मुक्त योगियों के उपदेश से ही प्राप्त होती है। लयक्रिया केवल जीवन्मुक्त लयक्रिया कहाती है। लयक्रियाओं के साधन द्वारा प्रसुप्त कुलकुण्डलिनी नामक महाशक्ति प्रबुद्ध होकर ब्रह्म में लीन होती है। इसकी सहायता से जीव शिवत्व को प्राप्त हो जाता है। लयक्रिया की सिद्धि से महालयरूपी समाधि की उपलब्धि होती है, जिससे साधक कृतकृत्य हो जाता है।

बहिरिन्द्रियों को वश में लाने के साधन को यम कहते हैं। अन्तरिन्द्रियों को वश में लाने के साधन को नियम कहते हैं। हठयोग की तरह तृतीय आसना में से कुछ आसनों का साधन, पच्चीस मुद्राओं में से कुछ थोड़ी सी मुद्राओं का साधन ये सब लययोग की स्थूलक्रिया कहलाती हैं। उसी प्रकार हठयोग के आठ प्राणायामों में से थोड़े से प्राणायाम और स्वरोदय आदि की क्रियाएँ लययोग के अनुसार सूक्ष्म क्रिया कहाती हैं। लययोग का पंचम साधन प्रत्याहार है, जो केवल मन की सहायता से किया जाता है। प्रत्याहार सिद्धि प्रारम्भ होते ही योगी नाद का सुनना प्रारम्भ कर देता है। लययोगों

के आठवें अंग में योगी शरीर के अन्दर के पट्चक्रों को जानता और उनकी सहायता से साधन का अभ्यास करता है। योगाचार्यों का मत है कि मेरुदण्ड के नीचे से लेकर मस्तक के ऊपर तक सात ऐसे स्थान हैं, जिनकी सहायता से योगी प्रकृति-शक्ति को नीचे से ले जाकर सातव सहस्रदल के स्थान में शिवशक्ति का संयोग करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस चक्र की क्रिया के पूर्ण होने पर मुक्ति की प्राप्ति होती है। यह साधन धारणा-साधन से प्रारम्भ होकर समाधि सिद्धि तक सहायता करता है। लययोग के ध्यान का नाम बिन्दुध्यान है। इस प्रकार से योगी साधन करते करते प्रकृति के सूक्ष्म रूप का प्रदुर्लभ दर्शन करता है। उन्मीका ध्यान उद्वाने बढ़ाते और उसके साथ लययोग की कुछ और भाँ लयक्रिया जो गुरुमुख से प्राप्त होती है, उसका साधन करते करते योगी अतिम क्रिया समाधि की प्राप्ति कर लेता है। लययोग की समाधि का नाम महालय है। लययोग की विशेषता के सम्बन्ध से स्वरोदय की क्रियाएँ और अन्याय लयक्रियाएँ, पट्चक्र के भेदन की क्रियाएँ—जैसे व्योमजयी, प्रभाजयी, सुरभिजयो, अजया आदि हैं, जिनके विषय में लययोग संहिता में निम्नलिखित वर्णन है—

सूक्ष्मा योगक्रिया या स्याद् ध्यानसिद्धि प्रसाध्य वै ।
 समाधिसिद्धौ साहाय्य विदधाति निरंतरम् ॥
 दिव्यभावयुता गान्धा दुःप्राप्या सा लयक्रिया ।
 महर्षिभिर्विनिर्दिष्टा योगमार्गप्रवर्त्तक ॥
 लयक्रिया प्राणभृता लययोगस्य साधने ।
 समाधिसिद्धिदा प्रोक्ता योगिभिस्तत्त्वदर्शिभि ॥
 पट्चक्र षोडशाधाराद्विलक्ष्य व्योमपञ्चकम् ।
 पीठानि चोत्पञ्चाशज्जात्वा सिद्धिरवाप्यते ॥
 समाधिसिद्धिध्यानस्य सिद्धिश्चाप्यनया भवेत् ।
 आत्मप्रयत्नता याति चैतया योगचित्तम् ॥

जो सूक्ष्म योगक्रियाएँ ध्यान की सिद्धि कराने साधन की समाधि सिद्धि में सहायक होती हैं, उन अलौकिक भावपूर्ण, अति गोप्य और अति दुर्लभ उक्त क्रियाओं का महर्षियों ने लयक्रिया के नाम से वर्णन किया है। लयक्रिया ही लययोग का प्राण है और समाधिसिद्धि का कारण है। पट्चक्र, षोडश

आधार से अतीत व्योमपचक और उनचास पीठ, इनको जानने से लययोग में मिद्धि प्राप्त होती है। लय क्रिया के द्वारा होता है।

मन्त्रयोग म जैसे रूप रत्नना द्वारा ध्यान किया जाता है, हठयोग में जैसे भगवान् का ज्योति कल्पना द्वारा ध्यान किया जाता है, लययोग म वैसे कल्पना नहीं की जाती। लययोग का योगी योगसाधन के द्वारा अनन्तर्जात् म एक जलौकिक योगशिन्दु का दर्शन करता है। उसीको स्थिर रखकर उन्मीम परमात्मा के ध्यान करने को विन्दु यान कहते हैं। यह लययोग की विशेषता है। लययोग की दूसरी विशेषता यह है कि लययोगी यदि चाह तो सारे ब्रह्माण्ड को अपने शरीर म देख सकता है, क्योंकि लययोग सिद्धा त के अनुसार समष्टिरूपी ब्रह्माण्ड का यष्टिरूपी मनुष्यपिण्ड पूरा नमूना है। लययोग की सहायता से ही प्राचीन काल के पूज्यपाद महर्षिगण इम श्रुत्यु लोक म त्रैकर सारे ब्रह्माण्ड का पता लगा सकते थे।

महानुभाव से नामदेव तक कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है, जो प्राय सभी ज्ञानाश्रयी भक्त कवियों की रचनाओं म पाये जाते हैं। वे हैं, 'खसम', 'भरतार', 'निरजन', 'बीडुला', 'सुन्न'। खसम, भरतार और निरजन तो सरहपाद की रचनाओं म मिलते हैं, जो कि ईसा की सातवी शती में हुए। खसम को प० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'कवीर' पुस्तक में 'खसम' अर्थात् आकाश समान या 'सगुण निर्गुण में परे अवस्था' कहा है और उसे उसके अरवी अर्थ पति से भिन्न माना है। सिद्ध सरहपाद ने आठवीं शती में 'खसम' का प्रयोग इसी अर्थ म किया है—

सव्व रुअ तहि खसम करिजाह

खसम सहावे मणवि धरिजाई।

वही हाल शून्य का है। सिद्ध शान्तिपा ने रई का दृष्टान्त दिया है—

तुला धुणि धुणि आसुरे आसु।

आसु धुणि धुणि त्रिखर ससु ॥

तुला धुणि धुणि सुणे अहारिउ ॥

'निरजन' को नामदेव ने 'निर्मल' और 'ब्रह्म' दोनों अर्थों में प्रयुक्त किया है। कवीर आदि ने तो इस शब्द का आगे और भी प्रयोग किया है। प्रो०

रा० द० रानडे ने 'हिं ठी रहस्यवादियां म निरजन' नामक अंग्रेजी म दिये रेडियो भाषण म इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला ह । महानुभावियों ने 'शून्य' का प्रयोग तो नहा किया हे, पर ब्रह्म को सर्वातीत, केवल, नित्यमुक्त, शुद्ध अग्र्य कहा है । इसके प्रमाण हे 'सर्वातीत तो' (निर्वाचन २०), 'एकु जीव कैवल्य' (एकु परकैवल्य), 'जीव कैवल्य ते परकैवल्यरु रमं परकउल्य ते स्वस्वरूपी रमं' (विचार १२१), 'नित्यमुक्त तो' (निर्वाचन १०), 'अज्ञानाचे लक्षणं त्रयं लागलेचि न द्वीसे ते नित्यमुक्त अमे जाण माझे स्वरूप' (उद्धव गीता, २/९-६५६) ।

गोरखनाथ के 'शू य' शब्द के प्रयोग का पहले विचार किया जा चुका हे । निवृत्तिनाथ ने 'परमात्मतत्त्व' म कहा ह 'दृष्टी जं आगर शू याचे ज सार । तचि दशमद्वार जाण तापा ।' और 'निरालम्ब देव निराकार शून्य । मनाचेही भान हरपले ।' उज्जैन क प्राच्यग्रन्थसंग्रहालय से प्रकाशित डा० ह० रा० दिवकर के 'चाणक्य तत्त्वसार' म शून्य का ६२१, ६३९, ६५१, ६५४, ७०१, ७१६, ७२०, ७५८ ओवियों मे उल्लेख है । जैसे 'स्वयम् शून्य निर्गुणं । महाबोधे ॥'

सिद्ध तेलोपा ने इसी शून्यमयता को 'खलम स्वभावु' कहा है—

चित्र खलम जहि समसुह पडपड ।

हन्दीअ विसअ तहि मरण दीसड ॥

आड रहिज राउ अन्त रहिअ ।

वरगुरु पाअ अडअ कहिअ ॥

'शून्य' के विषय में आचार्य चित्तिमोहन सेन का मत है कि 'रज्जुजी' ने कहा 'सतगुरु शून्य समान हे' (गुरुदेव, अग ५६) । ये शून्य और सहज शब्द बौद्धों, निरजन और नाथपंथी योगियों, सहजियों और वाउल आदि स तों में भी हैं । सभी सहजवादी किसी न किसी रूप में शून्य को स्वीकार करते हैं । 'शून्य का भावात्मक जीवनाधार महाकाश न मिले तो कोई भी जीवन-बीज अकुरित नहीं हो सकता । इसलिए सहजमत में गुरु को शून्य कहा गया है ।' 'अमृतानुभव' में ज्ञानेश्वर ने गुरु को इसी प्रकार 'नामरूपशून्य' और केवल 'निवृत्ति' कहा है ।

रामानन्दधारा म गुरु परम्परा से प्रचलित एक नमस्कार है 'नमो नमो निरजन नमस्कार गुरुदेवत ।' यह न हिन्दी, न संस्कृत प्रणाम पुराना है ।

दादू ने उम्मे अपन नाम से चलाया 'दादू नमो निरजन नमस्कार गुरुन्वत' । यह नमस्कार 'पारगत' समस्त सीमाओं के पार गया हुआ है । गुरु यदि शून्य हो तो किसी विपत्ति का डर नहीं । श्रयता ही आत्मा के विहार की सहज भूमि है । कला मात्र ही अनन्त में आत्मारूपी हस्त के सहज सगीत का कल्लोल है (दादू परचा अंग ६१) । सु दरदास के 'सहजान द' ग्रन्थ (२-४) में कहा है 'जीव न सहज ही भगवान् का नाम अपने आप निःशब्द भाव से ध्वनित होता रहता है ।' दादू ने कहा है 'कुछ नहीं का नाम धरि भरग्या सब सग्यार । पूजनहारे पामि हैं, दही मा है देव । दादू ता कों छाडि करि बाहिरी माढी नेव' (साच अंग १४६-१४८) ।

शून्य का उल्लेख ज्ञानेश्वर ने बार बार किया है । द्रुत मन के सकल्प के कारण जान पड़ता है । प्राणवायु पर स्वामित्य प्राप्त होने पर मन की उपाधि नष्ट हो जाने से जीवात्मा परमात्मा का ऐक्य हो जाता है । कुडलिनी ऊर्ध्वगामी करके प्राणवायु पर निरोध पाया जा सकता है । इस प्रकार से अन्त में 'सामरस्य के मदिर' में जीव मुक्त होकर प्रतिष्ठित हो जाता है । इस प्रकार से जो समाधिसुख, उन्मनी अवस्था या तुरीयावस्था प्राप्त होती है, वह अनिर्वचनीय है । डा० पेंडसे के अनुसार 'शून्य', 'महाशून्य' की यह परिभाषा ज्ञानेश्वर ने नाथपथ से ली है । 'हठयोगप्रदीपिका' में परतत्त्व के सम्बन्ध में कहा है 'तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरञ्जने' (३।५३) । और 'सुपुत्रा शून्यपववी ब्रह्मरन्ध्र महापथ । श्मशान शाभवी मध्यमार्गश्चेत्येक चाचका' (३-४) ।

यहाँ सुपुत्रा नाडी को शून्यमार्ग कहा गया है । परतत्त्व तो शून्याशून्य से परे है । इस बात को समझाते हुए मन का विलय होने पर कैवल्य कैसे वचा रहता है, इसके विषय में सैन्धव सलिल का दृष्टान्त 'हठयोगप्रदीपिका' में और ज्ञानेश्वर में भी दिया है—

कर्पूरमनल यद्वत् सैन्धव सलिल तथा ।

तथा सधीयमान च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥ ४५९ ॥

'कापुरीं अग्निप्रवेशु । की अग्नि घातला पोतासु । ऐसे नव्हे ससरिसु ।

वेसु झाला । येका येकू वचला । श यत्रि दु शय पुमिला । द्रष्टा इग्याचा निमाला । तम्य होय ॥' ('अमृतानुभव' ७, १७७, १७८)

(कपूर का भाग म या आग का कपूर म प्रवेश हुआ—ऐसा कहने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि दोनों का नाश एकत्र होना है । एक म से एक कम करने पर त्राकी शून्य रहते है, और यह शय अपना स्वय का अभाव दिखाना ह, उसी प्रकार से द्रष्टा और दृश्य के मिट जाने के बाद होता ह ।) और 'ज्ञानेश्वरी' मं ६, ३८० म कहा है 'तेया सुसाचेनि साघात । आले परब्रह्म औनोत । तेथ लवण जसे जलाते साडू नेण ।' (उस सुख के सघात से परब्रह्म स्वय आ जाता है । जैसे लवण जल से अलग नहीं रहता ।)

'अमृतानुभव' और 'योगवासिष्ठ' में परमात्मा, जीव, जगत्, अविद्या, माया विषयक सिद्धान्त और दृष्टान्त एक से हैं ।

योगवासिष्ठ

अ परमात्मा

१ भगवन् जायते शून्यात् कथ नाम वदेति मे ॥ ३ २ ३४

शून्य निस्थोदित सूक्ष्म निरुपाधि पर स्थिरम् ॥ ३ २ ३७

यतो वाचो निवर्त्तन्ते यो मुक्तै रवगम्यते । यस्य चात्मादिका सज्ञा कल्पिता न स्वभावजा ॥ ३ २ ५

य शून्यवादिना शून्यो भासको योऽर्कतेजसाम् ॥ ३ ५ ७

ज्ञानेश्वर

अ परमात्माविषयक साम्यस्थल

१ ज्ञानेश्वरी १३ ८८०, ९२०,

६ ३१५, ८ २६, १० १६२, १५ ५१४,

७ २४, १८ १२०६ । सर्व शून्याचा निष्कर्षु । जिया वाड्ला केला पुरुषु ॥

जेणे दाहुलेन सत्ताविशेषु । शक्ति जाली ॥ 'अमृतानुभव' २७

(अर्थ—सत्र शून्या का यानी दृश्य पदार्थों का निषेध करके जिस परमात्मा का निषेध नहीं कहा गया है, ऐसा वह परमात्मा सब शून्यों का निष्कर्ष या परमावधि है । उस परमात्मा को जिस खा ने पुरुषत्व दिया, उसी पति की सत्ताविशेष को लेकर वह शक्ति बनी ।)

२ नभमाऽप्यधिकं शून्यं न च
ग्रयं चिदात्मकम् । (इस पद का प्रायः
अनुवाद ज्ञानेश्वर ने किया है ।)

आ आत्मभाव

देशादेशान्तरं दूरं प्राप्ताया सविदो
वपुः । निमित्तेणैव यं मयं तद्रूपं परं
मात्मनः ॥ ३ ७ १९

देशदेशान्तरप्राप्तौ सविदो मध्य
मेव यत् । निमित्तेण चिदाकाशं
तद्विद्धि वरवणिनि ॥ ३ १७ १२

निमित्पावर्धभागेन देशाद् देशान्तरं
स्थितौ । तद्रूपं सविदो मध्ये स स्व
भाव उपास्यताम् ॥ ६३ ३४ ४७

देशाद् देशान्तरं दूरं प्राप्ताया
सविदं ज्ञाता । यद्रूपममलं मध्ये
परं तद्रूपमात्मनः ॥ ६३ ३५ १

२ ए हर्वां सूपूरमण तेयाचे पात्र ।
तरि शून्यचि नव्हे त स्वभावे । वरि
गगनाचनि पालयें । गालनि घेतल ॥

८ १२ ॥

आ आत्मभाव व साम्यस्थल

द्रष्टा दृश्याच्या ग्रामी । मध्य
लेखू पिकासी । योगभूमिका ऐसी ।
अर्गीं वाजे ॥ १८५ ॥

उठिला तरगु जैसे । पळे आजु ही
जुमसे ॥ ऐसा ठायीं जैसे । पाणी
होय ॥ १८६ ॥

का नीदं सरोनि गेली । जागृति
नाहीं चेंयिली ॥ तेव्हा होय आपुली ।
जैमी स्थिति ॥ १८७ ॥

नाना येका डाऊनि उठी । अन्यत्र
नव्हे पेठी ॥ हे गमे तैशिया दृष्टी ।
दिठीं सुता ॥ १८८ ॥

का भावळो सरला दिवा । रात्रीचा
न करी प्रसवो ॥ तेणें गगनें हा भावो ।
वाखाणिला ॥ १८९ ॥

घेतला स्वासु बुडाला । घापता
नाहीं उठिला ॥ तैसा दोहीं
सी सिवतला । न हे जो अर्थ्यु ॥ १९० ॥

का अवघाचि करणी । विपयाची
घेणी ॥ करिताचि येके जणां । जमी
आहे ॥ १९१ ॥

तयासारिखा ठावो । हा निकराचा
आत्मावो ॥ येणे का पाहों । न पाहो
लाभे ॥ १९२ ॥

(अर्थ—द्रष्टा ओर दृश्य का प्राप्त
होने पर मध्यन्तर में जो स्थिति

उत्पन्न होनी है उस स्थिति को योग भूमिका कहत हैं। जैसे एक तरंग फिल्म गई, दूसरी उठी नहीं, इस वाच की पानी की स्थिति। निद्रा पूरी हुई, जागृति पूरी नहीं हुई, इस सपने की स्थिति। दृष्टि एक चीज पर से उठी, दूसरी चीज पर नहीं गई, ऐसी चीज का स्थिति से जो देखेगा उसे योगभूमिका कहते हैं। निद्रा पीता, रात नहीं शुरू हुई, ऐसा बीच का जो गगन की स्थिति है वह परम आत्मभाव है। लिया हुआ साँस चला गया, दूसरा लिया नहीं, इन दोनों भावों को स्पर्श करने वाली प्राणा की स्थिति। अथवा सब इन्द्रियों का विषय लेने का व्यापार चलते समय भी ज्ञान मात्र के लिए जो प्रमाता की अवस्था है। वही आत्मा का परम, शुद्ध स्वरूप है। ऐसी स्थिति में आत्मा को देवना कैसे समभव है ?)।

इ जीव

स तथाभूत एवात्मा स्वयमन्य
इवोहसन् । जीवतामुपयातीव भावि
नाम्ना कदर्थिताम् ॥ ३ १ १३

एव जीवात्रिता भावा भवभाव
नयोहिता । ब्रह्मण कल्पिताकाराद्
लक्षशोऽप्यथ कोटिश ॥ ४ ४३ १

एव ब्रह्मैव जीवाश्मा निर्विभागो
निरन्तर ॥ ३ १४ २६

इ जीव के मायस्थल

अग्निचे आडवे । मुजीत जीव
पणाचे भवे । तथा चैतन्याचे धावे ।
कारणें जो कीं ॥ २ ॥

जयाचेनि क्रपा सलिलें । जीउ हा
ठाववरी पारवाले ॥ ज शिवपणही
वोत्रिले । अगों न लवी ॥ ११ ॥

जिउ घेतल्याविणं । चालों ने
दिसी साजणें ॥ मृश्यु उरे स्वामीपण ।
तेंहि नव्हे ॥ ३९ ॥

न मनो भिद्यते जागो न जीवाद्
भिद्यते मन ॥ ६ पूर्वार्द्ध ३ ७

चिन्मात्रमा मा चीरश्च चिन्मात्र
मृतमन्तति ॥ ६ पूर्वार्द्ध २९ १२९

(अर्थ—सद्गुरु निवृत्तिनाथ ऐसे
हैं कि वे अज्ञानरूपी जगल म में जन्मा
हैं, मरने वाला हैं, ऐसे मिथ्या चक्र म
पडकर दु ख भोगने वाले जीव चैतन्य
की करुणा से आते हैं। जिस गुरु
क कृपारूप पानी से जीव इतना
शुद्ध होता है, जीवता की अपेक्षा से
आने वाले शिव-र से भी उन्नत मानता
है। शिष्य का जीव भाव हरे विना
आप उसकी शोभा नहीं चलने देते।
सेवकपन के सम-ध से आने वाली
स्वामिता आपको पसद नहीं।)

(‘अमृतानुभव’, द्वितीय अध्याय)

ई जगत्

अविद्या ससृतिश्चित्र मनोबन्धो
मल्लस्तम । इति पर्यायनामानि
दृश्यस्य विदुरुस्तमा ॥ ३ ४ ४७

नहि दृश्यादते किञ्चिन्मनसा रूप
मसित हि । दृश्य चोत्पन्नमेवैतन्नेति
वक्ष्याम्यह पुन ॥ ४८

अद्भुतः यथा हेमिनि मृगानद्या
तथा जलम् । भित्तिर्यथा स्वप्नपुरे
तथा द्रष्टरि दृश्यधी ॥ ३ ४ ५१

यदिद् दृश्यते किञ्चिद् दृश्यजात
पुरोगतम् । पर ब्रह्मैव तत्सर्वमजराम
रमभ्ययम् ॥ ६८

ई जगत्

दृश्य दृष्टा ऐसे । वो ही अल्लुमालु
दिसें। तेही परस्परानुप्रवेशें। काहीं
नाकीं ॥ अमृ ७ १७४ ॥

तेथं दृश्य दृष्टा भरे। दृष्टेपण दृश्या
सरे। मा दोन्ही न होउनि उरे।
दोहींसँ साच ॥ १७५ ॥

तान्हेलेया मृगतृष्णा। न भेटलिया
सिणु जेसणा। मा भेटलिया कोणा।
काय भेटलें ॥ २१० ॥

ज दृश्य दृष्टाचि आहे। मा दावणे
का साहे। न दाविजे तरि नोहे।
तया तो काहीं ॥ २१३ ॥

लेणें आणि भागार। भांगारचि
यक स्फुरे। का जेथे दुसरें। नाही
चि म्हणोनि ॥ २३६ ॥

१४० हिन्दी और मराठी का निर्गुण सन्त काव्य

१	आश्रय	प्रकरण ७	१०, ११, २४, २५, ३०
२	तिरोधान	"	८, ९, १४, १५
३	स्वरूप	"	५, २३, ४५
४	अनिर्वचनीय	"	३६, ३९, ४०
५	प्रमाण प्रत्यक्ष	"	३१, ४२, ४६, ४७
	अनुमान	"	५४, ५५
	शाब्द	"	२७८, २८९, २९०
	अर्थापत्ति	"	१०४, २२३
६	निवर्त्तक	"	७८, ८०, १८
७	निवृत्ति	प्रकरण ८	२, ७, ११
८	निवर्त्तक ज्ञान	प्रकरण ७	५७, १५७, २१६

परन्तु इस विवचन का तर्कयुक्त एडन डा० पेंडसे ने अपने ग्रंथ 'म सातवें अध्याय' में किया है।

श्री नर फाटक ने अपने ग्रंथ 'ज्ञानेश्वर वाङ्मय आणि कार्य' में श्रीमच्छंकराचार्य के 'प्रबोधसुधाकर' से निम्न साम्यस्थल सुझाये हैं—

प्रबोधसुधाकर

ज्ञानेश्वरी

१	चाराहुद्धृतमाग्य यथा पुन चीरता न यातीह ।	१	भृगोनि तूप होऊनि माधौतें । जेवी वृधपणा न येचि निरुते ॥
२	दर्पणत प्राक्पश्चादस्ति मुख प्रति मुख तदाभाति । आदर्शोपि च नष्टे मुखमस्ति यथा तथैवात्मा ॥	२	का आरसा समोर ठेविजे । आणि आपणपे तेथे देखिजे । तरी तथवाचि जाले मानिजे । काय आपीं नाहीं ॥ का परता केलिया आरसा । लोप हुनाला तथा आभासा । तरी आपणपे नाहीं ऐसा । निश्चय कराया ॥

३ उरगग्रस्तार्धतनुर्भेकोऽश्नातीह म ३ वेङ्क सापाचिये तौर्डी । जातसे
चिका शतश । एव गतायुरपि सबुडवुडी । तो मत्तिकाचिया
सन् विपया समुपार्जयत्येव ॥ कोडी । स्मरेना कार्हा ॥

और,

अ ददूर साप गिछिजतु आहे
उभा । कीं तो मासिया घटोळा
जिभा ॥

४ निशि वशमनि प्रदीपे नीप्यति ४ जैसा दीप टँविला परिवारी कव-
चौरस्तु चित्तमपहरति । ईरयति गान नियमी ना निवारीं ॥ आणि
वारयति न वा त दीप किं कवण करणिय व्यापारा ॥ रहाटे
तथात्माऽपि ॥ तेहि नेणे ॥

५ यद्द्वसूर्यऽभ्युदिते स्वव्यवहार ५ ज लोकचेष्टां समन्ता । निमित्त
जन क्रुने । तन्न करोति विव मात्र कीं सजिता ।
स्वान्न कारयति तद्वदात्माऽपि ॥

ऊपर ज्ञानेश्वर की रचनाओं से ही अधिक उद्धरण इसलिए दिये गए कि महानुभावों के लिखे सूत्रों की अपेक्षा या नामदेव एकनाथ के का समय पदों की अपेक्षा सुसूत्र दार्शनिक चिंतन ज्ञानेश्वर में विशेष रूप से मिलता है। 'ज्ञानेश्वरी' का अनुवाद हिंदी में उपलब्ध है इसलिए उसके अंशों के अनुवाद यहाँ अनावश्यक समझकर नहा दिये गए हैं।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि वदाती शृङ्गाद्वैतवादियों की जो दर्शन-मा यताएँ हैं, ठीक वही मरान्ती निर्गुण मतों का है। नाथपंथी ज्ञानेश्वर की बात ऊपर हम देय जाये ह। महानुभावियों पर दत्तात्रेय सम्प्रदाय की और सूक्ष्मत बोद्ध शाक्त मतों की छाया है। नामदेव में आकर निर्गुण ब्रह्म और साकार विटल एक हो जाते हैं। और एतनाथ के समय तक तो भक्ति का रूप अधिक प्रौढ़ हो जाता है। परन्तु मूल अध्याय सूत्र की अन्तर्धारा एक-सी रहने से एकनाथ के 'भारुड'-जैसे उलटप्रासिया में वही सूक्ष्मन्तु वरावर मिलता है। यहाँ तक कि बन्ध मोक्ष की बरूपना तक में वही दुगापूजकों की अष्टपाशों से मुक्ति की बात मिलती है। ज्ञानेश्वर तीसरी ओवी में, एकनाथस्वामी की श्रीशुकाष्टक पर टीका में ३२ से ४७वीं ओवियों में कहते हैं—

मूल	एकनाथ ^१	ज्ञानेश्वर ^२
भेदाभेद सपदि गलितौ पुण्यपापे त्रिशीर्ण । माया मोहो ज्ञयमविगतो नष्ट स-देहवृत्ती ॥	परमात्मा परज्योती । परब्रह्म परमजसि । परा त्पर प्रकृति । परात्पर जो ॥	जयाचा भेदाभेद गाठाला शब्द ब्रह्मीच तुडाला । सकल ब्रह्मजोव आला । निश्चयेसी ॥ १ ॥
शब्दातीत त्रिगुणरहित प्राप्य तत्त्वबोध । निस्त्रे गुण्य पथि विचरता को पिथि को निपेध ॥	निर्निकार नित्य । नि प्र पच निनिमित्य । निष्कर्म निजसत्य । सत्यमूर्ती ॥	जो पुण्यपापाणी नातळे अर्नीत न पोळे आपु छनि इवाळें । न छिपे माया मोह विटाळें । इनाला सशयरहित ॥२॥
	अज अत्यथ अचळ । अरूप अक्षय अढळ । अजरामर अमळ । अता दि जें ॥	जयाचा वाच्याश निर सला । आणि शुद्ध लक्ष्याश लाधला । गुण त्रयीं दुरावला । निर्गुण बोधे ॥ ३ ॥
	नि शब्द निष्काम निर्गुण निस्पम । नि सग निर्व्योम निजानद ॥	ऐसा झालिया तत्त्वबोध । तथासि कवण त्रिधिनि पेध । तो स्वानदसुखें क्रीडाविनोद । करित विचरे सदा ॥ ४ ॥

एकनाथ 'भारुड' म जो देवी का जोगाजा^३ हे इसके भीतर निम्न अष्टपाश
विसोचन का दर्शन हे ।

अष्टपाशों से मुक्ति आवश्यक है । 'दुर्गासप्तशती' के ८वें अध्याय में कहा
गया है—

१ अनेकविधन भक्तिपरमार्थ पर कविता, पृ० १३, न चिं केळकर, १९०३ ।

२ बहा, पृष्ठ-१३७

३ मराठी वाङ्मयाचा इतिहास, खड दूसरा ल रा पाह्यारकर, पृ०-४४२

अथ सर्वत्रलदेया पदशातिरुवायुधा ।
 कम्पना चतुरशीतिनिर्यान्तु स्ववल्थुता ॥
 कोटिवीयाणि पञ्चाशदसुराणा कुलानि नै ।
 शत कुलानि धोम्राणा निर्गच्छन्तु ममाज्ञया ॥
 कालका दार्हदा मौर्या कालकेयास्तयासुरा ।
 युद्धाय सजा निर्यान्तु आजया त्वरिता मम ॥

‘हे देव्यगण ! आज मेरी आज्ञा से सारी देव्यसेना के सहित द्वियामी उदायुध, चौरामी कम्पु, पचास कोटिरीय, सो धोम्र तथा कालक, दौर्हद, मौर्य और कालकेय वशां के असुर युद्ध के लिए तैयार होकर निकल ।’

जिन आठ देव्य वशां का नाम लिया है उदायुध, कम्पु, कोटिरीय, धोम्र, कालक, दौर्हद, मौर्य और कालकेय, उन्हें ही आध्यात्मिक दृष्टि से ‘अष्टपाशा’ कहा जाता है । उन अष्टपाशां के नाम ‘कुलाण्व तन्त्र’ में इस प्रकार गिनाये गये हैं—

घृणा लज्जा भय शङ्का जुगुप्सा चेति पञ्चमी ।
 कुल शील तथा जातिरष्टौ पाशा प्रकीर्तिता ॥
 पाशपद्धो भवेजीव पाशमुक्त सदाशिव ।

‘घृणा, लज्जा, भय, शङ्का, जुगुप्सा, कुल, शील और जाति ये आठ पाश हैं । जो इन पाशां में बँधा हुआ है वह जीव है, और जो इनसे मुक्त है वही सदाशिव है ।’ ये पाश आठ हैं ?

१ उदायुध—उद्गत है आयुध जिसका, उसे ‘उदायुध’ कहते हैं । आध्यात्मिक दृष्टि से इसीका नाम ‘घृणा’ है । वास्तव में घृणा उद्यतायुध ही है । दूसरे के प्रति घृणा या अवज्ञा का भाव होने से ही हम अहंकार को बढ़ाते—उद्यत करते हैं । मैं बड़ा कुलीन और बोधवान् हूँ तथा दूसरे अकुलीन और अजानी हैं ऐसी दृष्टि से ही घृणा का आविर्भाव होता है । इसीसे इसे उदायुध कहा है । घृणा के आलम्बन ८६ है, इसीसे उदायुधा की सरया भी छियासी ही बताई है ।

२ कर्बु—कर्बु शस्त्र को कहते हैं। यह जीव का 'लज्जा' रूप दूसरा पाश या बन्धन है। शस्त्र जाति का एक जलचर जीव होता है। शस्त्र उसका आवरण या खोल है। जिस समय कोई प्रतिकूल वदना आती है, तो वह अपने हाथ पाँव आदि समस्त अवयवों को सिकोड़कर इसीमें छिपा लेता है। मनुष्य की लज्जा का भी ठीक ऐसा ही स्वरूप है। मनुष्य लज्जा या आत्म गोपन इसीलिए करता है कि उमकी किसी प्रकार की दुर्लता प्रकाशित न हो। यह भी एक प्रकार का पाश या बन्धन ही है। भेदज्ञान से ही लज्जा या सकोच का आविर्भाव होता है। पहले (अध्याय-५, श्लोक-४५ में) जो—

या देवां सर्वभूतेषु लज्जारूपेण सरियता ।

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नम ॥

ऐसा कहकर मातृरूप से लज्जा को प्रणाम किया है, उसीके फलस्वरूप आज यह कर्बु असुर के रूप से आत्म उल्लिखने को उपस्थित हुआ है। इसकी सख्या चौरासी है, क्योंकि यह चौदह प्रकरणा का आश्रय करके पाठकौशिक देह में ही प्रकट होती है। इससे शुद्ध आदेश करता है 'कर्बुना चतुरशीति ।'

३ कोटिवीर्य—जिसका अतुलित पराक्रम हो, उसे कोटिवीर्य कहते हैं। यह जीव का 'भय' नामक तीसरा पाश है। भय वस्तुतः कोटिवीर्य है। जीव को अपने अस्तित्वनाश का भय न तो दिल रोलकर सासारिक भोगों को ही भोगने देता है और न पूर्णतया साधन भजन में ही लगने देता है। इस भयरूप कोटिवीर्य असुरकुल का आविर्भाव पारमार्थिक सत्ता के अप्रकाश के कारण ही है। दस इन्द्रियाँ और पाँच कोश इस असुरकुल के प्रकाशस्थान हैं। इस प्रकार भयनामक पाश के पचास भेद होने के कारण ही उक्त मंत्र में 'कोटिवीर्याणि पञ्चाशत्' ऐसा कहा है।

४ धौम्र—धौम्रनामक असुर के वश को धौम्र कहते हैं। यह धूम्र हमारा पूर्वपरिचित धूम्रलोचन ही है। सत्र प्रकार की शकाओं का आविर्भाव विपर्यय ज्ञान से ही होता है, यही धूम्र है और इससे आविर्भूत होनेवाला 'शका' नामक चतुर्थ पाश ही धौम्रवशीय असुरसमूह है। भय और शका में भेद यह है कि भय अपने अस्तित्वनाश की आशका को कहते हैं और शका अपने से सत्र विधत पदार्थों के विनाश की आशका को। अथवा यों समझिये कि भय अपनी

सृष्टि का होना है और शक्ति धन, सन्तान आदि अपन प्रस्तुतों के नाश की। भेदप्रताप से ही इसका आविर्भाव होता है, इसलिए यह भी एक पञ्चनविशेष है। नम इन्द्रियाँ, और सूक्ष्म स्कूल अद से कम भूतों का आश्रय करके ही इसका प्रकाश होता है, अतः असुर कुल की सग्या मी है। इसी से मन्त्र में 'शत कुलाणि त्रैमाणां' ऐसा उल्लेख हुआ है।

५ कालक—'काल' शब्द का आगो स्पर्श में 'क'-प्रत्यय होने से यह पद सिद्ध होता है। उसका अर्थ है, काले रस का असुर। यहाँ 'सुगुप्ता' नामक पाचमा पाण है। अज्ञान का शवर्ग है, अज्ञान से ही प्रकृतप्रतीति या भेदज्ञान पुष्ट होता है तथा भेदज्ञान से ही सुगुप्ता, निम्ना अपरा विषयो की वृद्धि का आविर्भाव होता है। साधक जब तक एकत्व में उपनीत नहीं होता, तब तक यह किसी प्रकार कालक असुररूप सुगुप्ता का पद में परित्राण नहीं पाता।

६ दाहद—यह दुर्लभनामक असुर का वशधर है। दुष्ट भावों का धाहरण करनेवाले को दुर्लभ कहते हैं। उसका वशन यह दाहद 'अभिमान' रूप छटा पाश है। साधक को हजार बार अद्वय ब्रह्मसत्ता का उपदेश दिया जाए, तब भी कुलाभिमानरूप अज्ञान के कारण यह उसे ग्रहण नहीं कर सकती, अतः यह अभिमानरूप पाश भी एक असुर भाव है।

७ शील—यह सुरनामक असुर का सन्तान है, आध्यात्मिक दृष्टि से यह जाति का 'शील' सजक सानधौ पाश है। 'शील' शब्द का अर्थ है, स्वभाव या प्रकृति। अद्वय पद तक पहुँचने में अपना स्वभाव या प्रकृति अन्तराय है। प्रकृति ही जाति की चमदात्रा मी है। जि हान इस सय को अनुभव कर लिया है, वरत वे ही इस सद्प्रतिभेद के क्षेत्र में पहुँचकर यह अनुभव कर सकेंगे कि यह प्रकृति स्वय ही जीव को छोड़कर अव्यय आन दमयी सत्ता का पता लगा देती है। अपनी प्रकृति को 'मी' न कह चकने पर विश्रामकृति का पता ही कभी नहीं पाया जा सकता और विश्रामकृति का पता पाय बिना विश्रामकृति क्षेत्र में निरजन स्वरूप में उपनीत नहीं हुआ जाता।

८ कालकेय—यह कालक असुर की सन्तान है। यहाँ जीव का 'जाति' नामक भाठधौ पाश है। अज्ञान या भेदज्ञान से ही जात्यभिमान पुष्ट होता है, इसी से इसे कालक अर्थात् अज्ञानरूप कृष्णवर्ण असुर की सन्तान यानी कालकेय

रहा जाता है। वास्तव में यह छुल, धीट, जाति आदि प्रत्यय अत्यन्त कठिनता से दूर होनेवाले हैं। य चार चार मिलान होने पर भी फिर आविर्भूत हो जाते हैं। इन प्रतीतिर्या को समूल नष्ट करने के लिए ही मा का यह साधन समर रूप चरम आयोजन है।

एकनाथ स्वामी का 'जोगवा' इस प्रकार से है —

अनादि निर्गुणा प्रगटलि मरानी ।

अमहिपासुरमर्दना लागुनी ।

त्रिपि तपाची कराया इनाहणी ।

भक्ता लागुनी पात्रसि तू निवाणी ।

आह्वा जोगवा जोगना मागेन ।

भेद रहित वारीसी जाहन ।

हार्ती बोधाचा इनडा मी घहन ।

द्वैत मारुनी माठ मी घालीन । धु० ।

नवविधा भक्तीच्या करुनी नवरात्रा ।

पोटा मागेन मागेन ज्ञानपुत्रा ।

धरुनि सद्भाव अतरीच्या मैत्रा ।

दभ ससारा सोडीन उपुत्रा ॥ १ ॥

हार्ती बोधाची घईन परडी ।

आशानृष्णीच्या पाडीन दरडी ।

मनोविकार करीन हे कुरवडी ।

अदुतरसाची भरीन दुरडी ॥ २ ॥

आता साजणि ग झाले नि सग ।

विकल्प नवज्याचा सोडियला म्या सग ।

कामक्रोध हे इ सोडियले म्या माग ।

कटा मोकळा मारग म्या सुरग ॥ ३ ॥

एया जोगना मागूना ठविला ।

जाउनि नवस महाद्वारि फेडिला ।

एकाएकी म्या जनार्दन दखिला ।

जन्ममरणाचा म्या फेरा लुकविला ॥ ५ ॥

(अर्जुन—अनादि निर्गुणता भवानो जहमरूपी महिषासुर के निर्वलन के लिए प्रन्ट हुइ ह । त्रिविध तार्पा का वह ब्राह्मण निर्माण क समय भक्ता मे मिलेगी । माता जी 'जागता' (माता) म मॉर्गी, भेद से विरहित होकर वारी (तीर्थ) पर जाऊगी । हाथ म जोर का झडा लेंगी । दूत दटाकर म माला पहनेंगी । नवधा भक्ति न नवरात्र कळेंगी, सद्गतरूपी अन्तरंग क मित्र को पकड़ेंगी, जानपुत्र मरे पेटम आजाय ऐमा मॉर्गी, लभपरिवार को उग्र कुपात्र को छोड़ेंगी । हाथ म रांध की टाकनी लेंगी, आशा नृणा की भीत तोड देंगी, अपने मनोविकार न्याःदावर करक, अद्भुत रस की म 'दुरडी' (गोद) भरेंगी । अर सजना, म निस्सग हा गया हूँ । मैं निस्सपरूपी पति का साथ छोड़ दिया । काम, क्रोध य जल्लाड मने मार डाले । अपना मार्ग जा सुरग में मे है, मैंने मुक्त कर लिया । मया 'नोरावा' मने मॉर्ग रखा हे । इसकी मानता अंत म नपद्वारों म जाकर पूरी का हे । इनने म मैंने गुरु एकाजनादन देवा, जन्म मरण का फरा अत्र मिथ्या हो गया ।)

इम प्रकार से निर्गुण भक्ति की परम्प । महाराष्ट्र म बारहवीं से सोलहवीं शती के आरम्भ तक अपिच्छिद्र रूप म हम मिलती हे । ज्ञानेश्वर क 'भक्तराज' ग्रन्थ का आरम्भिक नमन इय दृष्टि से महत्वपूर्ण है

नमो जी अनादिमिथा । अनन्तरा जानदकदा ।
 चिदानन्दा अभेदा । अविनाशा तू ॥ १ ॥
 अजरा अमरा अचला । अद्वैत अखण्ड अट्टा ।
 अरूपा असगा अकटा । अपरपारा तू ॥ २ ॥
 नमो अलक्षा अनामासा । अनुपम्य इय प्रकाशा ।
 अप्रमाणा आत्महत्या । निरजता तू ॥ ३ ॥
 निरालबा निरतरा । निर्माहा नित्रिपारा ।
 निर्गुणा निराजारा । नित्ररा तू ॥ ४ ॥
 नमो इयापक महदाकाशा । सत्पूर्ण सदाभासा ।
 सदोदित सबशा । सर्वादि त ॥ ५ ॥
 प्रपचाकार प्रकाशक । चराचर आभासक ।
 उत्पत्ति नाश पालक । कारण त ॥ ६ ॥

एकचि तू परि अनेकू । अभेद परि अनतवए ।

बहुव्यापी बहुनायकू । सर्वबीज तु ॥ ७ ॥

इसमें परमत्त्व को एक साथ और एक और तनेत्र, अभेदमय और अनतवपपूर्ण, अनाभास और सदाभास कहा गया है। यही बात आगे एकनाथ के प्रथम में एकनाथ के दर्शन के त्रिपथ में पाठारकर ने कही है कि उनका 'ब्रह्म' निर्गुण, मगुण सृष्टि में भा है और यह सज होकर उत्तम अतीत भी है।

अगले अध्याय में हम चक्रधरादि महानुभाव, ज्ञानेश्वर, नामदेव और एकनाथ का परिचय, प्रवर्चना और उत्तम प्राप्त काव्य तथा दर्शन का संक्षेप में विवचन करेंगे।



अध्याय ४

महाराष्ट्र के निर्गुण ऋषि

चक्रधर, महानुभाव, ज्ञानेश्वर, नामदेव और एरुनाथ

चक्रधर

कालक्रम से जस्तुत महानुभाव से त पहले जाने चाहिये । इनका परिचय हम परम्परा नामक अध्याय से विस्तार से दे चुके हैं । डी० के० भीमसेन राज के कन्नड ग्रन्थ आध्र-महाराष्ट्र-तेलुगु साहित्य के तुलनात्मक विवेचन से वसवेश्वर के वीरशैव सम्प्रदाय और चक्रधर के महानुभाव सम्प्रदाय की तुलना से भिन्न बातें मिलती हैं

साम्य

वसवेश्वर

- १ जातिभेद, वर्णभेद अमान्य ।
- २ स्त्रियाँ जोर शूद्रा को भी ब्रह्मज्ञान हो सकती हैं ।
- ३ स्त्रियों का सन्यासग्रहण ।
(गौड़ों की भाँति)
- ४ मद्य मायादि मकारवर्जित ।
- ५ अहिंसा का प्राधान्य ।
- ६ सन्यासी और स यासियों के लिए भिक्षान्न अनिवार्य ।
- ७ जगम या शोध सन्यासियों के लिए भिक्षान्न अनिवार्य ।
- ८ कन्नड में ग्रन्थ लिखे, परन्तु संस्कृत का ज्ञान अवश्य रहा ।

चक्रधर

- १ जातिभेद, वर्णभेद, अमान्य ।
- २ स्त्री शूद्र दोनों ही ब्रह्मज्ञान पा सकते हैं ।
- ३ स्त्रियों का सन्यासग्रहण ।
- ४ मकारवर्जित ।
- ५ अहिंसा का महत्व ।
- ६ महानुभावियों के लिए भिक्षान्न आवश्यक ।
- ७ जगम भी महानुभावों से सम्मिलित ।
- ८ मराठी में ग्रन्थ लिखे, संस्कृत विद्यार्थों में अधीन ।

- | | |
|---------------------------|---|
| १ ब्राह्मणकुलोत्पन्न । | ९ ब्राह्मणकुलोत्पन्न । |
| १० वचनशास्त्र आचारसूत्र । | १० चक्रधर के सूत्र 'निर्वचन' कह गये हैं । |

भेद

- | | |
|---|---|
| १ वद प्रमाण नहीं । | १ वेदोपनिषद् माय । |
| २ शिव आराध्य । | २ कृष्ण दत्तात्रेय आराध्य । |
| ३ निराकारोपासना पर अधिक बल । | ३ साकारोपाराना भी वजित नहीं । |
| ४ सूत्रों के साथ उपमा दृष्टांतों से उनका स्पष्टीकरण होता है । | ४ सूत्र मात्र । |
| ५ पद्यबद्ध काव्य अधिक, दर्शन का पुष्ट मात्र । | ५ गद्य, काव्य की मात्रा कम ।
दार्शनिकता अधिक । |

फिर भी महानुभावियों का दर्शन निर्गुण परब्रह्म को मानता था, यह बात निश्चित है, जैसा कि डा० वि० भि० कोल्ते के 'महाभूतत्वज्ञान' ग्रन्थ के पृष्ठ १०२ में स्पष्ट है। वे कहते हैं—'शक्तिरूप धर्म की भाँति शक्तिरूप गुण भी ब्रह्मस्वरूप में नहीं हैं। इसीलिए उसे 'निर्गुण' कहते हैं। ब्रह्मस्वरूप निर्गुण होने से किसी भी प्रकार का कार्य वह स्वयं कभी नहीं कर सकता। जीव की तरह ब्रह्मस्वरूप भी कभी विभाजित नहीं हो सकता। प्रमाण है 'विचारवद' का सूत्र 'तथा ब्रह्म ही स्वरूपे न विभागे आन जीवस्वरूप ही न विभागे' (१४७) और महावाक्यप्रमेय का सूत्र 'तेरी ब्रह्म भूगिजे काहू ना येथ ब्रह्म भूगितले या निर्गुण पदार्थुं एकू आति'। देवता और परमेश्वर जैसे अलग अलग प्रकार से अवतार धारण करते हैं, वैसे ही ब्रह्म स्वरूप कभी धारण नहीं करते। और अवतार धारण करके वे 'साकार, सायम्ब' नहीं होते। इसीलिए वह जीवोद्धारण का कार्य नहीं कर सकते। इसका प्रमाण है, उद्धरण १८ 'साध्य साधनाकारिं आकारले करचरणत ब्रह्म ह'। यहाँ ब्रह्म शब्द सूक्ष्मार्थ से मूढब्रह्म के लिए प्रयुक्त न होकर सूक्ष्मार्थ से ईश्वर के लिए प्रयुक्त है। और 'विचारस्त्र' में (१४७) 'बृहत्तर ते ब्रह्मस्वरूप हे कारण' तथा कार्य नहीं का ते गुणधर्म

रहित उद्धरण 'यापार नाहा केवल लक्षण' । तथापि, परमेश्वर अपने ज्ञानमार्ग से उन ज्ञान को ब्रह्मस्वरूप तक पहुँचाता है, और जहाँ पावन करता है । उन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान न भोग कराने की समृद्धि ब्रह्मस्वरूप में है । प्रमाण है 'आनन्द दुमदुमितु अस्य ब्रह्म ते नि शब्द' (त्रिचारमालिका-१५५) । इनकी बात छोड़ दे तो त्रिगुणी 'उपाधिमत्' त्रिगुण को भोति ब्रह्मस्वरूप कहीं है भी या नहीं, यह निश्चित करना कठिन है । प्रमाण 'ब्रह्म ते अस्ति नास्ति ऐस याति त्रिगुणो न-श्' (त्रिचारमालिका १०) क्योंकि यदि वह है, तो उसका जोड़ कार्य नहीं त्रिगुणी देता । औरों की ज्ञान तो दूर, स्वयं ईश्वर के उपयोग में भी वह नहीं आता । और वह नहीं है वह तो नियम पदार्थों में उसकी गणना है । ब्रह्म की इस निश्चितता के कारण ओर (सगता) 'याकरण के अनुसार उसके लिए पर श्रेष्ठ फलके उद्धवगीताकार भास्कर भट्ट जोरीकर ने ब्रह्म मिलन के ज्ञान-को माना है । यथा 'आर्णारण्यक ब्रह्म ते तप नपुमक गृणोति तथाचिण मीळना सुप्य ते तप घडेचि ना ।' (७८४) परंतु ईश्वर के आनन्द से ब्रह्मानन्द जो कम कहा गया है, वह केवल उसके निर्गुणत्व के कारण नहीं ।'

चक्रधर के सिद्धांतों की चर्चा करते हुए, ह० ना० नने ने महानुभाव तत्त्वज्ञान गीता पर आधारित अधिक है, ऐसा कहा है । चक्रधर के 'अन्या वृत्ति' प्रकरण में कर्मभूमि के तत्त्वज्ञानों से चैतन्य तक वेदज्ञानों का वर्णन करके उन मंत्र से परमेश्वर को श्रेष्ठ है, यह बताया है । वह जीव प्रपञ्चव्यतिरिक्त सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर एव ही है और सर्वशक्तियुक्त है, ऐसा 'महावाक्य' में कहा गया है । 'महावाक्य' के अनुसार—

सत ब्रह्म

चित्त माया

आनन्द ईश्वरू

इन तीनों में अज्ञानी भेद नहीं हो सकता । तीनों एक ही हैं, जैसे चौर और नीच । ब्रह्म सकलधर्मविरहित है । माया आधा शक्ति है, और ईश्वर शुद्ध बुद्ध, निरयुक्त, अक्रिय, अमूर्त है । निर्वचन-१७ के अनुसार परमेश्वर जो वास्तव में निर्गुण निराकार है, वह माया के कारण ऐसा गुणवन्त ज्ञान पड़ता है । ये सब विरुद्ध धर्म माया के कारण हैं । माया के द्वारा ही परमेश्वर समरण

और सहरण कार्य करता ह। इसी माया क कारण जीव म चार प्रकार क मन्
"यास होते हे प्रियमल, प्रकृतिसल, पिङ्गतिमल, त्रिकृति विप्रति मल। ये
चार मल और दुर्गासप्तशतावाल् अष्टयाश प्रहुत कुष्ठ त्रेकन क 'नोत्रम जाग्रनम'
क 'चार आइडोला' की तरह स ह। अजात, अमीनता और अविद्या इन तीन
'रर्मराहादी' क बर्धा से जाव का मुक्त होगा ही उसका उद्धरण ह। आचार
मालिका के अनुसार 'स्वातन्त्र्य भा मोक्ष पारतन्त्र्य हा बन्ध' माया, देवता,
प्रपञ्च आदि क अधीन प्रये परमेश्वर क द्वारा जाव की मुक्ति हा मोक्ष हे।
और इस मुक्ति की प्राप्ति क लिए साधना और आचार का विस्तार से वर्णन
चक्रधर ने किया ह।

ज्ञानेश्वर

महागुभाजों के बाद दूसरे महत्त्वपूर्ण निर्गुण सन्त हे—ज्ञानेश्वर। ज्ञानेश्वर
का जन्म शक ११९७, श्रावण वद्य अष्टमा को जालन्दी मे हुआ और वहा शके
१२१८, कार्तिक पद्य अष्टमी को वे समाधिस्थ हुए। प्रथम मुरयत 'ज्ञानेश्वरी',
'भावार्थदीपिका', 'अमृतानुभव', और 'चाणदेव पावणी' हैं। ज्ञानेश्वर पर शैवमत
का प्रभाव विशेष रूप से था। नाथपथ का प्रमुख आराध्य शिव होने से उनके
'अमृतानुभव' के आरम्भ म 'शिवसूत्रा' का उल्लेख ह। यह शिवसूत्र कौन से
है? जे० सी० चटर्जी ने 'कश्मीर शैविज्म' ग्रन्थ में कहा ह, 'शिवसूत्र कश्मीर
शैवों का प्रमुख ग्रन्थ ह। वह वसुगुप्ताचार्य ने आठवीं शता के अन्त म या नौवीं
शती के आरम्भ म रचा। मोमान द ने नौवा शती म, अभिनवगुप्त ने दसवीं
तथा चैमराज ने ग्यारहवां शता म उस पर टीकाएँ लिखा। इस ग्रन्थभिज्ञाशास्त्र
को ही त्रिका या त्रितयशास्त्र भी कहते हैं, क्योंकि इसमें—

शिव, शक्ति, अणु,

पति, पाश, पशु,

शिव, शक्ति, नर, —ये त्रिक विवर्चित है।

यह सप्रदाय विवर्तवाद नहीं मानता। प्रत्यभिज्ञाविधृतिविमशिनी म कहा
गया हे कि—'विवर्त हि अम यरूप निर्भासात्मा इत्युक्तम्, निर्भासन च असत्यम्
च हति कथमिति न चिन्तितम्। तस्मात् अनपह्वनतीयप्रकाशप्रिमशात्मा
सविश्वभाव परमशिव स्वातन्त्र्याद्यत्र रुद्रादिसागरान्तप्रमातृरूपतया नील

सुगन्धिप्रमथतया च अनतिरिक्त्यापि अतिरिक्त्यत्र प्रकाशत इति स्वातन्त्र्य
वात् प्रो-मालित' । 'विश्व विवर्त या भाम नहा हे । परमा मा स्वनन्त्रतापूर्वक
अपत्ता इच्छा से, चातुल्यरूप म प्रकाशित होता ह । भास जिय वस्तु पर
होता हे, उस वस्तु का स्वयंस्वरूप टूटू देना ह । पर तु परमा मा प्रकाशरूप
और ज्ञानरूप ह, इयल्लिए उमजा स्वरूप कोन हॉक सक्ता हे, इय कारण मे
उसमे भिन्न जोड वस्तु निमित्त नही हुइ ।' इस मत का ज्ञानेश्वर पर जडी ज्ञाया
ह । 'अष्टाशुभय' के पहल प्रकरण म ६० ओपियां म शिवशक्ति का स्वरूप,
उनका एक्य, एतय म वृत्त, शक्ति की भिन्न भिन्न भासित जानेवाला काडा, शिव
जो शक्ति विना गिय नहा आर शिव क विना शक्ति जा महत्त्व नहा । यदि
इय जोडा म स काड एर भी जागृत हा तो विश्व जा यह दृश्य परमारा तष्ट
होता है ।

'शिवशक्ति जा यह स्वरूप और कार्य समझाने क लिए ज्ञानेश्वर ने दृष्टा तों
की झडी सी लगा ली ह डाट डण्डे दो हांन पर भी उनस एक दूमे के आघात
से उन्नत जावाज एक होती हे, फूल दो हांने पर भी उनकी सुगन्ध एक ही
होती है, कीपक दो हां फिर भी प्रकाश एक ही होना ह, दो ओठों से ग्राहर
निकलनेवाला शब्द एक ही ह, दो ओंलों की दृष्टि भी एर ही ह—ऐसा ही
शिवशक्ति का सम्प्र थ ह । गुड और उमजी मिठास, कपूर आर उमजी गंध,
दापक आर उसका प्रकाश ऐसी भदभाषा जोलने की पद्धति ह । पर तु
गुड के विना मधुरता नहा होता आर मधुरता के विना गुड सम्भव नहीं,
फिर भी गुड और मधुरता अलग अलग ह, यह भी मानना पडता है । गुड
मधुरता का भेद ज्ञानमात्र यानी बुद्धिगम्य हे । इसी प्रकार म सोना और
कान्ति, हवा और गति, अग्नि आर उष्णता, कस्तूरा और परिमल, सूर्य
और प्रकाश क दृष्टान्त दिये हैं । अन्त में दोनों को एकरूप वन्दन करते
समय फिर से कहा है कि शिव शक्ति म ही ह, उससे भिन्न नही, फिर
भी दोनों को भिन्न जानकर यह वन्दन हे । अहंकार का निरालापन
शम्भु को अपित करके वन्दन क कारण में शम्भवी म पूर्णत बिलम
गया हूँ ।'^१

डा० पडम के मतानुसार शैवसूत्रों से जानेश्वर ने निम्न बात ली है।^१

१ 'ज्ञानमध' (शिवसूत्र १-२, २-३) का 'अमृतानुभव' (३-१६) म स्पष्ट उल्लेख है। परंतु 'शिवसूत्रविमर्शिनी'—जैसा अर्थ जानेश्वर ने नहीं किया है। शिवसूत्र सुपाहु खमोहादिवृत्तिरूप भेदात्मक ज्ञान मानते हैं तो जानेश्वर ज्ञान से शास्त्रज्ञान अथवा वैपथिक ज्ञान मानते हैं।

२ 'योगभूमिका' शब्द जानेश्वर ने शिवसूत्रों से लिया है। परंतु शिवसूत्र उमें आत्मवैक्य की अनुभूति मानते हैं तो जानेश्वर द्रष्टा के एक दृश्य और दृश्यरूपी देवों के बीच की स्थिति को योगभूमिका कहते हैं, जहाँ 'अनुभविता, अनुभव तथा अनुभाव्य की त्रिपुटा' शेष नहीं रहती।

३ 'ज्ञान' भी शिवसूत्रों का पारिभाषिक शब्द है। भेदात्मक अहं प्रथयात्मक ज्ञान उसका अर्थ है।

४ चैतन्यस्वरूप आत्मा प्रमाणातीत है। शिवसूत्रविमर्शिनी में कहा है—
स्वपत्न्या स्वशिरश्छाया यद्वत् लघितुमीहते ।
पादोन्मेषा शिरा न स्यात् प्रोक्ष्य प्रोक्ष्य कला ॥

१ इमं त्रिवेचनं का मूल और्विया अमृतानुभव' स यो ह
दो दाता एका भूति । दोहों फुल्लों एक भूति ॥
दोहा दिवा तसि । येनानि जैवा ॥ १८ ॥
न जोठा येदी गोठा । नो जिला येदी दिरी ॥
नरा दोषा निहा मृष्टा । येदीय जेवी ॥ १९ ॥
गोडा आणि गुळ । कापुर आणि परिमळ ॥
निवडू नाता पांगळ । निवाडू होय ॥ २३ ॥
मगध पीसि देता । जेव्ही पीपुचि ते हाता ॥
नमि जिचेचिया न वना । शिशुचि लाभे ॥ २४ ॥
मृदूनी भूनेशु आणि भवानि । बटिली न करुननि भिनाचा ॥
मी निनालों नगनी । । हें येमें ॥ ६० ॥
सांडूनि मोठेपणाचा लाभु । मिठें सिधुत्वाचा घेतला लाभु ॥
तवि अहं देखनि शम्भु । शाश्वती नालों ॥ ६३ ॥
शिवशक्ति समावर्षी । नमा करे म्या ऐरा ॥
रमागम आकारों । रिवाला जैता ॥ ६४ ॥

त्रिलकुल यही दृष्टान्त ज्ञानेश्वर ने 'अमृताभुज' (७ ११७-११८) में लिया है।

७ नागरणानुपपत्ति की कल्पना शंकर के अयामभाय में भी है।

६ अनल उरणना, सूर्यप्रभा, सूर्यरश्मि, जलतरंग, वह्निज्वाला आदि शिवशक्ति के दृष्टांत शिखर शिखर जिनशिखी में भी हैं और ज्ञानेश्वर में भी हैं।

७ 'हृत्' या गहरे सरोवर की कल्पना भी शिखर (१६) और ज्ञानेश्वर (६, ११७) में एक ही है।

८ विश्व को फेन मानना दोनों में एक ही है।

९ स्फूर्तिवात्।

१० ससार स्वप्नवत् है। शिखर (४१) और ज्ञानेश्वर (९, ६७-६८) में स्पष्ट है। पारमार्थिक, व्यावहारिक और आभासिक यत्ना सत्ताएँ ज्ञानेश्वर में भी माना हैं।

११ सुरायावभ्रम में जाल्पितिक एकाग्रता, जिसे ज्ञानेश्वर ने 'निस्त्राचा आसमान' कहा है।

१२ भेद औपाधिक है, यह बताने के लिए स्पष्टिक दृष्टान्त। परमार्थ-सार (२, २५) और ज्ञानेश्वर (८, ४१-४२-४३) में स्पष्ट है।

ज्ञानेश्वर और केशवराजों के अन्तिम तत्त्वों के विवरण में अंतर है। सायब के चौथी तत्त्व तो दोनों ने ही माने हैं। परन्तु ज्ञानेश्वर के अन्तिम चारह और शेषों के प्रथम चारह तत्त्व भिन्न हैं। ज्ञानेश्वर ने शेषों का 'सातुकाचक्र' भी नहीं लिया है। 'पशु, पाश और पति' वाली परिभाषा भी ज्ञानेश्वर ने उद्योगों की नहीं है। 'हृत्मीरी शेष आत्मगत्याति से अद्वैत सिद्ध करते हैं, तो शंकर अनिर्वचनीयत्याति से।

१ का मर्यादा निर्धारित। जो उद्योग उद्योग पाह आधुनी।

तथाची फाशवली बुद्धि जैमी ॥

तसें दणधोनी सबथा। ह ते पैसा यवरा ।

करी तो चुके हाता। उस्तूचा जिमे ॥

त्रिलकुल यही वाल काल मार्ग ने उद्योग शेषों में कही थी—

'वन कैनाट कन्वर्भन हिज गोन शौट्टम'।

ज्ञानेश्वर पर पांचरात्र दर्शन का प्रभाव मिलजुल नहा पड़ा है, ऐसा दा० पंडसे का मत है। 'पांचरात्रदर्शन' के विवरण में बलदेव उपाध्याय ने अपन 'भारतीय दर्शन' में^१ जो कारणपरम्परा दी है, वह इस प्रकार से है—
 शुद्धेतर सृष्टि > तथ्यामी प्रद्युम्न > ऋषभपुराण > मायाशक्ति > नियति > काल >
 मन्वन्तगुण > रजोगुण > तमोगुण > स्थूलभूत > पंचतन्मात्र > बुद्धि-अहङ्कति >
 वैकारिक > तजस, अनात्मक और वैकारिक के बुद्धीनिद्रय, मन, कर्मनिद्रय।
 इस प्रकार की मताऽन्वितिक सूक्ष्मताओं में ज्ञानेश्वर नहीं गये।

सन्तों में, ज्ञानेश्वर निश्चित रूप से निर्गुणवादी थे, यह दा० पंडसे ने सिद्ध किया है। 'उपनिषद्, बौद्ध, योगवासिष्ठ, शैवाङ्कत, शांकराचार्य, सभी ने अद्वैत प्रतिपादन किया है और ज्ञानेश्वर ने भी। केवल अनुभवप्रकार ही लेकर ज्ञानेश्वर को शांकर से भिन्न प्रतिलाना युक्तियुक्त नहीं है। ज्ञानेश्वर ने व्यतिरेक का भौति अवयव का भी प्रवचन किया है, फिर उनका ह्युक्ता व्यतिरेक की ओर अधिक है और शांकराचार्य की भौति वे भी निर्गुण, निर्विशेष के समर्थक थे, ऐसा वामन पंडित का भी विश्वास था। ज्ञानेश्वर का दर्शन शांकर तत्त्वज्ञान की भौति अद्वैतवादी है। यह अद्वैत सिद्ध करने के लिए ज्ञानेश्वर ने शांकर के अनिर्वचनीय मायावाद का अथवा अज्ञानवाद का उपयोग तो किया ही है, परन्तु उक्त अतिरिक्त गोडपादकारिका, योगवासिष्ठ, शारङ्गदेव और नाथपंथियों के अद्वैतसिद्धि के लिए प्रयुक्त युक्तिवाद को भी लिया है। इस कारण से ज्ञानेश्वर का निर्गुण, निर्विशेष, अद्वैत दर्शन एक ओर से शूयवादां और मायावादी और दूसरी ओर विज्ञानवादी, दृष्टिसृष्टिवादी और स्फूर्तिवादी बना है। आत्मरयाति और अनिर्वचनीयख्याति, अवयव और व्यतिरेक दोनों का उपयोग उन्होंने किया है। उनका दर्शन वेदान्त के अलग अलग मतों की गिचड़ी नहा है। न वे केवल अनुवादक मात्र हैं। उनके प्रतिपादन में जानकीनता और मौलिकता दिखाई देती है, उन्हें वह सृष्टि, याज्ञवल्क्य, अश्वघोष, गौडपाद, शांकरादि महर्षियों की पक्ति में ससम्मान बैठाने के लिए पर्याप्त है।'^२

१ पृष्ठ- ३३।

२ श्री ज्ञानेश्वरार्चें टन्त्रज्ञान, पृ० ४६४-६५-६७।

ज्ञानेश्वर के अनुभवामृत का नाम 'अमृतानुभव' रहा होगा, ऐसा शिवराम महाराज पराजप का मत है। 'जट' नाम जा भी रहा हो 'भावार्थदीपिका' का यह यह लिखा गया है, ऐसी निवृत्तिनामप्रियकर आटप्रायका है।

नामदेव

नामदेव के सम्बन्ध में विस्तृत विचार सिन्धी और मराठा निर्गुण कवियों के तुलनात्मक अध्ययन के चौथे खण्ड में किया जाएगा। यहाँ केवल उनके और उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में जो सामग्री प्राप्त है, उसकी एक सूची देकर हम उनके निर्गुण मत की चर्चा मात्र करेंगे। सा० ए० किरण्ड के 'मदम आफ पदपुर', एम० जी० लड्डेकर के 'दि भागवत सूत्र इन मराठा', हनुमन्तराज के 'दि हिन्दू रिलीजस सूत्रमदस इन मिडीयन टक्कन' इन अंग्रेजी ग्रंथों के अलावा सा० पु० जोशी का 'पञ्जावातील नामदेव', ए० ए० मरनेसाई का 'नामदेव महाराज' और ए० ए० माठकर के 'नामदेवचरित्र' मराठी ग्रंथ हैं। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सत साहित्य सशोधक ए० जे० प्रियाकर द्वारा प्रो० वालङ्गण मुडी को १ अगस्त, १९२१ को लिखे पत्र में निम्न सदर्भ सूचा ली गई है।

उत्पन्न अनुसार 'सुवारक' में सिन्धी लेखक एम० एम० भारद्वाज के लक्ष्य 'ज्ञानेश्वर नामदेव का निर्गुण' के अनुसार नामों समकालीन हैं। डा० भादरकर, प्रो० पदवर्धन और प्रो० रा० दे० रानडे भी इसी मत के हैं। हरिभक्तपरायण श्रामता ए० भिगारकर ने उपर्युक्त रूप का उत्तर 'कमरी' में दिया था (जिसका हवाला 'ज्ञानेश्वर महाराजांचा कालनिर्णय' में त्तरित, १९०० में दिया गया है)। उनके अनुसार और पागाकर भाव, आजगाकर, तथा डा० कतनर के अनुसार नामदेव ज्ञानेश्वर के उत्तर हुए। पादुरग शर्मा ने 'चित्रमयजगत' (अगस्त, १९२२, पृष्ठ १०७) पर ज्ञानेश्वर नामदेव का समकालान्तव सिद्ध किया है। नामदेव के सम्बन्ध में 'लोकशिक्षण' (मराठा मासिक-वर्ष-१, अंक-११, पृष्ठ-५६६) में 'एक महाराष्ट्रीय' अर्थात् आयुत म० प्रो० भिन्ने ने 'पञ्जावातील नामदेव सम्प्रदाय' लेख लिखा था। नानाजी के 'भक्तमाल' में नामदेव के विषय में निम्न छाप्य है—

नामदेव प्रतिना निर्बही ज्या त्रता नरहरिदास की ॥
 गालदशा 'नीटले' पानी जाकै पै पीयो ।
 मृतक गऊ जिवाय परचो असुरन को दीयो ।
 तेच सखिल त काडि पहिल जेमी ही होती ।
 दगल उलटया देरिा मजुचित रह सगही सोती ।
 पद्दुरगाय वृत्त जनुग ज्या छाना सुकुर छाई घाम को ।
 नामदेव प्रतिना निर्बही ज्या नेता नरहरिदास को ॥

इस उपाय पर भ० श्री पंडित, जनपरी १९५३ की 'सुगमानी' में लिखते हुए कहते हैं, 'नाभाजी को अभिप्रेत नामदेव हमारे महाराष्ट्र के नामदेव ही हैं' इसमें कोई सन्देह नहीं। नामदेव जानदेव के शिष्य थे, ऐसा नाभाजी कहते हैं और उन दोनों ने साथ साथ तीर्थयात्रा की थी, यह महाराष्ट्र में सब जानते हैं। तब ये दोनों समकालीन थे, इस बारे में वादविवाद के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं है।

नाभाजी के अनुसार त्रिलोचन जानदेव के दूसरे शिष्य थे। इस त्रिलोचन का नाम महाराष्ट्र में बिलकुल नहीं जाना जाता। जे० एन० फरकुहर ने अपने ग्रन्थ 'एन आउटलाइन आफ रिजीजस लिटरेचर आफ इण्डिया' (पृष्ठ २९०-३००) में त्रिलोचन के विषय में कहा है 'दूसरा मराठी गायक त्रिलोचन नामदेव का समकालीन था, परंतु उसके विषय में बहुत कम जाना जाता है। आदि ग्रंथ में उसका तीन ही पद मिले हैं, परंतु उसका मराठी पद और उसकी स्मृति भी उसका मूल जन्मस्थान से बिलसपाय है।' म० श्री० पंडित के अनुसार फरकुहर का यह कथन सत्य नहीं है, क्योंकि महीपती के 'भक्तित्रिजय' के अंतिम अध्याय में त्रिलोचन का नामनिर्देश है और मोरोपन्त का 'सन्मणिमाला' की ९०वीं आर्या में कहा है—

गाथा त्रिलोचनाभिध आविल शुभगुणाधि कल्पनग वाणी ।

हरिजनयशाच रमशिल तरि काय मना, सुखामि मग वाणी ॥

भारत इतिहास सशोधक (१८३७) के अनुसार नाभाजी का काल १५४२ है तो डी० वी० पारमनिस के अनुसार १५५८-१६००, भिगारकर उसे पंद्रहवीं सदी का मानते हैं और मिश्रत्र तु १६०० ईसवी का।

मराठी म शके १७१० के छुडिराज नरहरि भाल क जनकाची चरित्र' म, उद्धवचिन्मघन क चरित्र म, महापती क भक्तिविजय और भक्तलालामृत म, ज० र० आजगायकर के नामदेव चरित्र (१९२७) म, पि० स० जगिनहात्री क 'नामदेववृत्त तीर्थावलीच अभंग' (१८९२) और तुकाराम तात्या और गांवलेकर क 'भुभगाच्या गाथा' म तथा भारत इतिहास सशोधक मंडळ (पृथ- ६, पृ०-३०) म 'नामदेव का निर्णय' लग्य म नामदेवविषयक ग्रामग्री मिलती ह ।

इत सय क आधार पर जो० मुळा न जा निष्कर्ष निराल ह, व इत प्रकार ह नामदेव दाभा शेटा उपनाम रेळकर, जा कि नामाशिरी, नामावगी, छुपा या चित्रा नाम से भी ज्ञात हे, सन् १२७० से १३०० तक हुए । इनके जीवन और घटनाओं के बारे म चौथे खण्ड म विवचन होगा । परंतु ये 'निर्गुण पत्र' नाम क पत्र क प्रवर्तक न, और आदिनाथ से प्रियेना चरित्र तक उनकी गुरुपरम्परा रहा ह, यह भी निश्चित ह ।

आदिनाथ गुरु सरुल सिद्धाचा
मच्छिद्र द्र तयाचा सुरय शिष्य
मच्छिद्र द्रा ने प्राध गोरक्षासा कला
गोरक्ष वळला गहिनी प्रती
गहिनी प्रसाद निवृत्ति दातार
ज्ञानदेव सार चोजगिल
जानियाचा राजा ज्ञानेश्वर माउली
खेचरा बोलला कृपागिबू
ज्ञानदेवा चरणां खेचर शरण
नामदेवा पूर्ण कृपा कली
नामदेव हात चाखियाचे शिरी
चिह्नल ती अक्षर उपदेशिली ।^१

वे सगुणोपासक तो ये ही । परंतु प्राद में 'नानोत्तर भक्ति' की सच्ची पहिचान होने पर वे 'निर्गुणोपासक' भी बने । अथात् अन्यक्त, निराकार

स्वरूप का दर्शन भी उनके पदों में मिलता है। इस प्रकार से नगुण निर्गुण समन्वय मिलता है। ग्रन्थसाहचर्य में नामदेव के पद २८, २९, ३२, ५४ में अव्यक्तोपासना का महत्त्व वर्णित है। वह कहते हैं

पद २८

भरत भूत सीतला धाँवे । रर राहन ऊहु, छार उड़ाये ॥
हउमऊ पफ रमईआ लहऊ । जान देव उदलाउनि दहऊ ॥
सिव सिव ररते जो नरू धिआये । परन चढ़ै लउरू डमकाये ॥
महामाई का पूजा करे । नरस नारि हाई अउतर ॥
तू कहिअत हो आदि भजानी । मुकति की वरिआ कहा छवानी ॥
गुरमनि रामनाम गहु मीता । प्रणये नामा इहु कहे गीता ॥

पद २९

अनु नाम विटलु देखिआ । सुररु को समझाई रे ॥
पाडे तुम्हरी गायत्री बोधे का रतु खाती गी
एकरी ठगा टंगरी जारा लागत लागन जाता गी ।
पाडे तुमरा महादेउ वउले बलद चडिआ जागर दग्नि ता था
मोटा क घर खाणा पाका वाका लडिका मरिआ या ।
पाडे तुमरा रामच द्र सो भां आवतु देखिआ या
रावत मेती सरवर होइ घर की जोइ गँवाई थी ।
हि दू अना तुरकू काणा दुहाते गिजानी सिआणा
हि दू पूज देहुरा मुसलमानु मसीत ।
नामे सोई मेरिआ जह देहुरा न मसीत ॥

ईश्वर क विश्वव्यापक रूप का वर्णन ^१

पद , ४९

आड कलदर कसपा । करि आवावाली भेसना
जिनि आकास कुलह मिरि कीनी कडसे सपत पयाला
परम पोस का मदरू तेरा

उपन मोटि का पहनू तेरा गोलो महसू ज्ञारा
भार जगारह सुदगरू तेरा महनरु मभ समारा ।
नेत्री महजिदि मनु मडलान मन्ज निराज गुजार
प्रीनी कऊला मऊ नाइनु तेरा निरकार नगरै
इह प्रिप्रि बने गुपाला ॥

ओर ब्रह्म की सर्व थापना के वचन हैं

मकल पुरग्न इतु चलितु उपाइ ग
घटि घटि अतरि ब्रह्म लुकाइआ ॥ ६। ॥
जीअकी ज्योति न जाने काइ
तमे किआ सु मालसु होइ ॥ २६ ॥
आनि जुगादि जुगादि जुगा जुकु ताम अत न जागिआ
सरर निरतरि रामु रहिआ रवि ऐया रूपु प्रखाविआ ॥ ६० ॥
ईभे पीठलु, ऊभे पीठलु, पाठलु तिसु समार नहा
आन अनतरि नामा गणन पूरि रहिउ त सरन मही ॥ ३ ॥

नामदेव की स्तुति से पूजना ने पत्र कहा ह

धन्य धन्य नामदेव । सर्व य गणाचा रात्र ॥ १ ॥

एकनाथ

पैठण दक्षिण काशी कहलाती है । वहा एकनाथ के प्रपितामह भानुदास हुए । उन्होंने भक्त दामाजी के समय का अकाल (सन १२४८ से १४२१) देखा था । उसे १० वर्ष की उम्र में सूर्यनारायण का साक्षात्कार हुआ । तब से नाम भानुदास पडा । नायत्री के तीन पुरश्चरण के बाद उसने निश्चय किया कि अथ वह न राजमेना करेगा, न कोई व्यापार । पर पाहुंरग का भजन करता रहेगा । विवाह क बाद सब अडोसा पडोसियां ने उस कपडे की दूकान लगवा दी, उसम उसे जुकसान हुआ । परन्तु भानुदास ने सच्चाई की सभी प्रशंसा करते थे । भानुदास ने १०० अभाग लिखे हैं । उनम भावगीतात्मकता है । आगम निगम का स्थान, अद्वय ज्ञानद, परमानंद, सच्चिदानंद, श्रुतियों में अनुवादित ब्रह्म विद्वल में ही उन्होंने पाया था ।

“पवित्रता जधि प्राणेश्वरी ।

भानुनाम ह्यणे निर्धारी गा विठोवा !”

भानुदास का पुत्र चक्रपाणि । चक्रपाणि का पुत्र सूर्यनारायण और उसकी पत्नी हविमणी । उनके पुत्र थे एकनाथ । एकनाथ का जन्म तुलसीदास के जन्म के आसपास (१५३२ ईस्वी) ही हुआ है । एकनाथ ने अपना भागवत ग्रन्थ काशी क्षेत्र में १५५४ ईस्वी में लिखा । उसी वर्ष तुलसीदास के रामचरितमानस का आरम्भ हुआ । एकनाथ और तुलसीदास दोनों अमुक्त मूल नक्षत्र में जन्मे । दोनों के माता पिता एक वर्ष बाद चल बसे (अपनी जननीको तज्यौ जननी तुलसीदास , मुलीच्या मुलीं ज मला एकनाथ) । इसी बात पर एकनाथ ने एक अध्यात्मपरक अभंग रचा है कि पिता पुरुष और माता प्रकृति को मूल (नक्षत्र) में जन्म करके मारनेवाला ‘एनी एक’ मूल को जाकर भिडा । १६व वर्ष में एकनाथ देवगढ़ में जाकर जनान्न स्वामी से मिले । वहाँ उनके गुरु थे । दत्तसंप्रदाय का अकर्तात्मगोध उ हीं से पाया । अपने सत्र अभंगों में इसलिये एकनाथ ने ‘एका जनार्दन’ पदान्त में कहा है । एकनाथ काशी में उद्भूत समय तक रहे । ‘निर्वर सर्वभूतेषु’ आदर्श का आजीवन पालन करके १५९९ में नाथ का निर्वाण हुआ । एकनाथ को आगे के विवेचन में सत्त्व में जैसे महाराष्ट्र में कहते हैं, वैसे ‘नाथ’ ही कहा जायगा ।

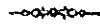
साधव गोविंद रावडे ने एकनाथ के कार्यकाल में कहा कि ‘भागवत धर्म एकनाथ के प्राकृत ग्रन्थों में जैसे स्पष्ट है वैसे और कहीं नहीं । एकनाथ के ग्रन्थों में तो भागवत वर्म दिखाई देता ही है पर उनके चरित्र में भी दिखाई देता है । भागवत धर्म चरित्र में दिखाना एकनाथ का विशेष भाग्य था । आपकी हमारी क्या गति होगी, भोल भाले कैसे तरगे, यह विचार उनके मन में था । हम हैं पगु, हम शास्त्रा ययन कर तो पेट की चिंता से कसे मुक्त हों, ऐसे करोड़ों लोगों को न योगमार्ग चाहिये, न ज्ञानमार्ग, न कममार्ग । इन्द्रिय निग्रह नहीं होता । हम सुलभ मार्ग चाहिये और वह नाथ के चरित्र में है । निरहकार रहकर भक्ति करने में गीति, मुक्ति, वैराग्य सभी कुछ है । नाथ का भागवत पढ़कर हम यह जान कर शांति पाते हैं ।’

परमात्मा निर्गुण है इत्यत्र गारं स भागवत (अध्याय ३,३-११) में वे कहते हैं—'निरसूनि रूप नामगुण । ध्यानां तस्मात् त्रिज निर्गुण ।' भगवान् स्वयं कहते हैं

माहृत स्वरूप निज निर्गुण । अथवा वक्रुटीच सगुण ।

नोन्हीं एकचि निश्चय जाण । सगुणनिर्गुण समसाम्य ॥ (भागवत २: ३०)

सगुण निर्गुण को समान मानने की उनकी वृत्ति है । जैसे एकनाथ कहते हैं कि जैसे सत्रे, शाम, मध्याह्न तीनों समयों में आकाश अलिप्त होता है, उसी प्रकार मे उ पत्ति स्त्रिनिरूप सृष्टि होता जाती है । परब्रह्म उसमें अलिप्त है । जागृति का ज्ञान, स्वप्न का मिथ्याभान, सुषुप्ति के मात्मा पूर्ण वही नारायण हैं । 'एव परमात्मा परज्योता । आत्मा हृदयस्य त्रिजगती ।' नयन उमी ब्रह्म के सहार द्यते है, रसना उमां स्वाद लेती है, श्रवण उपाले सुनत है । अटकार का अहभाव, मन का म तय, बुद्धि का तद्व्य जहा एक परब्रह्म है । वह मत्तुद्धिवाचा की कल्पना में अनान, निर्विकल्प और अगम्य है । परन्तु नाथ की रचनाओं के काल तक आगर निर्गुण गारा कवल म्लाधार के रूप में बची थी । सगुण ने जनमत को अधिक आकृष्ट कर लिया था ।



अध्याय ५

निर्गुण कवियों में प्रयुक्त सामान्य प्रतीक और संकेत

निर्गुण कविता द्वारा प्रयुक्त सामान्य प्रतीक भाषा में है। स्यूट सूक्ष्म वेद, प्रकृति, पुरुष, पट्चक्र, अनाहत नाद, प्रणय, कुडलिनी, त्रिपुटी, तुरीयावस्था, पंचतरु, अत करणचतुष्टय, भास, मायुज्यता, निरजन, सच्चिदानन्द, चैतन्य, उन्मनी, स्वगकाश, स्वानुभूति, आत्मानन्द, विवर्त, ज्ञानेन्द्रियपञ्चक, कर्मन्द्रिय पञ्चक, परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वेखरी, पटल इत्यादि। मराठी जाध्यात्मिक कविता में भा इस योगविषयक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग सर्वत्र मिलता है।

समस्त पहले पटचक्र और अनाहत(द) नाद देख, तो उनका उल्लेख प्राय सभी कवियों ने किया है। 'यह अनुभूति का चिह्न पिंड में है, देखो ध्यानपूर्वक' आशय का मराठी क आदिकृति मुकुंदराज का एक पद देखिये

हे खुण अनुभवाची पिडी परतानी पाह ।

आपे आप प्रकाशल तेणे जानदे राहे ॥ ध्रुवपद ॥

पश्चिमन्निशेसि जाता उजवा टाकिला मेरू ।

अनुहात गगन गज थोर उठला गजरू ॥ हे खुण० ॥

त्रिकुटां स्थिरावाला मनपवन वारू ।

जिकिले पंचराण केला विषयाली मारू ॥ हे खुण० ॥

आवारी नाम मुळी तीही एरुचि ततु ।

सहस्रदळा वरती तेथें राहे निवातु ॥ हे खुण० ॥

विषडले सन् वद पट्चक्राची माल ।

चद्रा वीण चाढणे दिने मुक्ति कह्लोळ ॥ हे खुण०^१ ॥

इसम जिस 'अनुहात' नाद का उल्लेख है उसके बारे में योगियों का विश्वास

ह कि चित्त की त्रय त्राय वृत्तियों तद हास्तर उमरु अ तमुग्य हान पर शरीर म त्म प्रकार क नाद सुनाइ देने हे । उ नाम ह्यम प्रकार मे ह (१) चिण , (२) चिग चिण् , (३) घटानाद , (४) शरणात् (सु सु) (५) त्री नाद (त्रीन क तारा का नाद) , (६) तालनाद (७) त्रेणुनाद , (८) मृग नाद , (९) भरोनाद , (१०) मेघनाद । इम नादमीमासा म नहा तरु सत्य हे यह तो अनुभवी हो जान , पर तु श्रुतिशास्त्र के आधार पर 'श्रीकन्माज्' की दृष्टि से यह चढ़ता हुआ विभाजन उहुत कुछ वनानिक हे यह मानना पडता हे । मिहगर्जना और मेघगर्जना का निनाद मरसे अधिक होता हे यह मि सदेह सत्य हे ।

वही ज्ञान शून्य की मीमासा म पाई जाती हे । हम पहल भी कह चुके हे कि हम 'ख' वाचक पद का प्रयोग सत्रकविर्याने किया ह । ज्ञानेश्वर के उोट भाई सोपानदेव (जन्म शके ११९६) के पचीकरण में 'आदि गणपति निरजन' का जो वदन हे उमरु नाम उर्ध्वशून्य है । जीवेश्वर म महाशून्य है यह श्रोता जान । मूलमाया ही सरस्वती हे । उसे निजप्रकृति समझ । उर्ध्वशून्य को सज्ञान आत्मजाता माया कहते हे । सर्वशून्य यह देह हे । पाँचवा शून्य मि सदेह प्रपच हे । सत्र रज तम त्रिगुण सुनिये । रजोगुण ब्रह्म ह, स त्र विष्णु नारायण है, तमोगुण रुद्र हे । तमोगुण से आकाश जनमा । आकाश वायु से व्याप्त हुआ । वायु से अक्षिरूप बना । अक्षि से जीवन बना । जीवन से पृथ्वी व्याप्त हुई । पचभूतों का विस्तार हुआ । ये पचभूत साभास बने । उनके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध पचत्रिपथ हुए । अब उनका भेद सुनिये शब्द आकाश का था, स्पर्श वायु को प्रमाण था, रस सपूर्ण आप था, रूप, गंध पृथ्वी क । आगे शरीर के साथ हर एक क पाँच पाँच गुण दिये हे जिनम तेज के पाँच गुण लुधा, निद्रा, आलस्य, उद्वग और मैथुन कहे गये हे और वायु के आकुचन, चलन, बलन, स्पर्शन, निरोधन । और आकाश के लज्जा, मोह, राग, शांति, भय । यह स्थूल देह का विवरण हुआ । स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण देहचतुष्टय हे । साकार स्थूल देह है, वहाँ पट्चक्र मनोहर हे । उनम पहला चक्र मूलाधार हे । गणेश वहाँ रमता है । आगे चार मातृकाओं का वर्णन हे

'ते' चारी मातृका । रिद्धि सिद्धि शान्ति देखा ।
 इतुका चिस्तार आइका । आधारचक्राचा ॥ १७ ॥
 'व श' दुसरे चक्र स्वाधिष्ठान । तेथ ब्रह्मा देव जाण ।
 सावित्री शक्ति आपण । जाणात्री स्वाधिष्ठानां ॥ १८ ॥
 'व ल' तिसरे मणिपूर नाभिस्थान । तेथे विष्णु देव जाण ।
 लक्ष्मी शक्ति आपण । दश मातृका पात्रोत्थिका ॥ १९ ॥
 'ट फ' नीलोत्पल रंग त्याचा । तादृ दश अगुलाचा ।
 एव प्रकार त्याचा । तं मणिपूर जाणाव ॥ २० ॥
 चौथे चक्र अनुहात । तेथे रुद्र आदिदत्त ।
 द्वादशांगुल अलिशोभित । द्वादशदळ ॥ २१ ॥
 रंग श्यामवर्ण । पार्वती शक्ति जाण ।
 सद्गुरू अधिष्ठान । मोक्षदाता ॥ २२ ॥
 'क ठ' पाचव चक्र विशुद्ध । कर्स्थान प्रसिद्ध ।
 षोडश जाण एवविध । चक्र पाँचवें ॥ २३ ॥
 'ज ञ' सहाव अग्निचक्र । दोनी पात्रोत्थिया विचित्र ।
 हस परिखा पवित्र । नौदे तेथे ॥ २४ ॥
 'ह ञ' सातवें सहस्रदळ । तेथ सद्गुरू आत्माराम केवळ ।
 सूक्ष्म पवित्र सुढाळ । ज्योतिर्मय ते असे ॥ २५ ॥
 श्यूलदेह पीतवर्ण । रक्तमिश्रित ओट हात प्रमाण ।
 लिंगदेह अगुष्टप्रमाण । श्वेतरक्तमिश्रित ॥ २६ ॥
 तिसरें देह कारण । पर्वार्ध त्याच प्रमाण ।
 तेथे अधकार सपूर्ण । मडला असे ॥ २७ ॥
 मसुरीदळ प्रमाण । चौथे देह महाकारण ।
 त्याचा असे सुनील वर्ण । दैवत महामाया ॥ २८ ॥
 परम सूक्ष्म बिंदुस्वरूप । ज्योतिर्मय निर्गुण रूप ।
 सद्गुरू कृपे तव लक्षाव ते स्वरूप । ज्योतिर्मय ॥ २९ ॥
 इडा पिंगला सुषुम्ना । या त्रिकूटी जाणा ।
 त्याच्या सागों अनन्ता खुणा । श्रोतया जना प्रती ॥ ३० ॥

गगा यमुना सरस्वती । इडा पिपासा सुपुम्ना मिलती ।
तोचि त्रिवेणा सगम म्हणती । आत्मज्ञाने मज्ञान ॥ ३१ ॥

ऐसा त्रिवेणी सगम जाण । तैय मनशा कराव शुद्ध स्नान ।
शुद्ध जाहलिया निधान । मग दिसे डोळा ॥ ३२ ॥
प्राण अपान व्यान उठान समात । हे जाणावे पाँच प्राण ।
त्रोणाच कवण रान । सावधान परिम्यात ॥ ३३ ॥
अपान असे गुप्तज्ञाना । समान वसे नाभिस्थानी ।
व्यान सर्व फिरोती । घस्त करी ॥ ३४ ॥
उत्पान असे कट देशी । सुर्य प्राण नाभिकर्णी ।
पच प्राणाची स्थिति । एमी जाणिजे ॥ ३५ ॥

आता सागा चारी वाचा । परा पश्यती मध्यमा उग्ररी याचा ।
नित्राडा करोनिचा साचा । सागीतळा पाहिजे ॥ ३६ ॥
स्यूलवेर्ही वाचा वेत्परी । लिंगदर्हा मध्यमा वत्परी ।
कारणा पश्यती निर्धारि । महाकारणी परा वाचा ॥ ३७ ॥
अह, बुद्धि, चित्त, अत करण । ह मनाच चतुष्टय जाण ।
यावरी काराची खुग । सागेन आता तुम्ही ऐका ॥ ३८ ॥
अकार उकार मकार । चौथी अर्धमात्रा पचम व्यजन साचार ।
एत घडला निधार । सयत्ये पै जाणाना ॥ ३९ ॥

अकार ब्रह्मा आपण । उकार त्रिगु नारायण ।
मकार रुद्र जाण । मूलमाया ते अर्धमातृका ॥ ४० ॥
साधा उरल जें व्यजन । त जाणाव निरजन ।
आता अवस्थाची खुण । सोंगतीं पै तुम्ही ऐका ॥ ४१ ॥

जागृनि स्वप्न सुषुप्ति तुर्या । या चारी अवस्था गुणवया ।
आख्या, स्यूलवेहाच्या कार्या । जागृति आली ॥ ४२ ॥
लिंगेर्ही स्वप्न पाहे । कारण मूढ सुषुप्ती राहे ।
तिन्हीची साक्षिणी आहे । महाकारण तुया ॥ ४३ ॥

आता त्रिगुणाच्या तीन शक्ति । ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति ।
इच्छाशक्ति, याची त्रिगुणी न्यासि । असते सप्रकत्व ॥ ४४ ॥

दश द्विधाचा निर्धार जाह । पाँच इन्द्रिय विचार ही पाह ।
 कर्मन्द्रिय ती हे । परिराला पाहिजे ती ॥ ४३ ॥
 चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण, वाचा । ज्ञानेन्द्रियपत्रकाचा ।
 जाता विचार कर्मन्द्रियाचा । कला पाहिजे ॥ ४६ ॥
 नाचा, पाणी, पाद, जिह्वन, गुद । हा कर्म द्विधे मिश्रित ।
 त्रिपुटीचा वृत्तात । सागां जाता ॥ ४७ ॥
 ज्ञेय ज्ञाना ज्ञान । यय याता ध्यान ।
 दृश्य द्रष्टा दर्शन । यात म्हणती त्रिपुटी ॥ ४८ ॥
 सलोकता समीपता सरूपता । चौथी मुक्ती सायुज्यता ।
 श्रोतीं जाणाव्या तन्वता । मुक्ति चारी ॥ ४९ ॥
 काम, क्रोध, मद, मन्सर, लोभ । ह तव जीवेश्वरीं स्वयम् ।
 याचा मान् नये लोभ । याते गिळिल पाहिजे ॥ ५० ॥
 विक्षेपता गतायाता । सुनिष्ठता सुलीनता ।
 याच्या भूमिका तरता । अनुभवा या हो ॥ ५१ ॥
 ऐसें ह पचीकरण । सा राश महावाक्य जाण ।
 हें विचारिता सज्ञान । भात्मज्ञान दृढ होय ॥ ५२ ॥
 पदचक्राची गणती । हति श्रीमहावाक्यसमाप्ति ।
 सद्गुरुदृष्टें करिता स्फूर्ति । शांति लाभेल पें गा ॥ ५३ ॥
 त्याचा प्रसाद कथिला । पचाकरणाचा साराश काढिला ।
 श्रोतीं सजानीं वदिला । अनुभवसिद्ध जो ॥ ५४ ॥
 ऐका मुद्रा चारी । खेचरी, भूचरी, चराचरी ।
 चौथी जाण अगोचरी । या चारी मुद्रा जाण पों ॥ ५५ ॥
 जाता ऐका पाचवी निर्गुणेश्वरी । साहावी ते पण्णुरी निर्धारी ।
 सद्गुरुदृष्टें निरतरीं । परब्रह्मस्वरूप पूर्ण होय ॥ ५६ ॥
 सोपान करी त्रिनवणी । कृपा कीज सतसज्जनीं ।
 वेदोक्त श्री गुरुची वाणी । श्रोता वक्ता तोचि पै ॥ ५७ ॥
 तथा वीण दुजें नाहा । ताचि त्रिबला, सर्वांठाया ।
 वेहातीत असे पाहीं । जेंसा घटी रवि दिसे ॥ ५८ ॥

जो निजसुखस्वरूपताता । नोचि सन्मग्न जाण तत्त्वता ।
 ताचि परमा मा मानुनि सनता । लाभ मोक्षप यासा ॥ ५९ ॥
 इति श्री पञ्चीकरण । अन्य समाप्त करा सोपान ।
 ह ऐप्पोनि ज्ञानन्व आपग । प्रेम दोसटले ॥ ६० ॥
 निवृत्ति मुक्ताई म्हणे धन्य । सोलींन जाण पूर्ण ।
 परब्रह्म निरोपिल उर्वरीत जाण । बोलेणे येयून खुटल ॥ ६१ ॥

प्राय यही योगवाली ज्ञानवाली ज्ञानेश्वर ने एक पालने क गीत^१ में प्रयुक्त की है

आधार वा ! मूलबध वाम चरण निरद्व र ।
 स्वाधिष्ठानीं लिंगस्थान तेथ धरिं प्रमिद्व रे ।
 दक्षिणेचा चरण माया टबुनिया विप्रध रे ।
 तयामि तू रक्ष आधीं, सिद्धासन तें शुद्ध रे ।
 अनुहत वा ! हृदयस्थान जेथें वायूचे सधान रे ।
 साधना लावि त्याशी नित्य करनि सधान रे ।
 घटाच नाद होती तेथें राहुनि लीन रे ।
 विशुद्धी कठस्थान वग जावे जिकोनि रे ।
 अग्निचक्र भ्रूमध्यागे भोगी सुपुत्रेच्या अग रे ।
 प्राणापान समरशीं प्रणावाचा सयोग रे ।
 सत्रापीच क्षीर वेडें लक्ष्मीकेच्या नी मार्ग रे ।
 अलक्ष्मीं लक्ष्मीं वेरोनिया राजयोग रे ।
 पाह पा सहस्रदळ शुद्ध स्वरूप केवळ रे ।
 विज्ञान हे दृष्टि लाहें जान राहे समूळ रे ।

ज्ञानेश्वर ने अभंगों में १२४ अलग 'योगपर' कहे गये हैं । उनमें से कुछ अभंग तो स्पष्टन हूँसी योगिक, षट्चक्रात्मक परिभाषा का प्रयोग करते हैं^२

१ तयनाचे शेजारां दशव द्वार जापा ।
 ऐका मार्ग सोपा बालतसे ॥ १ ॥

१ पद सग्रह पृ० ४-५ ।

२ ज्ञानेश्वर अभंग गाथा, पृ० ६०, ६३ और ६७ ।

आधारा पवन अपान विराजे ।
 आगुळ चार साने तथा ठायो ॥ २ ॥
 मणिपुर चक्र नाभिस्थान कमळ ।
 सहा अगुळाचा खेळ असे तेथे ॥ ३ ॥
 वायुचक्र अनुहात हृदय असे एरु ।
 प्राणाली नि शक्र तंथे नेद् ॥ ४ ॥
 अग्नीचक्र सुराग शोभत प्रकाशत्पर ।
 प्राणाली उल्लावे तयावरी ॥ ५ ॥
 सहस्रदर्शी ब्रह्मरथ शोभतसे निळ ।
 प्रकाशाचे उमाले जेथ असती ॥ ६ ॥
 ज्ञानदेव म्हणे ऐका पाणायाम ।
 या अभरीं नि सीम अर्थ झाला ॥ ७ ॥ (१९)

२ नयनाच अजन मनाच रजन ।
 ठसा हा सघन वाह्यानो ॥ १ ॥
 ओंकार अक्षर अक्षरी हारपे ।
 अनुभवाच्या मापें माजू बापा ॥ २ ॥
 विंदूचें जू मूळ प्रणवाचें फळ ।
 योगियाचे खेळ तेच गर्थी ॥ ३ ॥
 ज्ञानदेव म्हणे निवृत्तिप्रसादें ।
 स्वरूपाच्या तिनोद बोलीलें, हें ॥ ४ ॥ (३२)

३ अकार उकार मकार ओंकार ।
 प्रणव हा साकार सुरेख रे ॥ १ ॥
 मसुरामात्र सार योगी ध्याती देही ।
 निरजन पाहीं ब्रह्म तेंची ॥ २ ॥
 ज्ञानदेव म्हणे देह झालें देव ।
 प्रणवची शिव अनुभव ॥ ३ ॥ (३७)

४ दृढा वाम दक्षिणे पिगला ।
 दोर्हात या कळा त्रहस्थानीं ॥ १ ॥

प्रणव सैरा बापा धाये अघड घाटे ।

रीघा नवपाटे जीव जीवना ॥ २ ॥

ज्ञानदेव म्हणे हाची कीं रे प्रणव ।

यापुरता अनुभव नाही नाहा ॥ ३ ॥ (८)

प्रणवासी रूप नाहा काहा जाया ।

दशवे द्वारीं मूलमाया असे कारे ॥ १ ॥

सहस्रदृष्टी वृत्ति लाविता नि शक ।

मानासी भवासी ऐक्यता तर्क ॥ २ ॥

जाननेव म्हणे या परत नाही ।

बोलण्याचा सोयी अनुभवी जाणे ॥ ३ ॥ (५९)

जानदेव अपने योग पर अभंगों में कहते हैं कि उस 'निरजन' देश में पहुँचकर त्रिकुट का फेरा पीछे डूट जाता है—अर्थ नारी पुरुष एकरूप दिखाई देते हैं। रवि शशि या तेज ए-सा जान पड़ता है। योगी वहाँ एक आश्चर्य देखता है कि नारी और पुरुष एकरूप दिखाई देते हैं। जो शिव है वही शक्ति है। "यत् स म भी कुञ्ज व्यक्त नहीं है। वहाँ सगुण देह है। पर निर्गुण शिर है। उसी को आकाशशीर्ष कहा है। आकाश के अंत में प्रणव का गुह्य है। वहाँ साधु निरजन बीज देखते हैं। सद्रूप चिद्रूप अद्वय एक कला जान पड़ती है। तुया म अगड निवास रहता है। स्थूल देह तिलम कर सूक्ष्म वचा रहता है। 'प्रणव उसका पिता है, अक्षर माता है।' कमल पर कमल उलटा रसकर, कमल में कमल बोधा है। कबीर की 'रम गगन गफा में अजर झरै' जैसी अनुभूति से जानदेव कहते हैं 'आकाशाची गुफा अंत नाहा जिवा'। (१६) ये सभी योगपरक अभंग ज्ञानेश्वर की संकेतात्मक भाव व्यंजना के उत्तम प्रमाण हैं। प्रतीक भाषा में 'कोड लगेज' की भाँति सरथाजा में ही बोला जाता है। यथा ज्ञानेश्वर ने 'स्वात्मनुभव' में कहा है

'उस्तु सागावया कारा' । चौघ राहिले मुक पणे ।

अठराचा अंत करण । हिंपुटी जालीं ॥ २९ ॥

साही जण खटपटित । चौदा जणा वेजादत ।

इतुषयाही जाणत । तेचि निज' ॥ ३७ ॥

(अर्थात् वस्तु कहते समय चार गँगे रह गये । अट्टारह कं दिल् निराश हो गये । छ लोग भी प्रबुत कोशिश करते रहे । चोदह लोगों न त्रिवाण क्रिया । इनको जो जानता ह, उही 'निज' है ।) इम अभाग म चार, अट्टारह, छ और चोदह सनेत से सिर्फ कहे गये ह । स्पष्ट हे कि चार वेद, पट्ट शास्त्र, अट्टारह पुराण और चोदह विद्याओं की अक्षमता इमम वणित हे ।

इम प्रकार मुकुन्दराज और महानुभावों की सूत्रात्मकता, निवृत्ति ज्ञानदेव खोपान मुक्तावाइ म आकर अधिक आध्यात्मिक रूप ग्रहण करती हे और नामदेव एकनाथ म आकर वह प्रगीतात्मक हो जाती है ।

नामदेव का एक पद हे

नवहतच कैस जाल । रे खेलिया । नाही तच दिस लागल रे । १० ।
अरूप होत ते रूपासि आल । जिव शिव नाच पावल रे ।
आपुली आवडी धरुनि पाटीं । आप आपणात व्याल रे ।
झोंप याकारण वायको केली, तिन हें पोड वाडवील रे ।
एक अगा त्रिविध होउनी सर्वहि भूती भौतिक दाखवील रे ।

नवहतच० ॥ १ ॥

ब्राह्मणाच पोर एरु भ्याल । रे खेलिया । बारा धर्ष लपल रे ।
कापत कापत बाहेर आल, नागवच पळून गेल रे ।
सातोंडया सन्याच बाठर, त्यान वालकपण आथिल रे ।
खळता जेवता चकित चकल, कपाट फोडून गेल रे ।

नवहतच० ॥ २ ॥ (पदसग्रह पृ० १६)

एकनाथ के 'अनुभवानन्द' म ४० से ४६ जोत्रिया इस आध्यात्मिकतापूर्ण अद्वैतवाद का अच्छा समर्थन करती हैं

स्वरूपा असे म्हणे न साहे । ते स्वरूपचि अखड आहे ।
तरी जाणावया म्हणिजेत ऐसे । स्वरूपीं असिजे ऐसे ॥ ४० ॥
असिजे नसिजे हें काहीं । स्वरूपात्मया त्रियोग नाही ।
सागरात तरंग वियोग असे काई । मा तरंग सागरी मेळविजे ॥ ४१ ॥
ऐसा भासे कीं स्वरूपीं सागर मी तरंग । तरी मज स्वरूपा कैचा वियोग ।
सागर साक्षें सर्वांग । अथवा सागरच मा ॥ ४२ ॥

अह ब्रह्म एसा स्फुरति । स्फुरा हेचि जयाप्रति ।
 अराद्धित वाण ब्रह्मस्थिति । स्वरूपत्वचि अस ॥ ४३ ॥
 स्वरूपभाजने तेह पड़े । तरी काय जाहल आणिकीपडे ।
 तथा अतकाला स्मराव न लाग रोऊड । स्मराव जया तोचि ता ॥ ४४ ॥
 तोचि तो अवधा असे । तथा अती स्मरण कायम ।
 ज हाव ते आधाच असे । देह नया ब्रह्म ॥ ४५ ॥
 रहे नसी ब्रह्म हाण । त निर्गुण सायुज्यता म्हणण ।
 हे पाचवा मुक्ति जाणण । वेदा त दाख्वा ॥ ४६ ॥

नामदेव और एरुनाथ के पत्रों में उही यांगपरक भाषा अधिक काव्यात्मक सन्तमय रूप ग्रहण करती है । सायुज्यभाज का, एकरूपता का इतना अच्छा वर्णन सत् कवियों में बहुत कम पाया जाता है ।

कवीर की 'टाली देखन जो गया, मैं भी हो गई टाल' वाली मस्ती से एरुनाथ ने भी गाया है

मन रामा रगल । अवच मनचि राम झाल ।
 सत्राह्य अभ्यतरा अवघ रामरूप कांदल हो ॥ २० ॥
 आत्मया रामाच ध्यान लागल मज फस हो ।
 क्रिया कर्म धर्म अवघ तेणचि प्रकाशे हा ।
 स य मिथ्या प्रकृति पुरूप रामचि अवघा भाग्ये हो ॥ १ ॥
 चित्रचि हरपले अवघ चेत य जाहल हो ।
 देखता देखता अवघ चित्रचि मावळल हो ।
 पाहता पाहणपणा हरिला, सर्वस्वे ठरुत्रिल हो ॥ २ ॥

(पदसंग्रह, पृष्ठ २८)

(अर्थ) सत् राम में रँग गया है कि सारा मन ही राम हो गया । सत्राह्याभ्यतर सत् कुछ रामरूप से ही भरा हुआ है । आत्मरूपी राम का ध्यान मुझे कैसे लगा है, हो । क्रिया, कर्म, धर्म सब कुछ उससे तो प्रकाशित होता है, हो । सत्य, मिथ्या, प्रकृति, पुरुष सब कुछ राममय भासित होता है, हो । चित्र ही जहाँ रंगो गया वहाँ सत् कुछ चेतनमय हो गया, हो ।

नेत्रते देवते सत्र चित्र 'अयम्या'। देखते देखते देखने का साधन हिरा गया, सत्र कुछ टग लिया, हो।)

'तत्त्वमसि' (तत् त्वम् असि) महावाक्य उपनिषद् का है। उसमें 'तत्' और 'त्वम्' की एकरता जिस 'असि' पद से दर्शित है उसका अर्थ जहद्वज हल्लक्षणा से लेना चाहिये। जहद्वजक्षणा में पद के कुछ अर्थ का त्याग किया जाना है और अजहद्वजक्षणा में अत्याग होता है। यह लक्षणा यहाँ वैसे प्रयुक्त होती है, देखिये। 'त्व' पद जीव को अनुलक्षित करता है। जीव क स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण (देहचतुष्टय) और उनकी जागृत्यादि अत्रस्थाएँ सब कुछ 'स' पद का शत्रुवाच्याश है और इस देहचतुष्टय से भिन्न जो त्व पद है वह शुद्ध लक्ष्याश है। देहचतुष्टय प्रशमित होने से त्व पद का शत्रुल वाच्याश शेष हुआ। जीवता गया और केवल साक्षी चैतन्यमात्र बचा रहा। इसे त्व पद का शोधन कहते हैं। अत्र तत्पद का शोधन स्वानुदघन परमात्मा को 'अह ब्रह्म' कहकर जो स्फूर्ति हुई, उसी स्फूर्ति का नाम माया है। उसमें जो चैतन्यरूप विभित हुआ उस प्रतिबिम्ब का नाम है ईश्वर। उस ईश्वर के तिराट्, हिरण्यगर्भ, माया, महामाया देहचतुष्टय है और उत्पत्ति स्थित्यादिक अत्रस्थाएँ हैं। ये सब तत्पदशत्रुलवाच्याश हैं। इन तिराटादि चारों देह और अवस्थाओं का उपशमन होने पर जो उचिता है वह तत्पद शुद्ध लक्ष्याश है। अत्र तत्पद शत्रुलवाच्याश और तत्पद शत्रुलवाच्याश जहद्वजक्षणा से छोड़ दे और त्वपद शुद्ध लक्ष्याश और तत्पद शुद्ध लक्ष्याश यह दोनों अजहद्वजक्षणा से हैं। इस प्रकार से जाव की पिडात्मक जीवता का निरसन होता है और ईश्वर की ब्रह्माडात्मक शिवता भी कम होती है और बची रहती है जीवशिव की एकात्मता। वही है 'असि' पद। इसीकी चर्चा इन निर्गुण सन्तों ने की है।

अध्याय ६

लोकोत्तर अभिव्यंजना की प्रवृत्ति

सभी िर्गुण स न क्तिया स कवल अपन गुण परम अनुभूत को सप्त शला स अभि व्यक्त करन का पद्धति द्विधाया त्ना ह, त्रिकि कुट्ट जनसाधारण की विचार शैली स भिन्न ओर उलटा, विचित्र आर महत्ता समझ स न आने वाली भाषा स बात करने का भी उनका ढग होता ह । उसम एक तो अपनी असामान्यता का भी एर प्रकार से आरोपण व करत ह, साथ ही अनक अनुभव की अनन्यताधारणता का भी आभास वे देना चाहते ह । एसी लोकोत्तर अभिव्यंजना स कुल्ल पहली दुर्ज्ञात करन या कुट्ट गोरत्वधध की तरह जनसाधारण की समझ को चुनौता देने का भाव रहता ह और कहा कहा रूढ विश्वासों ओर भा यताओं को तीव्र आघात देने की प्रवृत्ति प्रधान रहती हे । माता पुत्र या भगिनी त्रन्धु क विनाह या रतिसमागम की चचा इन्सी प्रकार की वान हे । प्रो० रानडे ने अपन 'हिन्दा मिस्टिन्डम' व्याख्यानं म इसका प्रतीका मक अर्थ वैदिक भूगोल से लगाया ह । परन्तु जैसे ज्ञानेश्वर ना एक कूट' पद हे

ऐसा ने । माय कसा हा योगी ।

जे ठायीं जमला तो ठाय भोगी ॥ दुवपद ॥

माग कुमारी वाप ब्रह्मचारी ।

एकविस पुत्र झाल उदरां ॥ ऐसा ने० ॥ १ ॥

जाचार माटोनी झालामे अष्ट ।

मावशीसा जेण लाविला पाठ ॥ ऐसा ने० ॥ २ ॥

जाणिक याच नवल सागू मी काथी ।

वह्णिण भोगिली एरुचि ठायी ॥ एसा ने० ॥ ३ ॥

पितयाचा अश वडनां आला ।

मातेसि जेण उपभोग कला ॥ एमा ग० ॥ ४ ॥

ज्ञानत्रेण म्हणे अनुभयी जाणे ।

अनुभवावाचुनि काहीच नेणें ॥ एमा ग० ॥ ५ ॥

इसी प्रकार के माता पुत्र सम्बन्ध का एक अंश है, जो कि 'आध्यात्म पर अभंग' में १३^{वाँ} दिया गया है ।

पति जन्मला माझ उदरा । मी जाल तयाची नाचरी ॥ १ ॥

पतिव्रता धर्म पाहा वो माझा । सर्वा परि पति भोगिजे योजा ।

निर्गुण पति आवढे मज । आधीं माय पाठीं जालिये भाज ॥ २ ॥

मी पतिव्रता शिरोमणी । जानटपो गिरजनी काडा करी ॥ ३ ॥

और १५वाँ अंश है

मज स्वप्ना लेवतिला शृङ्गारु ।

माझ उदरीं जन्मला अतारु ॥ २ ॥

जागी सुती ना मी निदसुरी ।

चोली सुदली तोडूनी गळसरी ॥ २० ॥

लक्षण म्हणें कां सुलक्षण म्हणे ।

येक उदराचीं आम्ही दोघे जण ॥ २ ॥

सोईरिऊ पडिपाड समसाटी ।

मी वो त्रैसल तयाचे पाठीं ॥ ३ ॥

निकट आहेव पण ।

कैवल्या आधा तेलकाकण ॥ ४ ॥

निवृत्तिदास तेथें नाहीं ।

लज्जसुहूर्त वहुला ठाई ॥ ५ ॥

ज्ञानदेव के नाम पर प्रचलित यह अगला कूटपद हिन्दी सन्तों में भी कुछ अलग ढंग से मिल जाता है । कबीर की उलटजासियां में इसका समानार्थक पद मिलेगा । वह दूसरा कूट^२ पद है

१ ज्ञानेश्वर अभङ्ग गाथा, पृष्ठ १, ५, ७

२ अनेक कविज्ञत पद संग्रह, पृष्ठ ४

इस प्रकार से असम्भाव्य को आध्यात्मिक अनुभूति द्वारा सम्भाव्य सहज यताने का चमत्कार प्राधान्य इन पदों में है। एकनाथ के ४१ और ६० सख्या के पद भी ऐसे ही दृष्टिकूट हैं। वे पद इस प्रकार के हैं

रे कानोजा । साग पा याच नाज ।

त्याचा वसता कोण ठाव ॥ श्रुवपद ॥

कृष्णा । एक पाखरू जाह । ते मुख त्रिण चारा खायं ॥

त्याला डोळे नाहा परि ते उडे । ते वाचे विण बोलता हे ॥ १ ॥

तया पाख नाहा परि त उडे । त्यासि हिंडता त्रिभुवन थोड ।

त्याच नखी आकाश बुडे । तें सवेचि पाहे चहुंकडे ॥ २ ॥

त्यासि मायबाप दोनीं नाही । त्याचा उपज कोणे ठायीं ।

त एका एरुपण पाही । असे जनार्दनाचे पायीं' ॥ ३ ॥

और दूसरे की टेक हं सद्गुरुराया । सुनो

देव पुज गला देऊळ उडाले परेस सद्गुरुराया रे ।

चिचेच्या पानावर दूळ रचलें आधि कळम भग पाया रे ।

दोहीं तोडी हरिणी पाण्यावर आली सुखा विण पाणी प्याली रे ।

आधळवानं देखिली, बहिरे वानें ऐकिला, पागळयाने लागुपाठ केली रे ।

पावसा नाही सागड मृगजळ डोहीं वाहनेचा पुत्र पाहला रे ।

एका जनार्दनी एरुपणं विनयी अखण्ड रामनाम बोला रे ।'

ज्ञानेश्वर का एरु कूट पद इस प्रकार का है

देउळा आधां कळसु वाईला । पाहोनि गेला आपुलें दृष्टी । १ ।

विपरीत गे माये देखियेलं । कासवीच दूध दोहिलें ॥ ध्रु० ॥

आयीं पुत्र पाई वाहन व्याली । लेण लेउनि ठेली साडे पय रे । २ ।

नाप रखुमादेवीबरु विपरीत सुपरीत जाणे । सन्त तिये खुणे सतोपले । ३ ।

(ज्ञानेश्वरमहाराजाच्या अभंगाची गाथा, प्रष्ट-१५७)

इन सभी पदों में असम्भव, सृष्टि विधान प्रतिकूल, नियतिकृतनियम रहित जो सामान्य बातें पायी जाती हैं, वे सन्तों में यों हैं जननी से सम्भोग, कुमारी माता, ब्रह्मचारी बाप, मौसी से ब्याह, बहिन से रति, पति का उदर से जन्म, सहोदर प्रियतम प्रेयसी, धीरान गाँव में बस्ती, हाथ झूटे हुए घड़े

वनानेवाले कुम्हार, वध्या को पुत्र, अत्र को माग सूक्ष्मा, त्रिना उदक का तालात्र, राई जराबर पछी का त्रिभुवन म पर फलाना, सान सागरा को उस पछी द्वारा चाच म उग लेना, त्रिना चाच क त्राना, त्रिना माँ चाप क चमना, बिना पाखों के उड़ना, हमली क पत्ते पर देवालय की रचना, पहले शिखर बाद में नींव की रचना, मुख के त्रिना पानी पीना, लंगड़े का दौड़ना, मृगजल सरोवर म तरना आदि आदि। इन सब का आध्यात्मिक अर्थ तो पाना कठिन है, परन्तु यह सब नकारात्मक भाषा अनिर्वचनीय को शब्दों में बाँधने का एक प्रयास मात्र है। जो अनुभव इतिव्यातीत है, उसे इसी प्रकार की नकारात्मक प्रतीक योजना कुछ अज्ञ तत्क रूपायत्त कर सकती है।

इस प्रकार की लोकोत्तर अभि यजना का एक मा घम सुररियोँ, दकोसले, कहान्तों जैसे ग्रामगीतों के प्रकार म रहा है। एकनाथ ने अपनी कई रचनाओं में ऐसी कइ चीजाँ का प्रयोग किया है, जो पढ़ने म सहसा ग्राम गीतात्मक लगती है। उदाहरणार्थ—मदिदा को जीवन अर्पित करने वाले 'वाध्या' पर एक पद द्बिद्ये

अह वाधा सोह वाधा प्रेम नगारा तारी।

सावध होउनि भजनी लागी देव करा केवारी ॥ १ ॥

मलहारीची वारी। माध्या मलहारीची तारी ॥ ध्रुपद ॥

इच्छा सुरळीस पाहूँ नका तुम्हा पडाल नरकद्वारां।

बोध बुधली जान दिवटी उजळा महाद्वारां ॥ २ ॥

आःमनिवेदन रोडगा निवतिल हारोहारी।

एका जनार्तना धन्य खडराव त्यावरि कुचा वारी ॥ ३ ॥

और एक सपेरे का मत्र है—'साप चावला साप। अगागागा अत्रयादा अरेरे साप चावला साप।' स्वरूपमदिर म जब म अकली थी, तत्र माया के साँक्ष झुटपुटे म अविद्या क त्रिल म स लोभ मोह का दो पट्टियों का भुजग एकदम बाहर आया और उसने करानुलि को डग मारा। आशालहरियाँ से देह तप गयी, कडुवा विषय नीम मीठा लगने लगा और भजन गुड मीठा होने पर भी कडुवा जान पड़ा। दरिद्रता का झहूँ (गदा) आया और असत्यरक्त की उलटियाँ हुईं। कामिनी काम का चित्र आँखों में चढ़ा, स्तुति निन्दा के दोँत काले हुए। अब सद्गुरु सपेरे को बुलाओ।

‘बाध वराग्याच पाजिले पाणी । विप्रकाजन घातल नयनां ॥
अभागस्वरूपाची लाविली त्रिभूता । उतरला सर्प निवारिली भ्राती ।
एका जनार्दनीं जालिसे प्रचीती चां ॥’

परुनाथ के ‘भारुड’ एसे लोकगीत शैली पर लिखे अजन गीता का एक ‘कवाड’ है। ‘भारुड’ का सीधा अर्थ यही ‘कवाड’ शब्द व्यक्त करता है। इन ‘भारुडों’ में वासुदेव, बालम-ताप, सरोदा यानी पिगला, भद्रिध्व अथवा शत्रुन कहनेवाला ‘कुडमुञ्जा जाशा’, बाबा, गांधळी, कोह्लाटी, डाबारी, माळी, जाडग, खलिया, फकार, जोगा, सपके रूपा म नाथ प्रकट होते हैं। स्त्रीरूपा म महारिण, कजाराण (नजरनी), जगझाडा, कोह्लाटीण, सौरी, टन्डी, मुरळी, हुदडी आदि के वशा म आर भाषाआ म नाम बोलते हैं। देवी सम्पत्नी कई पद हे उनका भवांग का ‘सुगा’ बनकर वे ‘गांधळ’ करते हैं। ‘शेडगा’ चन्त ट, ‘जोगवा’ मोगन ह, ‘फुलोरा’ सजाते हैं। पागारकर क शब्द म इन ‘भारुडों’ म अले सुर, पापी पुण्यव त, ज्ञानी अज्ञानी राग लागों में सर्वात्मभाव मे चलनवाला महापुरुष दिवार्ह देता है। क्रिमी भी आश्रम, जाति, व्रत, पैशा, वश, स्वभांग का अभिप्राय या विर-कार जरा भी नहीं है। सत्तात्मभाव से सब म समरम गाव दस अजप्रखाने म मिलने।—(पृष्ठ-४२८)। तुलजापुर की देवी के सुरय टन्दार ‘गोधळी’ है। वे क्षाक्ष, सम्बल और तुणतुण एफ्तारी पर गाते हैं। एक उनका नायक होता है उसरा स्वर मे साथ देता है। साथ क दो जा घाद्य बजाते हैं। उनके साथ ‘त्रिपट’ (मशालची) भी होते हैं। पागारकर ने आदिमाया पर एक आजस्त्री ‘भारुड’ अपने इतिहास म पृष्ठ ४३६ से ४३९ तक दिया है, जिसकी प्रथम पक्ति है ‘नमो निर्गुण तिराकार । मूल आदिमाया त साकार ॥’ इसी तरह का एक बड़ा ‘गोधळ’ मुझे पन्सग्रह म मिला, उसके अंश उद्धृत कर रहा हूँ। पद ८४ वे म

जय जगदम्बे । पूर्ण कदम्बे जगविदबोधे । वेह तुला अर्पिला ।

तुज म्यां फुलवरा अपिला ॥ ध्रुवपद ॥

माझें धरीं पाहुणा भैरव येउनी बेसला हो ।

त्रिगुणाचा त्रिशूल घेउनी प्रपच विस्तारिला हो ।

जोगया बोलाऊन पत्र पुजून भरड म्या घातिला हो ॥

चाल ॥ एसा बदावज, सामिली जज, झाली निफज ।

तोड ॥ सुग्याचा लेग नाहा लागला । तुज स्या फुलवरा बाधिला ॥ ४ ॥

सुग्याचाची डाक भरोता मग्नाइ आलविळा हो ।

त्रिगुणाची नियम करुनी यापर पैमयिला हो ।

वृष दीप नमद्य अर्पुनी पचारती कली हो ।

चाल ॥ तिन जाटिल, उहु जाचिल ।

तोड ॥ मग स्या लोटुना दिरह तिला । तुज स्या फुलवरा बाधिला ॥ ५ ॥

पेस नवन नल अनन्त नवम उहु फेडले हो ।

परी त फज कष्ट झाल गळा यउनी शपठी पडल हो ।

चाल ॥ झाले धिटेवरी उदास, धरिली कास, ।

तोड ॥ पटरा पाहुन जीव माझा हर्षला । तुज स्या फुलवरा बाधिला ॥ ६ ॥

वकुठाहुन निधान त्याचे अमली जे प्रियकर हो ।

त्याची गाठ पडला त्याण मग निधला अभय कर हो ।

चाल ॥ परात्पर सोयरा, पुढलीक वरा, दिधला थारा ।

तोड ॥ तेरां मज उडतां हात दिधला । तुज स्या फुलवरा बाधिला ॥ ७ ॥

डोळा घालुनी अजन देउनी मग मी गेल राउळा हो ।

वीटेवरी जगदम्बा एकाएकी नयना देखिला हो ।

मनोभावे वरदळ वृत्ती देखानी खुटली हो ॥

चाल ॥ एका जनार्दनीं भली, द्वैन हारपली, एक सचली ।

तोड ॥ जन्ममरण पट फाटला । तुज स्या फुलवरा बाधला ॥ ८ ॥

और एक पद 'कोलाटीण' नाम की पुश्चली का है

कोलाटीण झाल्ये वाई । मां कोलाटीण झाल्ये ।

वेळुवेगळ वाई । मी कोलाटीण झाल्ये ॥ ध्रुवपद ॥

अनादि निर्गुण पूर्ण परात्पर अभेद नमियेला ।

काया वाचा मने शरण गेल्ये मी त्याला ।

मुळजा सग्नन्ध ठाव तेणें मजला दाखविला ।

ज्ञान अजन घालुनी प्रवृत्ति मार्ग खुटवीला ॥ कोलाटीण० ॥ ९ ॥

प्रवृत्तीच वस्त्र फेडून, सुखी सुखी रीजव्यें ।
 परास्पर परपुरुष पाहुन, त्यासी मी गेल्यें ।
 अग सगती करुनी त्याचे सुख म्या हरीवीलें ।

अजरामृत म्या सेवीलें ॥ कोलाटीण० ॥ २ ॥

आशा मनसा तृष्णा ह्या तीही मेळवित्या राडा ।
 भाव चोवटा करुनी तथ लाविला हाडा ।
 करुन उलट प्राणाचा क्रोध तो मारीला मंडा ।

मग तो हकार मॅगा त्यानीं या भुलवीलें सोंगा ॥कोलाटीण०॥ ३ ॥

पायें सासुनी मागें मारिलीस उफराटी उडी ।

भ्रांती लुगडें फिटोनि गेलें काया झाली उघडी ॥

दुरोनी भाणू भव मिळूनी येथें माढीलीस फुगडी ।

झाली द्वैतपणाची जीवडी ॥कोलाटीण०॥ ४ ॥

परद्वार म्या केलें जन्म सार्यक झालें ।

पचवीस दाहुले हार्तीं म्या धरुनी उठविले ॥

आतरग्रहसावलींत येउनी निश्चळ वसलें ।

एका जनार्दनीं एकीं एकपण मुरलें ॥ कोलाटीण० ॥ ५ ॥

एकनाथ का एक भूत पर भी कूट पद है, जो इस प्रकार से है

धोंगडं माझें बोलणें । कानोबा ! ॥ भ्रुवपद ॥

वाकडा म्हणे कृष्णाच्या त्रापा, मी येक देखिलें भूत रे ।

त्याचें बीज पहिलें जळोनि गेलें, शेषित राहिले किंचित रे ॥

वेहे धीण छळतो तेथेंच पीडितो त्या ठाय असे मळमूत्र रे ।

तेणें जिकले कोणकोणातें त्यासी जिकणार कोणता रे ॥ धों० ॥ १ ॥

जुनाट जोगडा काळाचा काकडा डोंगरी राहतो भोळा रे ।

झडपीळा हावे नागवाची वावे पाठी लागला भिन्न भौडा रे ॥

कर्वळी सोपा उघडुनी क्षोपा पाहुनी भुलले तोंडा रे ।

जग आंधारी महाभेसुरी मायावी याचा चालला लोंढा रे ॥धों०॥२॥

कझौळ हाबाचा बाप चाड्याचा अखड घडतो मडकी रे ।

त्यासीं येक बहु संचार झाला हिमालया चे खडकीं रे ।

बहु बैन्याची नवरी पाहुन, जिवात भरली धडकी रे ।
 कुणी येक वेळीं पाठां लागली, भेड्याविले कडकी रे ॥ धा० ॥ ३ ॥
 नगाची खादी, नगाची वडी, अति हाडाचा टगा रे ।
 त्यासी येक बहुत सचार झाला, येउनी जडला आगा रे ॥
 सुता आगाचा परा नगीचा, चीरी फेडतो फांगा रे ।
 त्यासी येक पुढवृत्त भेटला, डागाना मोडत्या टागा रे ॥ धा० ॥ ४ ॥
 गगा मादारी सागला वरी, रमला तपोवर्गा रे ।
 त्यासी येक पुत्र जर्ज जन्मला त्यान कले अत्रा परव रे ॥
 तोचा साची वेदानारायण त्याच प्रालण उरये रे ।
 कुरगणीच पाडस पुत्रिले मीरजाल अयाभ्यापुरा रे ॥ धा० ॥ ५ ॥
 डोकियाचे जवळी व्हीज जन्मला तेंची त्याच वाहन रे ।
 गापापोरासीं येक तोंडानीं आगळा तारकाइ केली हनन रे ॥
 शेल्याआत्मज सौतीचा तनया, गुह्या हातीं त्याचे मरण रे ।
 दिवा न दारीं जोका रमला नातवड त्याच राहन रे ॥ धा० ॥ ६ ॥
 लंगोट बन्धन दुगात शेंपुट आजनी जीत काळतांडा रे ।
 रातींतन जेण शेषटीसीं चांभुन सकष्टी आणिला धोंडा रे ॥
 त्रिभुजनासी तो देव ऋषी, बाप ज्याचा चातांडी रे ।
 मोळासहस्र नारी भोगन ब्रह्मचारी ह्यणनीसी लडा रे ॥ धा० ॥ ७ ॥
 वाकडा यान आणा घातला जाणा उकलील वार कुळागत रे ।
 आठापदाची अष्टपदी गाईली तो एकामी अद्भुत रे ॥
 पदापदाचा अर्थ करीतो तो येऊ असे बहुभुत रे ।
 एका जनार्दना विनवीतसे भूत नह्णे कानोंवाच सूत रे ॥ धा० ॥ ८ ॥

निरजन स्वामी (जिदके विषय में कुछ पता नहीं चलता) का पुरु
 'गोधली' इसी प्रकार का अर्धवसित रूपक है । उसमें वह कहते हैं 'देहनगर
 अष्टपुरी में पुरजन राज्य करता है । बुद्धि उसकी गुणवती सुदरी स्त्री थी ।
 अहंकार प्रधान था । दुष्टराशि और दुर्जन । राजा प्रधान के हाथों खेल गया
 तो उसने क्या खेल शुरू किया, रानी और राजा के बीच में विषमता पड
 गयी । आगे जो होनी हो । राजा बोले 'आइये प्रधानजी, विषय वन में चलें ।
 वहां पराई अगना भोगें । मन पवन नाम के घोड़े पर सकल्प का साज सजाकर

राजा शिकार पर चले । इन्द्रिय दल ने हाका किया । आगे जो होनी हो । फिर उस पुरजन राय ने आत्मराज्य क्या छाड़ा । नेकार जीउपन जोड़ लिया । पाच वन पार किये । विषय के वन म पहुँचा । वहा वासना की दूरी था । छ चोर्ता ने वहा उसे पकड़ लिया । 'ले ले ले' कहनेवाली राक्षसिया वहा था । द्वयभेद के वनचर ये' इत्यादि इत्यादि ।

एकनाथ का एक और पद हे

हुडरा निघाली ससारा । बारीक माझा जुना ॥ ध्रुवपद ॥

दारची गोदन का तोटाना । मजटा रहाट करुन का घाना ।

माझे रहाटाकडे का पहाना ॥ १ ॥

तुमचा बेल का माराना । मजला तात करुन का घाना ॥

माझ्या ताताकडे का पहाना ॥ २ ॥

तुमची तलवार का मोडाना । मजला चात करुन का घाना ।

माझ्या चाताकडे का पहाना ॥ ३ ॥

तुमची टाळ का मोडाना । मजला भिंगरी करुन का घाना ॥

माझ्या भिंगरीकडे का पहाना ॥ ४ ॥

तुमची वख का फेडाना । मजला पिजुन पिजुन का घाना ।

माझ्या पिंजण्याकडे का पहाना ॥ ५ ॥

पिंजुन पिजुन केला पीलु । नव इन्द्रिया सेलु ।

एका जनार्दना पीलु ॥ ६ ॥

(अर्थ 'हुडरी' गिरस्ती करने चली । मेरा 'बारीक पुराना ह । दरवाजे की 'गोदन' चाहे तोड़ दो । उसका मुझे रहँट जरूर बना दो । मेरे रहँट की ओर देखो ॥ १ ॥ अपना बेल चाहे मार दो । पर मुझे तात जरूर बना के दो । मेरी तात की ओर चाहे देखते रहो ॥ २ ॥ अपनी तलवार चाहे क्यों न तोड़ो । मुझे तकली जरूर बना दो । मेरी तकली की ओर देखो ॥ ३ ॥ तुम अपनी शीश्रु चाहे तोड़ दो । मुझे लट्टू बना दो । मेरे लट्टू की ओर देखते रहो ॥ ४ ॥ तुम अपने वख चाहे छोड़ दो (नगे हो जाओ) । उन्हें धुन धुनकर मुझे दे दो । मेरे धुनने की ओर देखो ॥ ५ ॥ धुनकर के पूनी बनाई । नौ इन्द्रियों का खेल है । एका जनार्दन कहते हैं ऐसी पूनी है ॥ ६ ॥)

रहा रहा एकनाय आनुनिक जगम शशील भी हो गय है। यथा—विद्या अविद्या क मवाद पद्य म जहा अपने से छोटे पति और अपन से बहुत बड़े द्वारा गाह करनेवाले पति का उल्लेख है। यह 'पद्यमग्रह' म पृष्ठ-५२ पर पद्मनाथ का ९४वा पद ह। प्रथम पक्ति 'हिणत्र वित्रर माजगी। दोषी गडणी। सुरदु प बोलती। हितगुज गाता' ॥ नुत्रपत् ॥

इस प्रकार स नामदेव, जानेश्वर, एकनाय म ही नहा, उनकी परम्परा क अन्य कवियों म भी कूट पद रहन का, लोकोत्तर अभिव्यञ्जना करने का शैली बहुतायत से पायी जाती ह।

अध्याय ७

मराठी निर्गुण कवियों का रहस्यवाद और उसका प्रभाव

शू य शोधिले नाही जणे । काय विवरण केलें तें ।

अज्ञानपण फुगणें । गाढव जीणें पशूचे ॥ १ ॥

वर्णाकृति शून्याचार । हा नाही ज्या विचार ।

नघडे नघडे साक्षात्कार । जाण सर्वथा तथा नरा ॥ २ ॥

आधीं शून्याची शोधणी केली । मग सद्बस्तु प्राप्त झाली ।

अमृतबेलाची बोली । बोलतां नये ॥ ३ ॥

आधीं शून्य तें शुभ्रवर्ण । मध्ये श्वेत रचिलें जाण ।

अर्ध शून्य तें ताम्रवर्ण । प्रत्यक्ष जाण दिसतसे ॥ ४ ॥

महाशून्याचा वर्ण निळा । अयक्त तेजाचा ओतिला गोळा ।

प्रासुनी ठेला भूगोला । योगी डोळा पाहती ॥ ५ ॥

ऐसे शून्याचें नाही ज्ञान । तववरी अवघेचि अज्ञान ।

जनी अवघा जनार्दन । अज्ञान सज्ञान काय बोलू ॥ ६ ॥

ब्रह्म ज्ञानाची किष्की । सांगितली एकेच बोली ।

निवृत्तिराजे बोलविली बोली । तचि बोली बोलिलीं ॥ ७ ॥

(ज्ञानेश्वर योगपर अभंग, १४^१)

(अर्थ जिसने शून्य नहीं शोधा है, वह क्या विवरण करेगा, उसका फूलना (अहकार) अज्ञान से भरा है । उसका जीवन गधे जैसे (भारवाही) पशु का जीवन है ॥ १ ॥ वर्णाकृति शून्याचार, यह जिनका विचार नहीं है, उन्हें साक्षात्कार कभी नहीं हो सकता ॥ २ ॥ पहले शून्य का शोधन किया । बाद में सद्बस्तु प्राप्त हुई । अमृत बेल की बोली नहीं बोलनी चाहिए ॥ ३ ॥ पहले शून्य शुभ्र वर्ण होता है, वह बीच में सफेद रचित होता है । आधा

शून्य ताम्रवर्ण होता है। यह प्रत्यक्ष दिग्गाह देता है ॥ ४ ॥ महाशून्य का वर्ण नीला है। माना अव्यक्त तेज का कोई गोला ही ढाला गया हो। वह समस्त भूगोल को ग्रसकर सामने खड़ा है, योगी उसे आँखों से देखते हैं ॥५॥ ऐसे शून्य का ज्ञान जब तक नहीं है, तब तक सब कुछ अज्ञान है। उनमें सब कुछ जनार्दन ही है। उसमें अज्ञान सजान क्या बताऊँ ॥ ६ ॥ तब ज्ञान की कुजी है। वह एक ही शब्द में मने कह दी। निवृत्तिराज न मुझसे बुलनाया। वही मैं तोला ॥ ७ ॥)

मराठी में रहस्यवाद को गृहगुजन और शून्यशोधन भी कहते हैं। ज्ञानेश्वर तक यह रहस्यवाद कसे आया, यह दक्षिण भारत की अन्य भाषाओं के प्राचीन साहित्य से जाना जा सकता है। दक्षिण की पाँच भाषाओं में तमिल सबसे पुरानी और मलयालम सबसे आधुनिक है। क्रम से तमिल के बाद कन्नड, तेलुगु, मराठी और अन्त में मलयालम आती है। श्रीनिवास अय्यर ने ईस्वी ५०० से १५०० के मध्यकालीन तमिल साहित्य पर कहा है 'यह काल हिन्दू सस्कृति के पुनरुदय का काल था। आर्यों के ब्राह्मणधर्म का इस युग पर बड़ा प्रभाव है। ब्राह्मणधर्म का जोड़ा और जैनों से झगडा हुआ। शिव या विष्णुपथी लोगों ने जोड़-जैनों को तमिलनाडु में निष्कासित किया। उस समय का वास्तु अभी भी विस्मय का विषय है। वे विमान और गोपुर इसी युग में बनाये गये। नाय मार नामक ६३ शैवपथी उस समय देश में धूमते थे और उनके गीतों के संग्रह का नाम 'तेवारम' है। 'तेवारम' में 'नलायिर दिव्यप्रबन्धम्' नामक वैष्णव मंत्रों के संग्रह से पद संख्या तिगुनी है। शंकर, रामानुज इसी काल में पैदा हुए। कम्बन की रामायण भी इसी युग में लिखी गयी।' तमिल शैव सन्तों में रहस्यवादी प्रवृत्ति की चर्चा पूर्व विवेचन में स्थान स्थान पर हुई ही है। वह प्रभाव छनकर अन्य भाषाओं में भी आया।

तेलुगु भाषा में निर्गुण सत्कान्य प्राय नहीं के बराबर है, फिर भी वह युग लोक भाषाओं में रचना का युग था। पंडिताऊ सस्कृत से सब ऊब गये थे। आध्र में भी यही हुआ। डाक्टर जी० वी० सीतापति ने 'तेलुगु भाषा

आर साहित्य' नामक परिचय लेख' में कहा है कि 'पालकुरिकि सोमनाथ (१२८० से १२३०) कवि ने लोकसाहित्य की नाव डाली थी। ये कठोर शैव थे। इनका शैव मत वीर शैव था। इसी का इन्होंने प्रचार किया। लोकभाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। इनका 'जसजपुराण' और 'पण्डिताराध्यचरित' द्विपदी उद्गम सरल भाषा में रच गये। जैसा यह वीर शैव समकालीन ब्राह्मण धर्म के प्रति विप्लवकारी था, वैसी ही उसकी सरल रचनापद्धति, साहित्यिक क्षेत्र में संस्कृत छंदोपद्धति तथा संस्कृत शब्दावली के विरुद्ध विप्लवकारा मानी जाती है।' श्रीनाथ (१३७० से १४४०) संस्कृत और तेलुगु के प्रकाण्ड पण्डित थे। शैवमतावलम्बी होने से आपने शैवपुराणों का भी प्रचुर मात्रा में अनुवाद किया। इसी युग में शतक साहित्य की रचना आरम्भ हुई। इन शतकों में 'सुमतिशतकम्' और 'वेमनशतकम्' बहुत लोकप्रिय हैं।

प्रो० द० रा० बेन्द्रे ने कहा है कि 'आरहवा शती कन्नड साहित्य और सामाजिक इतिहास में बड़ी क्रान्तिकारी है। दक्षिण कर्नाटक में रामानुज अपना पथ स्थापित करने का यत्न कर रहे थे, तब उत्तर में हेदरावाद के कल्याण प्रान्त में कलचूर्य वंश के त्रिज्जल राजा के राज्यकाल में बसवश्वर, अल्लमप्रभु, सिद्धराम, महादेवी, चन्नयसव इत्यादि वीरशैव सन्तों ने हर चीज में बड़ी क्रान्ति की। महाराष्ट्र के वारकरी और रामदासी पथ की भाँति वीरशैव मत भी अभी तक अज्ञात चल रहा है। आध्यात्मिकता में वीर-शैव साहित्य की तुलना महाराष्ट्र के सन्त साहित्य से होगी। इन सन्तों के साहित्य से कर्नाटकी समाज की रचना ही बदल गयी।'।

उत्तरकालीन कर्नाटक सन्तों के यानी हरिदासों के पदों के अनुवाद बसवगुडि, बैंगलोर के 'दि इंडियन इन्स्टिट्यूट आफ कल्चर' ने हाल में प्रकाशित किये हैं। 'दि कर्नाटक मिस्टिक्स एण्ड देअर सागज़'^३ में कनकदास और पुरन्दरदास के पदों के भी अनुवाद हैं। उनसे दो यहाँ इसलिपि दे रहा हूँ कि सन्तों का कार्य सब दिशाओं में कैसे एक सा था। कवीर ने जो आगे चलकर कहा

१ बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् प्रकाशन, पृष्ठ ३।

२ मौज साप्ताहिक, १६ जून १९४८।

३ बी० टी० आचार्य, जनवरी १९५३।

'तुम कसे जामा पाँव हम तम सूट ।

हमार कम लह तुम्हार कस तप ॥'

—प्रारम्भवाक्य, पृष्ठ-१०।

ओर उम्मीदी ध्वनि रेवास कं डम पद स मिलती है

'नागर जन मेरी जाति चमार

मेरी जाति फडवटला होर डानत ।

तानारगा आमपास ।'

—प्रथ, पृष्ठ-६९७-९८

वही कत नाम ने अपन पद पद 'हुल हुल तणुगिगम' म कहा ह

'उच्च जाति, नीच जाति, पुराना कृत, उन गणना क्या है, क्या जो कृत स ग को मानते है, वे जाति और प्रण मान स्वकृत है, कमल कदम से निकलता है और फिर भी उस पद स हम भगवान का नालकृत करत ह । कथ गाय न भाव रक्त से प्रनता है, पर द्विच उमे नसे पीने लायक समझते ह । क्रमवृत्ती पशुजीव जाती है, पर नया ब्राह्मण भी उसका उपयोग नहीं करते ह । नारायण ओर त्रिनत्र क्रिम जाति से ब दापों जाये, तामा तिम जाति का है, या बुद्धि या जीवन तिम जाति न ह, यदि परमात्मा तिमि से पयत्र ह, तो जाति गी तामा तिमि क्या ह ।'

उमी प्रसार से धार्मिक टांग पर जम व्यस्य दाद या तानक ग मिलते ह, वही पुर-दरवाय के इस पद में भा है 'नरोयु वरितु' ।^२ इन तीनों की तुलना वर्णनीय है, तुकाराम स भी ऐसी ही आलोचना मिलती है ।

१ दाद (पद १३५, तरक चिनाउणी)

जात कत मद कौ मातो रे, तन धन नोग देखि गयानौ, माया रानौ रं।देका।

अपनो ही रूप नन भरि देग, कामिनी को सग भाव रे ।

प्रारम्भार त्रिषै रत मान, सरिऔ चिति न जाचे रे ॥ ८ ॥

१ वही, पृष्ठ-७ ।

२ वही, पृ०-१० ।

३ श्री स्वामी शूद्रदयालजी की वचनावली सवर १९८८ में प्रकाशित हुई, जयपुर स्टेट प्रेस पृ०-२६७ ।

२ नानक

गह विरामण कोकर लावहु, गोररि तरणु न जाई ।
 धोती टीका तै जपमाला धानु मलेच्छा खाई ॥
 अतरि पूजा, पढहि कतेवा, सजसु तुरुका भाई ।
 छोडिले पाखडा, नाम लहण जाहि नरदा ॥^१

३ पुर दरदाम

‘हा, हा, हा ! यह क्या कोलाहल है । इन लोगों का शुद्धिवादिता का ढांग तो देखो । अब तो हँसते हँसते मेरे पट में बल पड़ जायँगा, इन लोगों की अजाब बातें देखकर । वह दुष्ट, अभी नहीं आया है और जपमाला फेरता है । उसका सानगी जीवन जानना चाहते हो, बिना लाज सकोच क वह अपने पड़ोसी की सुदरी पत्नी के साथ फँसा हुआ है और वह साध्विन, वह मंदिर के द्वार पर है, उसे तो हर तरुण जानता है । वह एक ऐसी पत्नी है, जिसकी निष्ठा पति से चलित है । पर वह प्रतिदिन विशेष प्रार्थना में जाती है । और कुछ ऐसे हैं जो मद मोह मत्सर लोभ में आकट डूबे हुए हैं । मैं जब उन्हें व्यर्थ विद्वल नाम लेते हुए सुनता हूँ तो कौप कौप उठता हूँ ।’

एकनाथ का एक पद है

‘दोपी टिळा घालुनि माळा म्हणति आम्ही स त ।

पर नारीहीं देखता डोळा चचल झालें चित्त ॥’ पदसंग्रह, पृष्ठ ५३ ।

सन्तों की यह ढांग के प्रति रोषवृत्ति सभी भाषाओं और सभी कालों में पायी जाती है । व तो अतर्बाह्य पारदर्शिता, सहजता के हामी थे । उन्हें यह द्वैत, बुच्चित्तापन या दो चेहरे पसन्द नहीं थे । महाराष्ट्र के सन्तों के रहस्यवाद पर अधिकारी वाणी से लिखनेवाले प्रो० रा० द० रानडे के अनुसार ‘रामानुज का प्रभाव अपने जन्मदेश में कम हुआ, पर उत्तर भारत में बहुत जोरों से पुनरवतरित हुआ । रामानन्द रामानुज के दार्शनिक शिष्य थे, पर अपने आध्यात्मिक गुरु से लड़कर वह बनारस में आये और उनसे तीन बड़ी रहस्यवादी शाखाएँ चलीं—एक तुलसी की, दूसरी कबीर की, तीसरी नाभा की । भव के सम्प्रदाय से चैतन्य नामक बंगाली सन्त निमित्त हुए

जिन पर उनके पूर्वजता सन्त चण्डीदास और विद्यापति का भी प्रभाव पड़ा। वल्लभ के प्रभाव से गुजरात में मीरावादी और नरसा महता आग बढ़े। और इस प्रकार से एक जनवादी रहस्यवाद उपजा, जो कि जनभाषा के माध्यम से अपने रहस्योपदेश सिखाता था। यह सस्कृतवाले अभिजात रहस्यवाद से भिन्न था।^१

उन्हा के शब्दांश 'नौवीं शती के तामिल शैव सन्त माणिक्य वाचगर (स्वर्णमया वाणी के व्यक्ति) में हम ईश्वर के प्रति एक स्वाभाविक भक्ति पाते हैं, जो कि अपने दाया के ज्ञान के साथ साथ ईश्वरोपलब्धि तक धीरे धीरे बढ़ती जाती है।' डा० कारपटर के शब्दांश में वह ममा अपना पहला प्रयत्न परम आनन्द, वाद को हिचन्निचाइट, निराशाए, पश्चात्ताप, लत्ता और उन सब से मुक्त होकर अन्तिम विजय व्यक्त करता है। तमिल चण्णवों में नौवा शती के नम्मल्लार का शिष्य था नाथमुनि (प्राय १००० ईस्वी)। उसने आल्वारों के ४००० पद्य संकलित किये। उसका पौत्र था यामुनाचार्य (सन १०५०)। और उन्हीं की परम्परा में हुए रामानुज (१०५० से ११३५)। राधाकृष्ण सम्प्रदाय में सन्त का बधूरूप होना और भगवान का घररूप होना भक्ति को कुछ तूषित करता है, परन्तु वीर शैव रहस्यवाद एकदम ओजस्वा और पौरुष पूर्ण है। उनमें एक ओर शुद्धाद्वैती एश्वरवाद है, और दूसरी ओर नीतिवादीयों का शुद्धिवाद। मल्लप्रभा और कृष्णा नदियों के संगमस्थल पर संगमेश्वर का पुजारी बसव १३वीं शती का सुधारक था। उसके पहले कई सिद्ध हुए, जो कि एक ओर तमिल आल्वार और दूसरी ओर हिंदी भाषा की तरह प्राचीन है। निजगुण शिवयोगी रहस्यवादी से अधिक दार्शनिक था, अखण्डेश्वर रहस्यवादी से अधिक नीतिवादी था, सर्पभूषण सबसे अधिक रहस्यवादी था। इन लिगायतों के साथ ही साथ कर्नाटक में कनकदास, पुरन्दरदास, जगन्नाथ दास, विजयदास वैष्णव सन्त हुए।^२

'मराठी रहस्यवाद' प्रकरण में प्रो० रानडे ने आगे कहा है कि 'महाराष्ट्र में रहस्यवादी द्वारा के आरम्भकर्ता थे ज्ञानदेव, जिनके पिता बनारस के श्रीपाद

१ मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ०-१५-१६।

२ वही पृ०-१७-१८।

रामानन्द के शिष्य थे। ज्ञानदेव ने रामानन्द ही से। इसी एक मूल सामान्य उत्स से एक ओर ऋषीर, तुलसी और दूसरी ओर महाराष्ट्र के सन्ता वा रहस्यवाद निकला। निवृत्तिनाथ और ज्ञानदेव गहिरीनाथ को गुरुपरम्परा से आये, यह निश्चित है। गहिरी ने गोरक्ष से और गोरक्ष ने मत्स्येन्द्र से ब्रह्मविद्या पाई। यह नाथ सम्प्रदाय था। मत्स्येन्द्रनाथ के पूर्ण पुराणतिहाम (साङ्ख्यालाजी) ह तो मत्स्येन्द्रनाथ के बाद इतिहास। नाथों ज्ञानेश्वर द्वारा महाराष्ट्र में रहस्यवाद की नाव रखी (ज्ञानदेव रचिला पाया)। इसी बीच पर रामदेव आदि न 'इक्षारत' गना। तुकाराम उसका शिखर हुआ। ज्ञानेश्वर से नामदेव, नामदेव से एकनाथ, एकनाथ से तुकाराम परम्परा व रामदास हरकलाइडस को भागि अलग रखे हैं। रामदास का सम्प्रदाय ही अलग है। वह वारकरी मत नहीं। आध्यात्मिक दृष्टि से वारकरी ही चाहे वारकरी, रहस्यसु मधुमच्छिनाका को भागि वे राय जमा करते हैं। ज्ञानेश्वर के ज्ञान, उनके समकालीन नामदेव व गारा कुम्हार ने कुछ कमी देपी और इसलिये उन्होंने उनकी कच्चा मटका कहा। प्रियाना खचर खोपान के शिष्य थे, जो निवृत्तिनाथ के शिष्य थे। एकनाथ के गुरु थे जनार्दनस्वामी, जो स्वयं दत्तात्रेय के अवतार थे। एकनाथ ज्ञानेश्वर की परम्परा से भिन्न जान पड़ते हैं। तुकाराम चैतन्य से अपनी रफूति पाते हैं। ज्ञानदेव जोदिक रहस्यवादी हैं, नामदेव जावादी युग के अग्रदूत थे। एकनाथ ऐहिक और पारमार्थिक जीवन का समन्वय करते हैं, तुकाराम का रहस्यवाद यक्तिवादी है और रामदास एक कर्मयोगी सन्त हैं। 'मस्तु जोली' के अनुसार एक व्यक्ति सन्त बनकर भी अपना मूल स्वभाव प्रताये रख सकता है। मराठी सन्ता में भी अलग अलग टाइप इसीलिए हैं।

इससे अच्छा सक्षिप्त परिचय मराठी रहस्यवाद का अद्यतन नहा मिल सकता। इन सन्तों का प्रभाव न केवल १६वीं १७वीं शती तक, पर तु आज तक भी बराबर सूक्ष्मता से मिलता है। वाद के कथियाँ पर प्रभाव का एक नमूना स्वामी समर्थ रामदास के शिष्यों में केशवस्वामी (इचका जन्म १६२८ ईस्वी में भागानगर में हुआ। गुलबर्गा में इनकी समाधि है।) का यह निर्गुण पर पद्य देखिये। यह रचना हमारे विवेक्य काल के एक शती वाद की है

आत्र नही प्रह्व नाहा तथा ब्रह्म ब्रह्मची जय्य चाणा ।
 स्तपना योग मरती माग परी न मुकता ब्रह्मपणा' ॥ सु० ॥
 सा ब्रह्म झालां म्हणों आता परी प्रज्ञ नव्हे एम कायी ।
 ब्रह्मेरीण आन न दिसे काहीं दिम तितुके ब्रह्म पायीं ।
 होय न हे एया सशयची नाहीं निश्चयशीं तची आहे ।
 भेदाभेद आता तयें केच जग आत्मास्थिति नात्ताहे ॥ आहे० ॥ १ ॥
 वर्णाश्रमधर्म पाच मानुनीया यथाविधि आचरती ।
 स्वमताचा दहा अभिमान प्रनिया पृथक पृथक वाद करती ।
 पापाटाच्या उठ होती ताडागळे भद्रचा ग्राच म्हणती ।
 आम्ही ब्रह्म नव्हे म्हणती सर्वथा तरी ब्रह्मरूपचा आहे ती ॥आहे०॥२॥
 जलची लपणा वेगळ दिसे, परी वेगळचा नाहा जाण ।
 तैम आनीमभ्यर्तों ब्रह्मची असे तेथ केचे न्यून पूर्ण ।
 कता कर्म ज अभिन्न झालें तेथें बद्ध आणि मुक्त कवण ।
 गुरुरूप कशाचा ऐक्य म्हणा तरी मुलींच नाहा भिन्नपण ॥आहे० ॥ ३ ॥

आजकल क कवियों में 'अनिल' या शोरकर या मठकर या भावे की नय रहस्यवादी का-दाबली म वही स्वर वरांतर अनुगुणित जान पडता है । अपने साहि यनिहाम क लसरे स्पण्ड को 'एकनाथ तुकाराम का काल' कहकर उसकी प्रवेशिका म ल० रा० पागारकर ने बताया कि 'इतिहास ओर साहित्य' जुड़े हुए फर्ला की भौति एकात्मक ह । इतिहास की उपज्ञा करके वाङ्मय का विचार नहा कर सकते अथवा वाङ्मय की ओर सुँदी औरों से देखकर कोई इतिहास लिखेगा तो उसकी कृति अपूर्ण रहेगी । ज्ञानेश्वर शिष्य चागदेव का म्य १३।२ का लिखा 'तत्त्वसार' ग्रंथ अभा^२ प्रकाश म आया ह । इसलिष्ट पहले चागदेव, सत्यामलनाथ, चांभाकवि, अज्ञानकवि, प्रहिरापिसा के काव्यग्रंथों का परिचय दिया गया ह । ज्ञानेश्वर शिष्य सत्यामलनाथ की शिष्यदिनकरवरी तक एक उबी योगपरम्परा महाराष्ट्र म रूढ़ हुई । दामाजीपंत, काह्लापात्रा और भानुदाम बंदर की वादशाही के समय पन्पे । जनार्दनस्वामी, एकनाथ, दासोपंत यह वाद की प्रसिद्ध कवियत्री है । मुक्तेश्वर, रमानल्लभदास,

शिवकल्याण और तुकाराम बाद में आये। पद्महवा, मोल्हवी शनादी के अन्य गौण कवि हैं रामाचनार्दन, जनी जनार्दन, चिठा रेणुमानन्दन, मोरया गोसावां, विष्णुनास नाभा, कृष्णदास सुद्वल, महालिंगदास, रगनाथ भोगरेकर, कृष्ण याज्ञवल्की और मत्तुरकरत्रीय आदि आदि। 'इन सत्र पर विवच्यकाल के सन्तों के रहस्यवाद की, भाषा और शैली की, सूत्रमय, दृष्टान्तकृत से बात कहने की पद्धति की गहरी छाया है। त्रीच से रामदास और रामदासांतर मोरोपत और लाजणी पोत्राडेकारा के युग छोड़ दें तो आधुनिक कविता में पुनः वहाँ निर्गुणोपासक सन्तों का अन्वयसित रूपक परम्परा केशवसुत के 'क्षपूक्षा', गङ्गारों का 'फुल्लनी तपेली' और 'धुवडास', त्री० की 'चाफा' और तोंत्र के 'रतल परपुम्पासी' जैसी रचनाओं में भी दिग्दर्शक बतती है। ना० ग० जोशी तो अभी भी उसी आर्तता से अभंग लिखते हैं और गुणप्रति हनुमत् दशपाड उसी तरह की अभ्यात्मपरक कविता।

ग० त्रा० सरनार ने अपन ग्रन्थ 'सन्त वाङ्मयाची सामाजिक फलश्रुति' में उपमहारूप में कहा है कि ज्ञानेश्वर के युग में जैन और लिंगायत दोनों पंथों का महाराष्ट्र के कुछ भाग में थोड़ा प्रभाव पड़ा था। परन्तु उनका बहुतेक सा साहित्य कन्नड में था, इसलिए मराठीभाषियों से उनका सीधा सम्बन्ध नहीं आया। उसकी अपेक्षा नाथ पंथ का अधिक प्रचार हुआ। इस पंथ के सिद्ध पुरुषों का दृष्टिकोण उदार और समावेशक था। महानुभाव, वारकरी, दत्त इत्यादि महाराष्ट्र के अनेक पंथों पर नाथ सम्प्रदाय की कम अधिक छाया पड़ी है। फिर भी आज जो उपलब्ध है, वह नाथपंथीय मराठी साहित्य त्रिलोक फुल्लकर और अविश्वसनीय है। इस कारण से मराठी में विचारप्रवर्तक और कलात्मक वाङ्मय विपुलता से प्रथम निर्माण करने का श्रेय तंत्रहर्षी शती के महानुभावों को है। परन्तु उस यासप्रवणता और विज्ञानवादा के कारण उनकी विचारसरणि सामान्य जन के मन में गहरी नहीं गयी। उल्टे उनकी सांप्रदायिक संकुचितता के कारण यह पंथ उत्तरोत्तर कम लोकप्रिय होता गया। चक्रधर को धारम्भ में महाराष्ट्र के प्रतिष्ठित वर्गों की सहानुभूति प्राप्त थी। भास्कर दामोदर जैसे अनेक प्रतिभासम्पन्न पण्डित उनकी मददगी में थे। परन्तु फिर भी वह जनमन को नहीं पकड़ सका।^१

ज्ञानेश्वर क ग्रंथों म अह्वयानन्द उभव, अष्टाग योग, दलितोद्धार का प्रेरणा और प्राकृत भाषा का समर्पन नायपथ का दाय ह। रुढि की अपेक्षा मानवता को, शान्प्रामाण्य की अपेक्षा अत स्फुटि को, उपचार की अपेक्षा आत्मविकास को उन्होंने महत्व दिया। व मूर्ति मजरु नहीं उने परन्तु श्रुतिश्रुत क सनाप क लिपि भक्तिपथ क रूप म राह उना दी। नायपथ की भाति वदान और काश्मीरी शैवमत क सम्कार भी ज्ञानेश्वर पर हुण ह। फिर भी उनका जावन त्रिपथक दृष्टिकोण स्वतन्त्र ह। सर्वसामान्य लोगों की शक्ति पहिचानकर उन्हीं भक्ति का प्रचार किया, परन्तु उमम भी ज्ञान की पतिष्ठा कम न हाने का। 'अमृतानुभव' (१२९) म वे कहते हैं

'अहो एक्वयाच्च मुह्य न दजे । आणि साजिरपणाचा लाभ मिळे' ॥

अथात ऐक्य का मन्धन कम न हो और साथ ही सर्व सुन्दरता का लाभ भी मिळे। यही उनकी अमेदभक्ति का आदर्श था। इसलिए अपने तत्त्व निरूपण म सगुणनिर्गुण की 'पेमाळम सागड' (पता न लगे ऐसी युति) की। उसम निर्गुण की शुद्धता ह पर रूपापन नहा है। सगुण की सहृदयता है, परन्तु शबलता नहा है। उनका भक्ति की कल्पना स्थूल और याकतिक नहा। वे ज्ञानेश्वरी (अध्याय २८, ११३३) म कहत है—

ज्ञानी ह्यत स्वसत्ति । शव रहणती शक्ति ।

आरही परमभक्ति । आपुली रहणा ॥

(ज्ञानी जिसे स्वसत्ति कहत ह, शव जिसे 'शक्ति' कहते हैं, उसी को हम 'श्रेष्ठ भक्ति' कहत ह।) उनम दार्शनिक की त्रिकपरता, योगी की निरामयता, सतों की भूतदया आर साहित्यिक की सो-दर्य दृष्टि व गुण पुरुन मिलते हैं ।^१

नामदन को पुस्तको विद्या का सस्पश नहीं था। उस कारण से उनके साहित्य म ताकिक रूचना अथवा तान्त्रिक (रीतिवाद) चाराभियों कहां नहीं मिलतीं। उलटे घोर निद्रा म से जागृत हुण आन्मिमानव की ताजगी और कुतूहल उसम दिखाइ देता ह। उनकी भूमिका स्थितप्रज्ञ तत्त्वचिंतक का नहीं ह, दीन सेवक की भी नहीं ह। माँ की गादी म निस्संकोच खेलने वाले लाइले

खालक की है। 'हँसूंगा, रुठूंगा, प्रेम से अगर की मिगम को बढ़ाऊंगा।' इम रूप म व कभी विठोवा पर गुस्सा होते हैं, कभी मचलते ह, कभी उससे मैत्री करते हे। उनके प्राजल और सवेदनक्षम मन को जावन क अथाह, सप्रपन्न, विविधप्रवाही रूप जैसे जसे लगे वसे ही उनकी रचनाओं म उतरे। भक्ति प्रेम सुख की विभिन्न छटाएँ उनम दिखाई देती ह। कल्पना क पलों पर बठकर नामदेव कभी आदर्श सृष्टि में स्वच्छव उँचे नहीं उठते, परन्तु मानव जावन की प्रत्येक लहरी के साथ नाच ऊपर तरने म व रंग जाते हैं। उमक पहल के संस्कृत साहित्य म कल्पना की रगिनी हे, उर्णना की बहार हे। नामदेव के साहित्य में आ मप्रकटीकरण की प्रेरणा ही सज से बलवान हे। सामान्य मनुष्य के जीवन की उत्कण्ठा, अनुताप, कास्थ्य, आर्तता, सशयाकुलता, विस्मय, आस्वस्य आदि भावनाएँ उनक अभगा में उमकी हे। उनकी प्रचार पद्धति भी अपूर्व थी। उन्होंने स्वल सामान्य दिशा दिखाई, पूरा रास्ता नहीं जना दिया। प्रत्येक व्यक्ति को स्वभाजानुसार कोई भी मार्ग स्वीकारन की छुट उँहाने दी। अथवा महाभारत म जेम कहा गया हे^१, वैसे आत्मश में उडने वाले पक्षियों की भौंति या पानी में सचार करने वाली मछलियों की भौंति हर साधक अपना मार्ग स्वय खोज ले ऐमी उनकी अपेक्षा थी।^२

सजम बड़ी बात जो मराठी सतां के विषय म कही जानी चाहिय, वह यह थी कि व सामान्य जन क प्रतीक थे। यानी उनमें कोई अतिमानव नहा था। पागारकर ने कहा हे कि 'हमारे सत हास्य, विनोद, विडवन भी जानते थे। एकनाथ के लीलाविनोदपरक काव्या से और उनक 'भारुड' के अजप्रखाने से यह दिखाई देता हे। उनकी स्त्रीविषयक कल्पनाएँ उदार और रसज्ञतापूर्ण थीं। अधिकतर सत गृहस्थाश्रमी थे। विषय वासना को सथम से रजकर एकनाथ ने द्रव्य के अनर्थ वताते समय उसकी उपयुक्तता भी कही हे। सत एकदेशी नहीं थे, सर्वदर्शी थे'^३

—o—o—o—

^१ शकुनात्मिवाकाशे मत्स्थानामिन् चोदक ।

पद यथा न दृश्येत तथा पुण्यकृता गति ॥ (महाभारत, १२।३।२।१९)

^२ ग० वा० सरदार स० वा० ची फलश्रुति पृ० २६ ।

^३ म० वा० चा० इतिहास प्रवेशिका पृ० २६-२७ ।

खण्ड ३

विषय सूची

- १—त्रिशोपनाएँ ।
- २—परम्परा नाय संप्रदाय, सहजयान प्रोद्ध-प्रभाव और सिद्ध साहित्य, सूफीमत ।
- ३—दार्शनिक विश्वास और मान्यताएँ अद्वैतवाद, सहज और निरजन, जीव, जगत् (माया) और परमतत्त्व की परिकल्पना ।
- ४—निर्गुण कवि कबीर, नानक, दादू, मल्लूकदास, सुन्दरदास आदि । उनकी मालिकता और परम्परानुकरण ।
- ५—निर्गुण काव्य में प्रयुक्त कुछ सामान्य प्रतीक और संकेत ।
- ६—उल्टवासियों और लोकोत्तर अभिव्यजना की प्रवृत्ति ।
- ७—हिन्दी निर्गुण कवियों का रहस्यवाद और उसका प्रभाव ।

अध्याय १

विशेषताएँ

काव्य शब्द कृधातु से बना है, जिसका अर्थ है गुणगुणाना। कृजन इत्यादि इसीसे बने हैं। काव्य का मूल रूप चाहे स्वात सुगय, अज्ञातमूल, वच्चा के प्राप्तपूर्ण अर्थहीन गान जेसा रहा हो, अब तो वह रहस्य बहुत कुछ जान है।

कविता स्वयं मानवजीवन की व्याख्या है। अतएव उसकी परिभाषा नहीं हो सकती। कविता जैसी व्यापक रस प्रक्रिया को एक विशेष परिभाषा में बाँधना महासागर के जीवन को अपने घट में भर लने के प्रयत्न से कम असाध्य नहीं। इस कारण कविता का अभिप्राय समझने के लिए पहले तो विभिन्न चिंतकों तथा कलाकारों के विविध मतों को देखना होगा और फिर उस विविधता के भीतर रमी हुई एक ही आत्मा, एक ही लय और एक ही झकार को पहचानना होगा। दर्शन के क्षेत्र में, अनैक्य में ऐक्य अथवा 'व्यक्तिव' शब्द से जो बोध होता है, वही कविता के लिए भी समझना आवश्यक है।

कीट्स कविता को 'आलोक की एक स्वप्न हीन वर्षा' (A dreamless shower of light) कहकर पुकारता है तो शेली कवि को चण्डोल (Sky lark) मान कर कविता को कल्पना की अधिष्ठात्री मान बैठे हैं। कार्लाइल उसे सगीतमय विचार कहता है, तो ररिकन 'तथ्य का आत्मा का बंधनरहित होना' (Disentanglement of the soul of fact) मान कर चला है। हेनरिक इब्सन ने तो कविता को 'क्यामत के दिन तक का लिखा हुआ आत्मा का लेखा जोखा' (Dooms day records of the soul) कहा है। हमारे यहाँ काव्य को 'रसात्मक काव्य' कहा गया है। डा० जयशंकर प्रसाद 'काव्य और कला' नामक निबन्ध में कविता को

मनुष्य मनुष्य अनुभूति कहत है, तो सुमित्रानन्दन पंत मनुष्य के परिपूर्ण
 क्षणा का योगों को ही कविता कह कर चल रहे हैं। महात्माजी के लिए तो मनुष्य
 स्वयं ही एक सर्वोपरि कविता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल की सुगमिद्ध परिभाषा
 रूढ़ि में मानव हृदय का रागात्मक समग्र ध जादूकर है चुप नहीं है। मधु
 आनाहड न कविता को जीवन समीक्षा माना है।

कविता को यदि व्यक्ति के हृदय के साम्राज्य की समस्त चराचर रूढ़ि
 का नारतम्य प्रगट वाली प्रक्रिया माना जा सके परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष
 स्पष्टतया लक्षित होगा। व्यक्ति का 'जन्म' (जगो) तथा 'अहम्' से परे का
 'पर' (नान ईगा) इनके प्रकारण के समग्र-ज म दर्शा के क्षेत्र में उपनिषद
 काल में जर्मन मार्शनिरु हगेल और फिशर तक प्रजा प्रजा ज्ञान, वद उडे
 प्रमाण प्रस्तुत किया गया है। क्या कविता इस प्रकारता, इग प्रण प्रण में
 परिध्यास सामजस्य और लय से, जिसे कि गालसव, अपन 'कला पर कुछ
 विपर विचार' (Inn of tranquility के Letters खण्ड) में पूर्णता
 के तीन मुख्यांग लय, छन्दम् और सास्य (Harmony, Rhythm and
 Proportion) के नाम से पुकारता है, वचित रह जाणी, उलटे यह तो
 उभय सामजस्य के साम्राज्य की पर्यटन सम्राज्ञी है। विक्टर ह्यूगो एक का
 एक छोटा सा वाक्य है 'कला देश काल को अतिक्रान्त करके चलती है'
 (Art transcends the domain of Space and Time), इस
 वाक्य में कविता के अन्तर्गत आने वाली व्यापक सहानुभूति के स्पष्ट दर्शन
 हो जाते हैं। मधु आनाहड के 'समीक्षा' शब्द के प्रयोग को इसी दृष्टि से
 समझना होगा।

जो कवले कलावादी है, वे इस पर एकदम कोलाहल कर उठेंगे। क्या
 कविता का भी कोई हेतु है, क्या वह भी हववलिखिनी है ? हेतुमय और
 हेतु प्राण है ? इन लोगों की दृष्टि में मानव, जीवन और ससार सभी अनन्त,
 गत्यात्मक और लक्ष्यहीन है। पर तु वैसे अन्तिम समय की दृष्टि से देखें तो
 प्रभु का प्रत्येक रज कण सहेतुक है। अतएव कविता हेतु प्राण, न होकर हेतु
 प्रधान है यह मान लेने पर, वह हेतु क्या है, यह जानना आवश्यक है।

मनुष्य चिर अज्ञ है, चिर असमाधानी। उसके प्रश्न होते हैं, उसकी
 आकांक्षा होती है, और वह निरंतर उनके समाधान के प्रयत्न में सदा

रहा करता है। वह सच्चा ज्ञान जानना चाहता है। वह चाहता है कि एक एम स्थल पर पटुच जाण कि निराशा, असमाधान, सृष्टा और सत्य शू य कुछ न रहे। यही सत्य का पिपासा मात्रवमात्र फो अन्तरात्मा म रमी हुड है। इसी अन्तिम हेतु का, साध्य का, सामजस्य दुर्गल मनुष्य क वृत्तिगत साधना से करना पडता है। मनुष्य के वृत्तिगत साधनों म सर्वप्रधान है उसरी सौन्दर्यबोध की सहज वृत्ति (इस्टिकट)। उसका समाधान यह एक स्थिर आधार योज कर लेना चाहता है। जहाँ सुंदर सत्या वेपण या सत्य सो द्या न्वेपण हं पहा कविता का उदगम, अस्त, अभाष्ट, इप्सिन, सब कुछ विद्यमान है। और वहा मगलमयता का, कल्याण ('शिवम्') का प्रश्न सम्मुख आता है। कवीन्द्र रवी द्रनाथ ने अपने 'साहित्य म सौन्दर्य बोध' नामक निबन्ध में स्पष्टतया यह प्रमाणित किया है कि जिस प्रकार सत्य सुंदर से स्वतन्त्र अपना अस्तित्व नहीं रख सकता, वैसे ही मगल (शिव) भी सत्य के ही अन्तर्गम आता है। मगल और सत्य अविच्छिन्न है। और यही 'आन द रूपममृतम्' का भेद जहाँ कवि जानने पहचानने लगता है, वहीं वह कल कलाविद् न रहकर मर्मी चिन्तक बन जाता है। कविता को केवल कला नहीं माना जा सकता। 'कला' से अधिक वह आत्माभिव्यक्ति है, वह व्यक्ति का वशाहीन आत्मप्रकटीकरण है।

'रहस्यवाद' शब्द का अभिप्राय भी समझना होगा। 'रहस्य', जो गोपनीय, अज्ञात रहे, उसे 'वाद' से आज्ञ कर सदियों ने इस शब्द पर अपना अर्थ गढ़ लिया है। अब उसका अर्थ रहस्योन्मुख, रहस्यप्रधान तथा रहस्यमयी साहित्य रचनाओं में ही सीमित रह गया है। प्राचीन काल में परमात्मा के साक्षात्कार आदि म विश्वास करने वाले ही नहीं, वरन् वैसे दिव्य अनुभूति में 'स्व' को तन्मय कर देने वाले कवि अथवा अकवि मर्मी रहस्यवादी (मिस्टिक्स) कहलाते थे। झाविन, मार्क्स और फ्रायड की वीसरी सदी म उस प्रकार का व्यक्तिनिष्ठ और असली रहस्यवाद तो कहा रहा यह आज साहित्य की भाषा के अक्षरों में ही बँधा सा रह गया है।

इस प्रकार वार्शनिका का जिस प्रकार शुद्ध रहस्यवाद है, वहा धर्म से अनुरजित सेंट अगस्टीन, एकहार्ट, चैतन्य और मीरा का भी अपना रहस्यवाद

है। आनकल मनोज्ञानिक दृष्टिकोण से रहस्यवाद और निरनुभूति क कर्णा का विभूत मन का भाग स्वप्न ही माना जाता है। पर तु उस नागनिक, वामिक या वज्रानिक दृष्टि से अत्रिक सहस्रवर्ण उसका साहित्यिक मृत्यु हांगा। रवान्द्रनाथ ने रहस्यवादी कविता का एक ओर सत्य क स्वरूप क लिय मानव स्वभाव की सांख्यिक प्रक्रिया माना है, तो दूसरी ओर उम्य वे एक अनियंत्रणी भी मान कर चलत है। डा० रामकृमार मर्मा ने 'करीर का रहस्यवाद' क प्रारम्भ म रहस्यवाद की परिभाषा दा है, जिसम जावात्मा की सृष्टि और प्रकृति क मानर रमे हुए अर्थात्क स्वरूप, अज्ञात शक्तित्व क साथ निश्छल और एकान्त मय व स्थापित करन का प्याम और उसका उत्कटना क पक्ष म प्वाकारिता का प्रयत्न अनुभूति की ओर इगित है।

रहस्यवाद की उत्पत्ति मनाज्ज्ञानिका क मतानुसार तीन मूळ वृत्तिया पर आधारित है मनुष्य की समाजान् पाने की त्रिन्तर प्याम्, मनुष्य का अज्ञात क प्रति स्वाभाविक कोतुहल आर्षण और मनुष्य क भीतर सदा जागृत रहने जाला भय। समस्त धर्मभावना की उत्पत्ति भा इसी भय की वृत्ति म कुछ विद्वाद् मानत है। पर तु रहस्यवाद का वास्तविक आरम्भ तो प्रकृतिगत विराट् तर्वा को लखकर कुतुहल से जाविष्ट हा जान वाल जादिस सामगायक जायों म ही मिल जाता है। 'रमो व स' का अर्थ और क्या है? रम्य जितना है वह 'वही' है, कविता जितनी है वह सत्र सत्याजपी, रहस्यवादा वृत्ति को हा टकर चलती है। यहा अडरहित न अपने 'मिस्टिसिज्म' नामक म य म रहस्यवाद और जादू और रहस्यवाद और भास स्वप्ना का जो नाता जोड़ा है उस साक्षात्कार के प्रश्न को कैसे छोड लिया जा सकता है। 'हृद वेहद दोना गया' तक तो त्रिठीक है, पर 'करिना देखा नूर' की प्रयत्नानुभूति क विषय में विवाद खड़ा होता है। कुछ लोगा ने ऐसे सिद्धों को त्राणी के लोक से परे, कविता और गहनसष्टि से पर माना है। यही कवि बनना मर्मा जाने का एक सीढ़ी है, एक श्रेणीमात्र मानी जाती है। रहस्यवादिना म पयोपपय इसी सत्य के ग्रहण (रिथलाइजेसन) म मजिल दर मजिल उदने क विश्वास से उत्पन्न हुए।

तो अंतिम अवस्था सासुष्य थी, अनन्त शक्ति से जीवात्मा के एकाकार सम्बन्ध प्रस्थापन की तो है ही। वहा कवि शुद्ध 'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या' को चरितार्थ करता हुआ वाणी क लोक से परे, 'सगुण निर्गुण से परे रहा हमारा

ध्यान' का प्रेरणा चेतना प्राप्त करता है। ऐसे कवि अध्यात्मवादी होत हैं। वे कवि में अतिरिक्त दार्शनिक विचारक हैं। दूसरे वे हैं जो कल्पनानिमित्त आश्रय या आधार में अपनी संपूर्ण निष्ठा और श्रद्धा आरोपित कर, 'म तो सौंदर्य के रंग रानी' की अनुभूति में लीन हो जाते हैं। गौरांग महाप्रभु चतुर्थ आकाश की प्रयामन्त्रिणा देस कर 'यह तो मेरे प्यारे रयाम का स्वरूप है' कह कर मूर्च्छित हो जाया करते हैं। वे इसी कोटि में हैं। परन्तु सारूप्य की भावना में भक्ति के भांतर का प्रकाश का स्थान जहाँ प्रेम ने ले लिया जहाँ मनुष्य के कायिक, जामनात्मक अस्तित्व ने भी अपना अमर रहस्यवाद पर डाले बिना न छोड़ा। साकारोपासना का जो पतित स्वरूप नायिका भेद के प्रयोगों में मिलना है, उसका गीत इसी वृत्ति में है। मूलतः यह गवृत्ति बहुल शुद्ध और अतिरेकमय तन्मयता ले कर चली थी। इसका जम फारस के सफेद ऊन पहनन वाला में हुआ। अन्तार, रूमी, जामी, मस्ूर, हाफिज, उमर गय्याम सब इसी परंपरा के प्रेमरहस्यवादी थे। ब्राउन महोदय ने अपने फारसी साहित्य के इतिहास के दूसरे भाग में इस काव्य धारा के प्रेम तत्त्व ज्ञान पर मार्मिक प्रकाश डालते हुए हमारे यहाँ के अद्वैत से उसकी तुलना भी की है। प्रेम रहस्यवादियों के आगे चल कर दो पथ हुए। एक तो वे जो प्रतीकात्मकता को ही लेकर चले, दूसरे वे जो सांकेतिक आधारों को ही सब कुछ समझ बैठे, वे सकेतवादी थे। अडरहिल ने आध्यात्मिक विवाह, यात्रा तथा किमिया के संकेतों पर एक स्वतंत्र अध्याय लिखकर तत्त्व तत्त्व की आलोचना की है। परन्तु कुछ समाज यह संकेतों का अवगुहन नहीं चाहते थे। वे सीधी सी बात कट कटाये ढग से कहना ही अच्छा समझते थे वे तत्त्ववादी थे। कबीर के 'नैहर में दाम लगाइ आई चुनरी लोग कहें बड़ी फुहरी' वाली बात इसी धारा का अलक्षित प्रमाण लिये हुए है। वे प्रकृति रहस्यवादी थे। आगे के युगों में बहसवर्थ या सुमित्रान बन पत इसी कोटि के कवि हैं।

इस प्रकार कविता तथा रहस्यवाद दोनों के मूल में मनुष्य की एक ही सी वृत्ति कार्यशील होती हुई पाई जाती है। लौकिक तथा अलौकिक, जड तथा चेतन, एस जगत् के दोनों पक्षों में तारतम्य प्रस्थापन की सदा का उल्लेखन मनुष्य के जी में बसी है। उसीसे चिन्ता और कविता दोनों का जन्म हुआ है। परन्तु यहाँ मनुष्य की क्रियाओं की मूलाधार मनोवैज्ञानिक सज्ञा त्रिधारा-

ज्ञान, इच्छा तथा भावना को दृष्टि से कविता और रहस्यवाद के गठबन्धन को समझना आवश्यक है।

रहस्यवाद जहाँ जानाश्रित, शुद्ध और भावपूर्ण है, वहाँ वह कविता का अभाष्ट अथवा प्रेयम् भी नहीं। दर्शन जहाँ भावुकता से अनुरजित होता है वहाँ कविता का रहस्यवाद उद्भूत होता है। इन दोनों, बुद्धि पक्ष तथा भाव पक्ष, के भीतर की इच्छा वृत्ति को मूलना उचित न होगा। कल्पना तो बुद्धि ही के अन्तर्गत आ जाती है। अतः व्यक्ति के दृष्टिकोण से रहस्यवादी कविता जहाँ इच्छा से प्रभावित भावपक्ष की मूलना लेकर ही चलती है, वहाँ समष्टि की दृष्टि से उसके बुद्धितत्त्व को भी उपचित मान कर नहीं चला जा सकता। व्यक्ति का गेयम् वहाँ समष्टि के प्रयत्न से अपना तात्पर्य जाब करता है, रहस्यवादी कविता का साफल्य उन्हीं में निहित है।

इस साह्योपस्थापूर्ण, अन्तर्विश्रामी, अन्तःप्रधान कविता के द्वारा लौकिक जड़ जगत् के बाह्यश्रित वस्तु और तथ्य को प्रधान मान कर चलने वाले विज्ञान और जड़वाद के विरुद्ध आक्रमण प्रारम्भ होता है। मार्क्स की दृष्टि से धर्म चाह अपीम ही हो, उसके बिना व्यक्ति जी नहीं सकता। पर प्रश्न केवल, धर्म का साहित्य क्षेत्र में कहाँ तक प्रवेश हो, दर्शन का कविता पर कहाँ तक बोध हो, यह है। सापेक्ष दृष्टि से इस प्रकार के प्रतिक्रियात्मक आक्रमण से लाभ और हानि दोनों ही हो सकते हैं। किन्तु, एक ही वस्तु देश काल के अन्तर से लाभ अथवा हानि बन जा सकती है। जहाँ इस प्रकार के काव्य से लोक पक्ष में चिंतनशीलता, स्वार्थ और ममत्वजनित जड़ जर्जरता पर सतोष की एक मीठी सी मुस्कराहट और शांति का आधिपत्य होगा, वहीं यह शान्ति का अतिरिक्त कहीं बौद्धों के श्रयवाद के समान देश को निराशा, अतुष्टि और दुःखवादी न बना डाले, यह डर भी सदैव बना रहेगा। तो दर्शन और काव्य, धर्म और समाज के सम्बन्धों में परस्पर पूरकता अथवा अयो याश्रितता को ही कसौटी माना जा सकता है। जहाँ तक दोनों वस्तुएँ एक दूसरे की पोषक हैं, वहाँ तक सब कुछ इष्ट है। अनिष्ट की सम्भावना तो परस्पर विद्वेष ही से होगी। पर 'मा विद्विषावहे' का पाठ, क्या कविता और क्या दर्शन, बहुत पहले पढ़ चुक है।

अब साहित्यान्तर्गत विविध वादा की दृष्टि से चर्चा की जाय। साहित्य में

रहस्यवाद के पर्याप्त रूप से व्यञ्जित माना जा सकने वाला वाद है आदर्शवाद (आइडियालिज्म) । आदर्शवाद जिस प्रकार एक रुढ़ियरमत अथवा चित्रात्मक सम्मत आदर्श को अभीष्ट मान कर 'अल्प है इष्ट अतः जनमाल', साधना ही जीवन का मोल' (पत) कह कर चलता है, उसी प्रकार वर्मा आत्मा भी अपने मनोलेख में एक आदर्श की सृष्टि अवश्य करती है । परन्तु आदर्शजानी जहाँ वास्तव जीवन से अपना आदर्श का रुहा अलग ऊँचे जा कर बठा देता है, रहस्यवादी ठीक उससे विपरीत 'वास्तव में रमी हुई वास्तविकता' को ही अपना अभीष्ट मान कर चलता है । यह सत्य अभीष्ट उस पूर्णतया 'आदर्श' बना देता है और यह शिखर ग्रहण बहुत सरलता से करता है । इसी भाव का एक गीत ईरानी सूफी जानी का है । आस्कर वाइल्ड ने इसीलिपि कला को 'आदर्श' न मान कर अवगुठनमात्र मान है ।

इस प्रकार रहस्यवादी आदर्श और यथाय के बीच में सधिकार के नाते उपस्थित होता है । इस कारण उसका वास्तव से भी पर्याप्तरूपण घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु वह 'वाद' के दायरे से विरत हुआ नहीं । रहस्यवादी का यथार्थवाद विवाद से परे आवश्यक भित्ति, माध्यम या प्रतीक के रूप में विद्यमान है । यूरोप में वास्तववाद का अतिरेक जिस प्रकार स्वभाववादी (नेचुरलिस्ट) और नग्नवादियों (न्यूडिस्ट्स) में जाकर हुआ, तथा ज़ोला, वालज़क, वादलेयर, मोपासा और कुमिन तक में जिम् वासनावाद के चिह्न स्पष्ट दिखाई देते हैं, उसी प्रकार से हम आदर्शवाद को अतिरेक वाले रहस्यवाद का मान सकते हैं । स्वभाववाद से प्रेम रहस्यवाद का मूलाधार के रूप में, इस कारण, बहुत कुछ सामीप्य रहता है, परन्तु जहाँ स्वभाववादियों के लिए वासना अन्तिम लक्ष्य है, वहाँ रहस्यवादी उसे माध्यममात्र से अधिक महत्त्व नहा देना चाहते ।

रहस्यवाद का रोमैंटिसिज्म से बहुत ही गहरा सम्बन्ध है । रहस्यवादी का मनोलेख मूर्त और अमूर्त, पूर्ण और अपूर्ण, ऐसे असंख्य कल्पना चित्रों से रंगीन और गीतात्मक हो जाया करता है । इस कारण इसे बुद्धि की प्रसर चपलता का भावना के हाथों अनुशासित होना ही कह सकते हैं । रोमैंटिसिज्म में मुख्यतः लौकिक की उपेक्षा का भाव कार्यशील था और वही रहस्यवादी

का उद्देश्य भी है, परन्तु जहाँ रोमांटिक कवि जान प्रकृति कर लौकिक का अतिरिक्त रूप में दर्शकर या बुद्धिपुरस्सर उपेक्षा करके चलता है, वहाँ रहस्यवादी कवि न कभी उपेक्षा ही करता है, न अतिरिक्त ही। वह लौकिक का अलौकिक द्वारा आपिष्ट अग्र्य दर्शना है, परन्तु उसने लौकिक को कभी मूल जाना भी नहीं मीमा। अन्त में कल्पनावाद के अतिरिक्त में प्रादुर्भूत यूरोप के वर्तमान समीक्षा क्षेत्र में तथा कला क्षेत्र में मनमाना ताण्डव मचाने वाले 'अभि यजनावाद' (एन्प्रेशनलिज्म) तथा 'विश्ववाद' (इम्प्रेशनलिज्म) का भी रहस्यवादी कविता से सम्बन्ध दर्शना उचित है। क्रोचे का अभि यजनावाद जहाँ तत्र प्राहाश्रित तथा 'आचारप्रदान मनोविज्ञान' (विहेप्रियरिज्म) के समान कवल कायिक अभिव्यक्ति का ज्ञान करता है, वहाँ तक समियाँ उस उमरा कोह सम्बन्ध नहा, पर जहाँ वह शुद्ध स्यात्ता कर के चर्चा (मोमन्म आफ प्योर इडुईशन) की चर्चा लेकर चलता है, वहाँ वह रहस्यवाद की ही वस्तु है। विज्ञान की चर्चा ता रहस्यवादी के दिवा स्वप्न वाले संकतवाप में आ ही चुकी।

रहस्यवाद और भाव्य की इस मिश्रता के विकास का इतिहास भा कम आकर्षक नहीं। अतिरिक्त वासिक सता का ताणी से इम्पना मूलारन होता है। जहाँ ज्यों मनु य विज्ञान और शास्त्रा में बुद्धि की तज गुरी से अधिक काम में लगा, ज्यों यों भाव कल्पना मिश्रित रहस्य स्वप्न के उसके गुण कम होते गये। जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है रहस्यवाद ने उसे शुद्धता, आत्मनिष्ठता, सामिक दृष्टि में प्रकृति की ओर दर्शना और संकेताश्रय प्रदानता ये सब बात विशेष रूप से दी हैं।

मेट भगस्टीन, एमार्ट आदि के इसाइ रहस्यवाद से प्रहुत पूर्व सुकरात और फलातून में यूनानी संस्कृति की मन और काया की सामजस्य भावना तथा सो दर्शोपात्मक वृत्ति मिलती है। अग्रजी कविता साहित्य में रोमांटिक युग के पुनरुत्थान काल में शाली, वर्ड्सवर्थ में ब्राउनिंग तक जहाँ रहस्यवाद की यह प्रवृत्ति स्पष्ट झलकती है, वहाँ फीट्स, ब्लेक, मॉटरलिक और इतर अत्याधुनिक पश्चिमी लेखकों में भी यह वृत्ति प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से बहुत कार्यक्षम जान पड़ती है। अग्रजी रहस्यवाद की विशेषता उसका उथलापन है। अग्रजी हृदय कभी भी विशेष रूप से रहस्यभाव प्रवण न हो सका। हाँ,

वङ्गवर्ण और शैली का प्रकृतिरहस्यवाद अत्यन्त बहुत प्रभावशाली चीज रहा।

पर इससे बहुत पहले फारस में धर्म की कट्टरता के विरुद्ध सूफिया का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था। इसका उल्लेख ऊपर आ चुका है। हाफिज, जामा और उमरखयाम के इस प्रेममूलक रहस्यवाद में बेहोशी और खुमार का प्रावाण्य है। 'हूँ शर्वत आशिनी हमा मर्दारास्त' अथवा 'पेश जा सजुक राहते रूह ए साका' वाली खयाम का स्याह्या में केवल शून्यता नहीं है। उमरका एक एक कृजा रहस्यवाद से लबालब भरा है। उर्दू कविता में लक्षणिकता इन्हीं फारसी प्रभाव से आई।

फारस की यह धारा हिंदा कविता में जायमा, कज़ीर, मीरा पर अपना प्रभाव डाल चुकी थी। कज़ीर के रहस्यवाद पर प्रकाश डालने वाले कुछ दोहे इस प्रकार हैं

पात्ररूपी साह्याँ मय घट रहा समाय ।

चित्त चक्रमक लागे नहा तात बुझि बुझि जाय ॥

'गुरु' अथवा निखिल शिख का जो परम स्वामी है वह तो सर्वव्यापी है। वह प्रत्येक के हृदय में विद्यमान है, परन्तु उसी तरह अव्यक्त रूप में, जैसे पत्थर में आग छिपी रहती है। परन्तु चित्त के पत्थर को चक्रमक के साथ जब तक घषित नहीं किया जाता तब तक चिनगारी नहीं उत्पन्न होती। इसी कारण उस अव्यक्त परम पात्रक की कभी कभी झलकमात्र तो मिल जाती है, परन्तु फिर वह कहीं अदृश्य हो जाती है। आवश्यकता है किसी गुरु रूपी चक्रमक के सयोग में आने की, जो उन छिपे हुए अश्रिकणों को स्पष्ट रूप से प्रज्वलित कर दे।

सरगुण की सेवा करूँ, निर्गुण कहा प्रमाण ।

सरगुण निर्गुण से परे, तहे हमारा ध्यान ॥

कबीर कहते हैं कि यदि परमात्मा को सगुण कह तो उसमें सेवाभाव की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार निर्गुण में बुद्धि द्वारा आकलन की (अर्थात् 'सगुण निर्गुण' दोनों उपासना पद्धतियाँ में अहभाव विद्यमान रहता है)। परन्तु कबीर का 'साई' तो 'खालिक खलिक, खलिक में खालिक, सब घर रहा समानी' जैसा हो, उसमें ऐसा 'बिलगि बिलगि बिलगाई हो' कैसे हो सकेगा। ब्रह्म तथा

नीच को एकरस एकरूप मानने वाले शुद्धाद्वैतवादी कबीर को येमा विशिष्टा द्वैत पम द न था। इमीम व हठयोगा क नाने कहन ह कि ताम भाव या मान साधना स कहा अधिक ध्यान धारणा की आवश्यकता ह निमम कि सगुण निर्गुण सपसे परं कवल सच्चिदान द उभयत ह।

सात्मरोवर वाले दाह म परमावस्था का चित्रण ह। हस म कवार मुक्तात्मा का अभिप्राय लेत व। यह दोहा कवार क उन दाहां म स ह जिनम सात्मिकता अधिक होने स मूल अर्प उतता स्पष्ट नहा होता। मरत शब्दार्थ ता र्था हे कि हमी जप कति करती ह तप सात्मरोवर का अवगाहन अतिशय सुकर हा जाता ह, और उम मुक्त अवस्था स जप कि मानरोवर म कलि अथात् 'सुरति' स्वामी (परमात्मा) क सात्र हा तप सापिया म म माता (अर्थात् क अश्रु आदि) चुन लिय जात है, अत्रा कठिन साधना स का जान मुक्ता (मुक्ति) उपलब्ध की जाती ह और फिर 'आवागमन न हाय'। इसम ध्यान देने योग्य दो बात ह—एक तो 'अत्र उद्धि अन्त न जाय' म समस्त मानवी, लौकिक गति का अन्त। अत्रात सायुज्य प्राप्ति क वाद यानि भ्रमण का कसे अ त हो जाता ह, यही इससे स्पष्ट अनित होता ह।

साधारण ज्ञान के अनुभव म तो जो मन रिक्त ह उह परिपूर्ण हाता जाता ह, और जो मन परिपूर्ण ह वह रिक्त हाता जाता ह, परन्तु चरम अनुभव का दशा म तो खाली और भरा हुआ, इस प्रकार का कोई भेद नहीं ह। सच्चे सत के लक्षणा म कबीर इस बात को दूसरे शब्दों म कहते हैं कि 'भाव और अभाव' दोनों सातु के लिए एउ से ह। कबीर अकिञ्चन ओर धनिक, मूर्ख और पंडित में भेदभाव न मानकर सपूर्ण समत्व को साथ लेकर चलत ह। उसी 'समत्व' की भावना को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि यह पचतत्व ओर वह तत्प दोनां एक मे ह। उस्तुत सत्रक भीतर रमी हुई आग्मा एक ता है। अन्तर कवल ब्राह्म हे, गात्रा का है, अवयवीय ह। और इसरु कारण यदि कबीर की बात समझनी हो तो हृदय से, आत्मा से समझ, न कि ताकिक पद्धति से।

बाद म कबीर त्रियोग पक्ष की महत्ता उताते हुए कहते हे कि चूकि मनुआ 'दुख में ही सुभिरन' करता है इस कारण विरह को छोटा या नोकर

समझने की आवश्यकता नहा। ऐसा समझना भूल है। विरह तो नरात्रिप ह, सर्वगत्ताशाली, सर्वान्तर्यामी। जिसके हृदय में विरह संचारित नहा हाता, वह हृदय क्या है, श्मशान है। इरास विरोधाभास कितने मज ना ह ! जो विरह से 'याकुल' ह वह हृदय श्मशान सा होगा, या जो नहा है वह ? पर तु यहाँ श्मशान में उनका अभिप्राय श्रयता स है। जिस अंतर में विरह नहीं वह तो रिक्तमात्र है, चाहे उसमें कृणिक सुखा का जेसा भी भांडार क्या न भरा हो।

कबीर के कुछ दोहा के बाद मीरा के रहस्यवाद की कुछ चर्चा की जाय। मेवाड़ के मरुप्राय मानस में भक्ति की मन्दाकिनी प्रवाहिन करने वाली महारानी मीरा की कविता रचना नहीं, हृदय के स्वाभाविक उद्रेक से फूटे उद्गार है। मीरा के अनूठे गीतिकाय पर विचार करने से पूर्व उनकी व्यक्तिगत तथा तरफालीन सार्वदेशीय परिस्थितियाँ का पार्श्वपट प्रस्तुत करना आवश्यक है। मीरा महारानी या। राजस्थान का अतुल गौरव, चित्तौड़ के ऊँच ऊँच महल, अनगिनत परिचारिकाएँ उनकी सेवा में प्रस्तुत थीं। पर तु वभय और ऐश्वर्य का यह अतिरेक उनके अस्तित्व में अनुराग न उपजा कर त्रिराग का निर्माण करने में ही कारणीभूत हुआ। यह मानसिक प्रतिक्रिया भलीभाँति समझने के लिए मीरा के जीवन से सम्बन्धित उन घातों को भी जानना आवश्यक है जिन्हें कारण मीरा सम्राज्ञी न रहकर 'धरागिन' या 'भगतिन' बन गया। पति की मृत्यु के उपरांत मीरा को अपने देवर 'राणा' के हाथों अनेक प्रतारणाएँ सहनी पड़ीं। दुखिनी त्रिधवा का भक्ति-उन्मुख मन इन सय लौकिक कष्टों को सहते सहते, ननद जेठानियों के वाक्प्रहार झेलते झेलते सदैव अपने 'गिरधर गोपाल' की 'बोकी, साँवली सूरत' में ही लगा रहा। जब लौकिक पीडा का अतिरेक हो गया, तब प्रतिक्रिया रूप, मीरा के हृदय में भक्ति की धारा का आवेगपूर्ण और उरकट उद्गम होना नितांत स्वाभाविक ही था।

मीरा के आविर्भाव काल में सार्वदेशीय परिस्थिति यह थी। समस्त उत्तर भारत में भक्ति धारा का एकरस प्रभाव प्रवहमान हो रहा था। शंकराचार्य का शुद्धाद्वत ज्ञानाश्रित था, इसलिये जनसाधारण तक उसकी पहुँच न थी। उसकी प्रतिक्रिया के रूप में रामानुजाचार्य द्वारा प्रोया हुआ भक्ति का अकुर राम और कृष्ण के दो आराध्याँ में स्वतन्त्र रूप से उद्भूत हुआ। उपासना मार्ग

का इन्सा राह पर मोरा का विहल मन भी अपन 'सोंपरिया' क प्रेम स उ मन, नन्मय हो उठा। भक्ति क उय गाराप्रवात के चगगाली सगातमय काल स ऐग्या कान भायुक हृदय ग जा 'भायुर्ब भाव' की उपास ता स याग न देता। नित्य पर भीरा ता गी ही था और सो भी पमी स्त्री नित्यका मोई स्यामी, मोई आश्रय यहा जइ जीवन स शेष न था। उनका उसी भक्ति क उन्माद स रँग जाना जतिचार्य ही था।

प्रश्न यह उठता ह कि क्या भीरा स भी रहस्यवाद क दर्शन होने हे, और यति जइ भीरा स प्रियमान ह ता जह किस प्रकार स रहस्यवाद हे। प्रो० रामकुमार प्रसा ने रहस्यवाद की परिभाषा इय प्रकार की ह 'जीवात्मा' का, प्रकृति क अन्दर जो 'दिव्य गौर अलौकिक शक्ति' ह उसक साथ 'शान और निश्चल स्वप्न' जाडन की पद्युक्ति। सभी रहस्यवादा अव्यक्त, अरूप और सीमाहान गद्य क साथ निकटतम गम सम्भव जाडना चाहत ह। कवल उनका साधना पद्धतिया स अन्तर ह। भीरा की भक्ति स्वाकारोपासना तक ही न रहकर सामाज्य और सारूप्य की भी प्रार्थना ह।

सहणे चाहर राग्यो जी

चाहर रहसूँ, जाग गसासूँ, नित उठ दरमन पासूँ,
बु दावन की दुन गलिन स गानिन्द लाला गानूँ।
चाहरा स दरसन पाऊँ, सुभिरा पाऊँ स्वरची,
भाज नगलि चागीरी पाऊँ, ताना वाताँ स्वरसी।
ऊँचे ऊँच सहल वनाऊँ, त्रिच त्रिच गाँवुँ वारा,
सोंपरिया क दरमन पाऊँ, पहिन कुसुमा नारी।
मारा क पशु गहिर गँभीरा, हृदय रहो जी धीरा,
आश रात प्रभु दरमन दीन्ह जशुनाजी क तीरा ॥

इसी प्रकार कत्र साक्षात्कार नहीं, अपितु 'मानक्रीडा' जैसे 'भयाम सहासु पडा डोले हो, स्यारी औरगुरी नाह खुअत, ताकी पहुँचा पकरे हो' गदि प्रमग और इतना सहज सामीप्य कि 'माई मे गोवि व ली हॉ मोल' और उसस भी विशेषता यह कि 'नहा तराजू तोल' आदि बात रहस्यवादी के उक्त आन द की चरम स्थिति की द्योतक ह।

कवीर के समान भाव्यात्मिक विज्ञान के उल्लेख भी मीरा में अनेक स्थलों पर लक्षित हैं। जहाँ वह कहती है कि 'लोक लाज खोयी' और 'बदनामी लागे रहणे घणी मीठी जी', जहाँ उसका लौकिक राजा अलज्ज के बंधनों से परे, निर्भीक, अलौकिक और शुद्ध प्रेम जो है वह कवीर के 'सतगुरु रे रंगरेज, रंग दे मेरी चुनरी' से क्या कम है, जहाँ मीरा को 'सेज बलौनी' लगती है और 'रमया बिनु गीन न आवे' की अनुभूति होती है, जहाँ कवीर का 'पिया चलो सेज' और 'हरि मोर पाव, म हरि का बहुरिया' वाला भाव है। परन्तु मीरा के स्त्रीत्व के कारण उनकी इस प्रकार के माधुर्य भाव की उपासना कवीर से कहीं अधिक सराग है। कवीर इतने सुन्दर उल्लाहने नहीं दे पाते, जैसे मीरा।

इस प्रकार के प्रतीकवाद में माध्यम अथवा गुरु की भी बड़ी आवश्यकता होती है। कवीर ने जहाँ जगह जगह गुरु की महिमा गायी है, वहाँ मीरा ने भी 'जोगी मत जा, मत जा' की बात कही है और यह भी कहा जाता है कि मीरा नरदास को गुरु माना था। परन्तु इस प्रकार के रहस्यवाद में सबसे मर्मस्पर्शा भावस्थल वह होता है जहाँ भक्त प्रेमी की आत्मा 'असीम' में तड़पती रहती है और मार्ग प्रतीक्षा करती रहती है। मीरा विरहिन बन कर 'पाणा री पीली पड़ी' की अवस्था में जहाँ 'दिन गणतों गणतों घिस गई रे, अँगरिया री रेख' की बात कहती है और 'असुधन जल सींच सींच प्रेम बेलि बोयी' की तन्मयता प्रदर्शित करती है, वहाँ कवीर भी 'जा घट विरह न सचरै ता घट जान मलान' वाली बात कहते हैं। मीरा का वियोग पक्ष गोपी के हृदय में एक प्रत्यक्ष 'नदलाल' के प्रति लगी 'लाय' की याद दिलाता है, जब वे अनुरोध कर करके एक जाती है कि 'बसो मेरे नैनन में नदलाल'।

मीरा की भक्ति की कविता ज्ञानाश्रयी शाखा में से नहीं मानी जा सकती। ज्ञानाश्रयी निर्गुण सतों की दृष्टि में जो उपास्य अथवा अन्तिम आराध्य है वह नाना रूप में प्रदर्शित होता हुआ भक्त के हृदय को चिर आलोकित करता रहता है वहाँ आराध्य की एकरूपता पर ही आग्रह नहीं हुआ करता। जब गोस्वामी तुलसीदास ने पत्रोत्तर में मीरा को राम की महत्ता दिखाई तब मीरा ने अति सहज भाव से उसे स्वीकार कर लिया। गोस्वामी जी की तरह 'तुलसी मस्तक तब नव' नहीं कहा। मीरा के लिए वस्तुतः राम और कृष्ण में अन्तर ही

नहीं था। उनका लिंग व दोनों एक ही अत्यन्त सत्ता के दो रूप थे। इस कारण साधनों का अन्तर होने पर भी मीरा में ज्ञानाश्रयी मन्ना की भी साथ ही इकाई स्पष्ट दिखाई देती है। कबीर की तरह हठयोग आदि बातों का निरूपण मीरा ने 'तहाँ के परापर क्रिया, क्योंकि मीरा का रहस्यवाद ज्ञानाश्रित नहीं था। मीरा का मन तो इतना भोला और तल्लीन था कि उनके चिन्तन, भक्ति और कर्म के तार्किक भेद का आकलन ही नहीं हो सकता था। मीरा के रहस्यवाद में भक्ति का स्नेहार्द्र रूप ही मिलता है।

रहस्यवाद की, कबीर और मीरा के प्रथम में, यह चच्चा हिन्दी के निर्गुण सन्त काव्य की कुछ विशेषताओं की ओर हम ले जाता है। डाक्टर पानामर-दत्त उडधवाल के शब्दों में निर्गुण सन्त दर्शन का कुछ विशेषताएँ हम प्रकार से थीं

- १ एक और अनन्य ईश्वर।
- २ वह ईश्वर परम है। उसमें परे कुछ नहीं। उसे छोड़कर और कुछ नहीं।
- ३ सर्वव्यापकता।
- ४ ईश्वर, जीव और तड जगत् का एकात्मबोध। अद्वैतभाव और अद्वैतसिद्धि।
- ५ 'सहज' पर बल।
- ६ उपनिषद् आधार है।
- ७ अवतारवाद के समग्रन्ध में रामानन्द के एकेश्वरवाद और वृत्तान्तिया से मतभेद। अवतार निषेध।
- ८ मूर्तिपूजा खडन।
- ९ रहस्यवादी धर्म का आधार 'प्रेम भगति'।^१

और प्रत्येक विचारविन्दु के समर्थन में डा० वडधवाल ने सत्ता की कविता से भरभूर प्रमाण भी दिये हैं। निर्गुण पंथ की विशेषताओं में उडवाल जी ने नौ बात गिनाई हैं - १ अज्ञमय क्रोश से जान-दमय कोश तक प्रस्था वर्तन, २ मध्यमार्ग, ३ आभ्यात्मिक वातावरण, ४ गुरु पथ निर्द्वैतक,

१ निर्गुण स्कूठ नाम द्विंदा पोष्णा (ग० वडधवाल) पृष्ठ १८ से ८० और ९० से १९३।

५ नामस्मरण, ६ शब्द योग, ७ कुडलिनी चक्र, ८ परचा परम दर्शा, ९ समाजोन्नति ।

श्री परशुराम चतुर्वेदी और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने क्रमशः अपने ग्रन्था ('उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' और 'मध्ययुगीन सन्त साधना') में इस विषयों का विस्तारपूर्वक महाराष्ट्र, पंजाब तथा जगल के सन्तों के साथ साथ तुलनात्मक रूप में सोदाहरण अध्ययन प्रस्तुत किया है । परशुराम चतुर्वेदी ने सन्तों के दायिभाव और संगीत प्रेम की भी जानकारी है ।^१ डाक्टर गोविन्द त्रिगुणाचल ने 'कबीर की विचार धारा' में निर्गुण सन्त काव्य की विशेषताएँ इस प्रकार से बताई हैं— आस्तिकता, अव्यक्त शून्य शोधन, माया के विविध रूप, विरह का महत्त्व, प्रेमानुभूति, आत्मबुद्धि के लिए यौगिक यम नियमादि विधि निषेध, गपति, नादयल की उपासना, नामजप और सुमिरन, उल्टी चाल का महत्त्व, भावानिरेक और उन्मत्ता रहनी, का ताभाज के विशेष-संयोग पक्ष, ज्ञान की परमावस्था में अविचनीयता । डा० त्रिगुणाचल लिखते हैं—

(१) कबीर के रहस्यवाद को हम किसी विशेष प्रकार के रहस्यवाद की कोटि में नहीं रख सकते । उनमें जितने प्रकार के भी रहस्यवाद हो सकते हैं, सबकी सृष्टि हुई है । इसका कारण यह है कि उन हान-सत्य को सम्पूर्णता से पकड़ने की चेष्टा की थी । 'पर सो परचा' प्राप्त करने का प्रयत्न किया था ।

(२) कबीर के रहस्यवाद को दूसरी प्रसुरा विशेषता है उसकी प्रवृत्त्यात्मकता । वह ऐकान्तिक नहीं है । उसारी अडरहिल और जाचार्य क्षितिमोहन सेन का भी (हर्ट्ज़ेड पोएस ऑफ कबीर प्राफेस) में यहाँ मत है । उनकी प्रवृत्त्यात्मकता का प्रसुरा कारण यही है कि वे कोरे रहस्यवादी ही नहीं थे । वे उच्च कोटि के विचारक, गृहस्थ, सुधारक और उपदेशक भी थे । उन्होंने कहीं भी घर-बार छोड़कर वनवास लेने का उपदेश नहीं दिया है ।

(३) कबीर के सभी प्रकार के रहस्यवादों की तीव्र विशेषता प्रेम प्रधानता होना है । उनका प्रेमसम्बन्धी रहस्यवाद तो प्रेमविशिष्ट है ही, उनके अभि-यक्तिमूलक और पारिभाषिकशब्दमूलक तथा यौगिक रहस्यवादों में भी प्रेमसत्त्व को प्रमुख

^१ सन्तकाव्य (परशुराम चतुर्वेदी) पृष्ठ ५८ में ७० और १०८ से ११० ।

स्थान दिया गया है। (२) कबीर के रहस्यवाद का एक और विशेषता है उनका एकाग्रमानसता। कबीर के रहस्यवाद में विनामवाद का भी संशय निहित है। विनामवाद की यह भावना सूफियां में पाई जा सकती है। (३) जो आत्मिक सक्रियता कबीर के रहस्यवाद का एक और विशेषता है। पाश्चात्या न उन रहस्यवाद का प्रमुख तत्त्व मानते हैं (मिथिगिउम अडरलिट, पृ० २०७) ।

डा० त्रिलोकानारायण वात्सिल ने अपने ग्रन्थ सनदर्शन में 'सत्ता के साक्षात्दर्श' के विषय में विस्तार से लिखते हुए कहा है 'कबीर के अनुसार 'जगत्त का गाथना का गाथ । अनुभव गाथ तो अनुरागी है ।' नानक शान्डी और माली रचना को ब्रह्म के प्रति वास्तविक प्राप्ति स्थापित करने में साधक मानते थे । 'शब्द न स्वात्वा सत्ता नर्हा प्रीति । जमपुर जाहि दुया की रानि ॥' (प्राण सगला पृ० २४) । मलकदास कहते हैं

अदम कवित्त का जिसका कविताई करूँ,

याद करूँ उमको जिन पदा सुझे किया है।

गर्भवाम पाला जातस में नहि जाला,

तिसको म विमारूँ तो मैं किसकी अस जियौ हूँ ।

(मलकदास की जानी पृ० ३१)

जगजायन साहब शब्दमग्रह पृ० ७५ पर कहते हैं

पढ पुराण ग्रन्थ रातदिन करै कविताई सोइ ।

ज्ञान कर्म शब्द कहै कहु तबहु भक्ति न होई ॥

स तदर्थ शिवनारायण साहब के 'गुरु अन्यास' में पृ० १९ पर कहा गया है

कविता अस्तुति पूरन भाग्या ।

शिवनारायण चित से राखा ॥

और दु खहगनदाम ने कहा है 'गुहमाली' में

मोहि जम जान रहा हिय मोही ।

कहेउ कर्म किछु छाडेयु नाही ॥

एक एक भच्छर रोजि बनाना ।

सुरुखन दुख पडितन सुख पावा ॥

पलटू साहज 'साखी', साव्दी और काव्य को 'परपच' मानते हैं। रैदास की दृष्टि में कवि, कुलीन और पंडितादि में अहम-यता का उद्भय होने लगता है। अतः ये सभी त्याज्य हैं। रैदास की जानी में पृ० २६ पर कहा गया है

योथा पडित, योथी बानी ।

योथी हरि बिनु सभे कहानी ॥

सन्तकवि बुल्ला साहज के शब्दां स

का भयो शब्द के कहे बहुत करि ज्ञान दे ।

मन परतीत नहीं तो कहा जम जान दे ॥

(बुल्ला साहज की बानी पृ० २५)

इस प्रकार धनी धर्मदास (शब्दावली पृ० ९, ७३), वरिया साहज मारवाडवाले (बानी पृ० ७, ९, १२), गुलाल साहज (बानी, पृ० ८०, १३०) और सहजोपाई (बानी पृ० ६४), आदि सन्तों ने वेद, बतेव और पुस्तक ज्ञान के साथ साथ काव्य आदि की निन्दा की है। कवि असार जातों के ध्यान में व्यर्थ उलझा रहता है। तत्त्व की बात है ब्रह्म का ध्यान करना। तत्त्व को त्यागकर तत्त्वरहित पदार्थों में रमना पलटू साहज के शब्द में हीरा छोड़कर पात के लिए हाथ बढ़ाना है (पलटू साहज की बानी पृष्ठ ७९)। डा० दीक्षित अतः कहते हैं 'सारांश यह है कि सभी सन्तों का काव्यादर्श ब्रह्म का गुणगान, बाह्याचारों की आलोचना, सहज भाषा, सरल शैली, अलंकारादि विहीन, जनता में प्रचलित अतिसाधारण छंद है। इन कवियों ने काव्य के महत्त्व को वहीं तक स्वीकार किया है जहाँ तक वह ब्रह्म के स्मरण में सहायक हो सके, अथवा उसकी कोई उपयोगिता नहीं है।' (सन्त दर्शन पृ० २२७)

अध्याय २

परम्परा

नाथ संप्रदाय, सहजयान तंत्र प्रभाव और सिद्ध साहित्य सूफीमत,

हिन्दी के निर्गुण सन्त काव्य के मूल में अनेक दार्शनिक प्रभाव परम्पराना के दर्शन होते हैं। एक ओर तो वेदिक औपनिषदिक धारा है, जो उष्णव (लक्ष्मीभागवत) और यौगिक रूप से एक मकर अद्वैतज्ञान, प्रणयोपासना, जन्मांतरवाद, सप्त प्रकार की उपासना, आदिना मानती है, दूसरी ओर ब्राह्मण्य, परमसत्त्व के विषय में मौन, मन्थमार्ग, कायान्दण्डन का विरोध और गणतन्त्रा मकर साजनीनता भी पाई जाती है। निर्गुण मत पर वज्रयान सहजयान के शून्यवाद और हृदयस्थ द्वैताद्वैतविलक्षण तन्त्र का तथा नाथ संप्रदाय के योगी की रहनी, साधनापद्धति और प्रतीक संयोजना का भी प्रभाव मिलता है। तंत्रों के कुण्डलिनी जागृति, चक्रभेदन आदि प्रभावों के साथ साथ निरचन पत्र की उलटी चाल, अज्ञपानाप आदि का भी प्रभाव मिलता है। इस्लाम और सूफीमत के प्रभाव की भी छाया मारिफत, इश्क, नरीका, वहा, नूर वगैरह रूपों में पाई जाती है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि निर्गुण सन्तों का दार्शनिक मत विरवात निरे मधु समग्र करने वाले मधुकर की भाँति 'सारग्राही' मात्र था। उन्होंने कवीर के शब्दों में 'सार समग्रह सूप ज्यू, त्यागै फटक असार' अवश्य किया और साथ ही एक सच्च मुमुक्षु की भाँति नित्य और अनित्य का वस्तुविवेक भी किया। दादू के शब्दों में 'साँग पूछ पग परिहरै, अस्थन लाग धाड़।' परन्तु इन सब प्रभावा को आत्मसात् कर, पचाकर, एक अपना नया मौलिक व्यक्तित्व भी निमित्त किया जिसमें उसकी विशेषता सन्निहित है। प्रस्तुत अध्याय में उन प्रभावों में से कुछ प्रधान प्रभावों की चर्चा इस दृष्टि से प्रस्तुत की जायगी कि इन सब मतों में कुछ मूलभूत साम्य अवश्य था।

श्री पूर्णगिरि गोस्वामा १ जपन 'नाथ संप्रदाय' नामक निबन्ध में कहा था कि 'सन्त साहित्य का जोर उसमें भी विशेष रूप से निर्गुण फ़ाथ का अध्ययन तो नाथ परम्परा और पिछाती के समुचित मनन बिना अपूर्ण है। मन्त्र तो यह है कि नाथसंप्रदाय ही निर्गुणधारा की प्रवर्धिका है।' इस बात के प्रमाण में वे कहते हैं कि विहंगम मन्त्र के १००० से १२०० तरु के चार शतकों में योगियाँ या नाथों की अनेक परम्परायें चली रहीं। योगियाँ की वही विचारणा जो उनके हास्य का वाद भी उनी थी, प्रीतिरूप से निर्गुण धारा में अकुरित हुई। योगमत और निर्गुणवाद का मूल उद्गम एक ही था। वैसे तो योग का मूल शंकराचार्य के विवकमार्तण्ड में मिलता है

योगशास्त्र पठन्नाथ्य किमन्य शास्त्रविस्तरे ।

यत् स्वयं चादिनाथस्य निर्गतं वदनाशुजात् ॥

'नाथ' और 'सिद्ध' पर्यायवाची नहीं हैं। नाथों के नव नाथ और चौरासी सिद्ध भिन्न हैं 'गंगा' के पुरातत्वाक्रम में राहुल जी ने और अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ 'नाथसंप्रदाय' में डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस विषय में विस्तार से चर्चा की है। गौतम बुद्ध के जीवन काल में ही गान्धारी विद्या, आवर्तनी विद्या आदि का प्रचलन था, पर तु उनके निर्माणों के उपरांत उन विद्याओं की चमत्कारपूर्ण शक्तियों के विश्वासों पर पौराणिकता का आवरण बना। वैपुल्यवाद ने ऐसे सूत्र गढ़े, उनसे धारणियाँ बनीं। वही विकसित वैपुल्यवाद मंत्रयान, वज्रयान बना। 'मञ्जुश्री मूलकरप' से इस बात का पता लगता है। महायान या वैपुल्यवाद का विकास दक्षिण भारत में विशेष रूप से ४०० ई० के बाद हुआ। उत्तर भारत में शौर्य राजा थे। नती शती तक गुर्ता का राज्य उत्तर में रहा। श्रीपर्वत पर नागार्जुन ने अपना मन्त्रविद्या का केन्द्र स्थापित किया। समकृत के प्राचीन ग्रंथों में इस पर्वत का उल्लेख है। धायकटक में आर्यों की राजधानी आ गई थी। यहाँ एक प्रीति विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। ईसा की सातवीं शती से वज्रयान का उग्र रूप आरम्भ हुआ। त्रिहार में ७५० ई० में पालवराज राजाओं के प्रभुत्व काल में वज्रयान का विकास और हुआ।

इनकी राजधानी उदन्तपुरी थी। तिरुमशिला में इन सब विचारों का प्रचार हुआ।

नाथ सम्प्रदाय में 'गुरु' का उदा महत्त्व था। इस कारण से नाथों के अध्ययन में गुरु और गिन्य के पदा के एकाकार हो जाने का चतुरा सभर्त्ताय है—ऐसा शिवनाथ ने अपने एक निबन्ध में एक विचारमूत्र उपस्थित किया है। शिवनाथ के 'नाथ और सत साहिब की प्रामाणिकता' शार्पक लॉय में देवभाय से गुरुपूजा की परम्परा के विषय में विवेचन मिलता है

तेन सन्दशिते मार्गं स्वमवेद्यस्य दर्शनम् ।

भवतीति गुरु देवभायेन परिचितयत् ॥ ८ ॥

कथनाद् दृष्टिपाताद्वा सात्रिध्याद्वावलोकनात् ।

प्रयानात् स्वगुरोः स्वयम्क प्राप्यते परम पदम् ॥ १० ॥

सिद्ध तथा नाथ पंथों के मूल धार्मिक पत्रयान सम्प्रदाय में भी गुरु का ऐसा ही महत्त्व स्वीकार किया गया है। कहते हैं कि, 'आसक्तिपूर्वक सदैव गुरु की सेवा करनी चाहिए, बिना उसके करोड़ों कल्पों में भी तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती

अत एव सदा शक्त्या युक्त सद्गुरुपादमेवाम् ।

न च तेन विना तत्र प्राप्यते कल्पशतैश्चि १ ॥ ९ ॥

यहाँ तत्र कहा गया है कि गुरु हा उठ, धर्म और स्वयं ह, वही सभा तत्त्वा का शास्त्र तथा नायक है ३

गुरुर्बुद्धा भवद् धर्मं सद्दृश्यापि स एव हि ।

पमादाद् जायते तस्य यस्य रत्नत्रयं वरम् ॥ २४ ॥

गुरुरेव समादयान सर्वबुद्धं सर्वत्रिभि ।

स एव सर्वसंज्ञाना शास्त्रज्ञो लोकनायक ॥

१ श्री गोपानाथ कपिराज सम्पादित सिद्ध सिद्धान्त मन्त्र (पद्ममोपदेश), दि
भि सप्त आप वेत्स, सरस्वती भवन टन्ट्स, न० ३, मन् १९-२००।

२ श्री त्रिनयनोप भट्टाचार्य सम्पादित प्रश्नोपायविनियोगमिद्धि, दिनाय परिच्छेत्,
इन दू वत्रयान् वत्स, गायकवाड्म ओरियण्टल मिराज, न० ४४, मन् १००९
ई०।

३ वही ज्ञानसिद्धि, प्रथम परिच्छेत् ।

अन्यत्र भी गुरु को ब्रह्म तत्रु क्हा गया १

गुरुरेव पर ब्रह्म गुरुरेव परा गति ।

गुरुरेव पर विद्या गुरुरेव पर धनम् ॥

गुरुरेव पर कामो गुरुरेव परायण ।

यस्मात्तदुपदेष्टामो तस्मात् गुरुरो गुरु ॥

ऐसी अवस्था में अपने गुरु के नाम पर अथवा अपनी गुरु परम्परा में आपू फ़िमी के नाम पर शिष्य के कोई रचना कर देने की पूरी सम्भावना है ।

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने 'त्राउल सतों की साधना' के विषय में चर्चा करते हुए एक त्राउल पद दिया है २

गुरु बोले फ़ारे प्रणाम करे निमन

तार अधिक गुरु, पथिक गुरु

और तोर गुरु अगणम,

ओ तोर गुरु सर्वजन ।

गुरु रे तोर वरण डाला,

गुरु रे तोर मरण उवाला ।

गुरु रे तोर हृदय व्यथा,

जे द्वाराय दुनयन ।

अथात् 'हे मन, गुरु कहकर तू फ़िलफ़ो प्रणाम करेगा । पग पग पर तुझे जाने जानं वाले मिलेगे । व सब तेरे असख्य गुरु हैं । सारे मानव तेरे गुरु । फ़ूर्ला की डाली तेरी गुरु है । हृदय व्यथा के कारण निकले हुए आँसू तेरे गुरु हैं ।'

सिद्ध और नाओं के विषय में पूर्णगिरि ने भिन्न विवेचन किया है ।

सम्भवत सबसे प्रथम सिद्ध सरह था जिसका समय श्री राहुल साकृत्यायन के अनुसार ७५० ईस्वी के लगभग है । अन्तिम सिद्ध सम्भवत कालपाद था । आठवीं शती से १२वीं शती तक इन सिद्धों का समय माना जा सकता है । सिद्धों की परम्परा भले ही यहाँ पूरी समाप्त न हुई हो (ऐसा

१ वही, त्रयोदश परिच्छेद ।

२ श्री सी० कुन्दनराजा सम्पादित, अनपठितशब्द उपनिषद्स में द्वयोपनिषद् पृष्ठ २७, सन् १९३८ ।

होना कठिन भी है) किंतु मुख्य चौरासी सिद्धा की अवधि यहीं तक समाप्त हो जाती है। ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिसके आधार पर इनका समय जागे बढ़ाया जा सके। तिब्बती जनश्रुतियों तो इन्हें पूर्व की ओर ही अधिक ले जाती हैं।

इन सिद्धा में सभी जातियों के लोग रहते थे। उहुन से राजकुमार और अच्छे अच्छे कुलों की कन्याएँ तक इस सम्प्रदाय में सम्मिलित थीं। उदाहरण में सुसुकुपा (नालन्दा का राजकुमार), कमरिया (उड़ीसा का राजकुमार), मेगध्यापा (अगचेनगर के गृहपति का कन्या), लक्ष्मीनारा (सम्भलनगर की राजकुमारी), आदि की गणना सिद्धों में की जाती है। जाति पौँति का कुछ भी विचार न होता था। ब्राह्मणों से लेकर शूद्र तक मीक्षित हो सकते थे।

बौद्ध धर्म के शून्यता के प्रतिक्रियास्वरूप हिंदू धर्म का स्थूल धर्म काण्ड बढ़े विकृत रूप में उपस्थित हुआ। वाममार्ग के कुछ सिद्धान्त समझने पर उस समय की स्थिति समझ में आ सकेगी। अभी ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि वामपथ या कोलपन्थ का विकास किस प्रकार हुआ, किंतु वज्रयान की समृद्धावस्था में इसकी साधनापद्धति अति श्रुणित रूप में प्राप्त हो चुकी थी। भरत भरत्रिया के सम्मिलित उद्योग से प्रवृत्त या तिब्बत की प्राप्ति अति सरल थी, आवश्यकता थी केवल परोक्षसाधना के नाम पर इन्द्रियों की अनियन्त्रित उपासना की। तन्त्रों में स्पष्ट ही लिखा है कि उपासना के समय साधक भैरव और साधिका भैरवी का स्वरूप धारण कर लेती है। साधक का कर्तव्य है कि साधिका भैरवी की प्रत्यक्ष अभित्ति (वाचिक, मानसिक एवं वाचिक) को पूर्ण करे।

कायेन मनसा पाप्मा सुन्दरी यश्च तोषयेत् ।

स भवेत् सावकश्रेष्ठो मातृणा च भवेत् प्रिय ॥

(कोलावलीनिर्णय)

कहने का तात्पर्य यह कि युवती की आवश्यकता कौलसम्प्रदाय में प्रति पग पर थी। इस समय शक्ति की उपासना जो निश्चय ही किसी समय अपने तात्त्विक रूप में रही होगी, अपनी घोर विकृति पर थी। कुमारी का साहाय्य यहाँ तक बढ़ चुका था

कुमारिका भवत देत्री शिरोऽपि च कुमारिका ।

कुमारी योगिनी साक्षात् कुमारी स दिवता ॥

(बोलनिर्णय)

तस्या पूजनमात्रेण त्रेलोक्यस्य पूजा भवत ।

सुकुमारी महादेत्री त्रिधा मूर्तिर्व्यवस्थिता ॥

(कालनिर्णय)

स्त्री मात्र की प्रधानता स्वीकृत थी, यहाँ तक कि 'स्व' और 'पर' का भी कोई भेद न था। भैरवी चक्र के समय तो कुल, शील और मर्यादा को एक ओर रख देने का आग्रह था ही, सकोचमात्र दिखाने से भी देत्री स्त हो सकती थी। उपासकों का सिद्धांत केवल एक था और वह यह कि नारी मात्र भैरवी है और पुरुष मात्र भैरव ।

कोलों क प्रसिद्ध गुरुओं क नाम ह प्रह्लादानन्दनाथ, सनजानन्दनाथ, कुमारानन्दनाथ, विशिष्टानन्दनाथ, क्राधानन्दनाथ, सुखानन्दनाथ, ज्ञानानन्दनाथ और मोधानन्दनाथ ।

निश्चय ही शाक्त धर्म कबीर के समय तक अपना निकृष्टतम रूप प्राप्त कर चुका था। इसी कारण कबीर ने अनेक स्थलों पर शाक्तों की भरपेट निन्दा की है

सापित सुनहा दूनों भाई । वो नीदे वो भौकत जाई ।

का सुनहा के सुमत सुनाथें । का सापिल पै हरिगुन गाये ।

का कज्जा को कपूर खवाय । का बिसहर को दूध पिलायें ।

(कबीरग्रन्थावली पृ० १६३)

चन्दन की कुटकी भली, ना बरूर की अबराऊ ।

वेशनों की छपरी भली, ना सापत का बड गाऊ ॥

(कबीरग्रन्थावली, पृ० ५२)

कुल ग्रन्थों में सुरा, सुदरी और मास की व्यापकता है। कहीं कहीं पर इन तीनों का प्रयोग प्रतीकवत् किया गया है किन्तु बहुत से स्थानों (जिनमें से कुछ का निर्देश हम ऊपर कर चुके हैं) पर प्रतीक मानना अर्थ का अस्वाभाविक आरोप कर देना है। इन ग्रन्थों की भाषा बड़ी रहस्यमयी

मानी जाती है जिसे हर ढाँढ नहीं समझ सकता। दादा देने समय शिष्य को उपदेश दिया जाता है कि वह इस विद्या को गुप्त रखे। कुटार्णवतन्त्र म कहा गया है

‘कुल मार्ग उतना ही भयावह है जितना कि एक भयंकर गह की गर्दन से आखिरी करना, त्रिपथर सर्प से खेलना या नगी तलवार की तामी धार पर चलना।’

शाल्पथक विद्यार्थी को यह समझना म दर न लगेगी कि इसमें बद तथा अष्टांगयोग का बहुत कुछ समन्वय है, किन्तु क्रिया पक्ष में प्रवृत्तिमार्ग होना म धारे धार इसमें ताना का जाड़ जाता गह और तन्त्रा यह दिन भी आया जत कि यह हिन्दू धर्म का एक अतिमूल्य, विद्वान और गलित रूप रह गया।^१ यद्यपि लक्ष्य याग तथा तन्त्र का पुनर्हा अग्रपद (मातृ की मित्रावस्था) की प्राप्ति के तथापि तान्त्रिक विरिग उपासना की प्रधानता क कारण प्रवृत्तिमार्ग कहलाए किन्तु योगा अतरग उपासना को ही प्रधानता देते रहे। फलतः प्रवृत्तिमार्गों का दूत गायमार्ग बन गया और त्रिशुद्ध योग प्रक्रिया को अपनातेजाला तन्त्र नामप्रदाय के नाम से त्रिग्यात हुआ। सिद्धा का उद्गम नामपथ से ही हुआ जान पड़ता है। तन्त्रम ह कि सिद्धा का मार्ग आरम्भ से उतना खलेप न रहा है। जिता कि काला तर म हुआ। नामा पर तन्त्रा का प्रभाव अवश्य म कि तु अत्यल्प मात्रा म। नाथ लोग न सिद्धा की यह सरणि कभी न अपनाई जो चमत्कारा का ही अपना विशेष आलम्बन बनाए हुए थी।

^१‘योगिससम्प्रदायात्रिद्विती’ म मन्त्रतन्त्रा, गहिनीना, उपालेन्द्रनाथ,

- १ तान्त्रिकानुष्ठानस्य फलमपि योग एव। तान्त्रिकानां पूर्ववर्णनायामपि योगित्वमुत्तरा परभावमपि योगित्वमेव, न त्वन्मन्त्रानुष्ठानो गमुत्थमात्र। तन्त्राणि तस्य वस्तुमपि साधन एव न तान्त्रिकानां प्रभावमा तानुष्ठान त्रिद्वितीयमनन योगिना त्वन्तर्हमुपासनम्। एव गति। तान्त्रिक प्रयोगे विरिद्वितीय वृत्तान्त त्रानि पञ्चाङ्गप्रवृत्त प्राप्त तर्हप्रवृत्त मूलाक्त कुट्टलि ता फ्रानि, जन वारणात तान्त्रिकानामपि पथगतवृत्तपद एव।

—गोत्तसिद्धा तन्त्रमह।

२ च इनाथ योगा द्वारा हिना म अनुवाद।

कारिणपानाथ, चर्पनाथ, रैवणनाथ, नामनाथ, भर्तृनाथ और गोपीचंद्रनाथ को क्रमशः जिन नव नारायणों का अवतार माना गया है वे भिन्न हैं।

ऋविनारायण, करभाजननारायण, अन्तरिक्षनारायण, प्रतुङ्गनारायण, पिप्पलनारायण, चमस्तानारायण, आप्रिहोत्रनारायण, हरिनारायण और दुमिलनारायण।

योगियों में यह प्रवाद प्रचलित है कि गोरक्षनाथ ऋद्धर से अभिन्न उ ही के अवतार हैं। यद्यपि मत्स्ये द्रनाथ, गोरक्षनाथ के गुरु थे तो भी अपनी जाया गिमिक शक्ति के कारण गोरक्षनाथ योगियों के मुख्य आचार्य माने जाने लगे।

यद्यपि 'योगिम्भ्रदायागि'कृति' में गोरक्षनाथ की मृत्यु वि० स० ४५० में हुई उताइ जाती है तथापि इस समय को सिद्ध करने के लिए कोई सुद्ध प्रमाण नहीं मिलता। डा० फरकुहर ने गोरक्षनाथ का समय सन् १२५७ माना है। डा० शहादुल्ला के अनुसार इनका समय ६६५ इस्वी के लगभग है। डा० उड्डवाल ने सन् १०५० के लगभग इनका समय निश्चित किया है। इधर कुछ विद्वानों का मत है कि गोरक्ष कवीर के समकालीन थे। यह इस आधार पर कहा जाता है कि कवीर और गोरक्ष का वाक्सघर्ष ग्रन्थों में मिलता है। केवल इसी तर्क के आधार पर गोरक्ष का समय पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रारम्भ मानना असंगत ठहरता है। कारण कि इस प्रकार के सवादों की परम्परा सन्त साहित्य में प्रायः पाई जाती है। अपने अपने पन्थ का प्रभुत्व जमाने के लिए भिन्न भिन्न मतधर्मों अपने मुख्य आचार्यों के साथ ऐसी बातें जोड़ दिया करते थे।^१ सिक्खों के प्राचीन साहित्य में इस प्रकार का वर्णन जाता है जिममें कवीर नानक से शास्त्रार्थ में हार जाते हैं। इसी प्रकार गोरक्ष और कृष्ण के सवाद भी योगियों के साहित्य में मिलते हैं, जहाँ कृष्ण भगवान् अन्त में गुरु गोरक्षनाथ की स्तुति करते पाए जाते हैं। इस प्रकार के सवाद केवल मन प्रसूत होते थे, इनका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता।

'हिन्दी साहित्य में योगप्रवाह' नामक लेख में डा० उड्डवाल ने जो

१ वहने कि एक बार गोरक्षनाथ ने गुरु की श्रद्धावश बड़ा के रवान पर अपनी गीतों निकालकर दे दी थी। इस पर प्रसन्न होकर मत्स्ये द्रनाथ ने आशीर्वाद दिया जिसे गोरक्षनाथ योगी समाज के अग्रणी और प्रथमाचार्य माने जाने लगे।

युक्तियाँ दी हैं वे बहुत कुछ अर्थों में मान्य हैं। यद्यपि कुछ धर्म भी साक्ष्य हैं जिनके आधार पर गोरक्ष का समय बहुत पाठ की ओर ले जाया जा सकता है। किन्तु जय तरु यद्यपि प्रमाण न मिले, इनका समय स्वल्प १००० के लगभग मानना ही अधिक उचित होगा। हिन्दी का ना प्राचीनतम रूप गोरक्ष की जानियाँ में मिलता है, उससे भी यह समय ठीक रहता है।

गोरक्षनाम का नाथ पन्थ इश्वरवाद है। उसमें अनीश्वरवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। भगवान् आदिनाथ शकरी इस पर एक मूलप्रवचनक मान जाते हैं। जिन सिद्धांतों का यह प्रमाण है कि नाथप्रदाय पांडों में प्रसिद्ध हुआ, वे अश्वत्थ चाराणा सिद्धांत और नाथों में पांडों मालिक अंतर नहीं समझते। यदि नाम लाग सिद्धों के दिग्गज मार्ग को ही अपना साधन चुन लेते तो उनको कोई भी सहज न मिलता। किन्तु सिद्ध लोग निश्चय ही धार्मिक हास के द्योतक थे और यज्ञयान का शाखा प्रशाखाओं में अपना विश्वास रखते थे।

नाथों की जानियाँ में 'शून्य' और 'निर्वाण' जस्य कई शब्द आते हैं जिनसे कुछ लोग यह अनुमान लगा बैठते हैं कि वीरों का 'शून्य' और 'निर्वाण' नाथों को प्रभावित कर चुका था। योगियों ने इस प्रकार के शब्द वाङ्मय से ही नहीं, और भी बहुत सम्प्रदायों से लिए, किन्तु उनका प्रयोग सर्वत्र अपनी परम्परा के अनुकूल अर्थ में ही किया है। योगशास्त्र के अनुसार ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर साधक ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है। इसका अनुभव 'सुनिफल' कहकर पुकारा गया है।

उत्तरपण्ड जाइवा सुनिफल खाइवा

ब्रह्म धमनि पहरिवा चीर ।

नीक्षर क्षरण अमृत क्षरिया

थुँ मन हुआ धीर ॥

(गोरक्षनाम पृष्ठ २४)

यहाँ उत्तरपण्ड का अर्थ 'ब्रह्मगुटा' लाना होगा और 'सुनिफल' का अभिप्राय उस अवस्था की अनुभूति से है।

सुनि न माई सुनि न जाप ।

सुनि निरञ्जन आपे आप ॥

सुनि क परच भया सयीर ।

निहचल जोगी गहर गम्भीर ॥ (गारतमाना ॥)

यहाँ सुनि का ता पर्यं अमरगन्नात समाधि है । उन् स्थिति को प्राप्त करने के पश्चात् योगी निश्चल अवस्था का प्राप्त कर लेता है ।

बसती न सुन्य सु थ न बसती अगम अगोचर एया ।

गगन निपर महि जालक जालै ताका नौव धरहुगे कैसा ॥

(गोरसजानी)

उस निर्गुण सगुणानीत ब्रह्म को जो केवल अनुभवगम्य है, किस नाम से पुकारा जा सकता है । यह तो अपनी अपनी सुविधा की जान है कि कुछ मनुष्य उसे निर्गुण और कुछ सगुण पुकार लेते हैं । वास्तव में वह तो निर्गुण और सगुण दोनों से परे, और भी न जान क्या क्या ।

आसन, प्राणायाम एवं षट्चक्रभेदन इस सम्प्रदाय की मुख्य पद्धतियाँ हैं । किन्तु अन्तिम स्थिति समाधि है । उपर्युक्त तीनों तो साधक के लिए प्रारम्भिक बहिरंग क्रियाएँ मानी जाती हैं । इन क्रियाओं का निर्देश भी योग ग्रन्थों से मिलता है

‘दृष्टे छमात्र ज्ञाया पलटैत नाग धरा जनासपति जोगी’

नाग (शीशु क्री भस्म), जग (रोंगे की भस्म) और वनस्पति का प्रयोग से योगी लोगों ने वर्ष में दो एक बार ज्ञाया-रूप करना चाहिये । योगियों की परम्परा है कि ये नीरोगता और शारीरिक उपयुक्तता को भी जात्यामित्र मानना न उचित है नहीं रखते । उक्ति प्रसिद्ध है कि ‘शारीरेण चित्तं सव शरीरं योगिभिर्जितम्’ । शारीरिक विकारों और दुर्बलताओं का हमारे मानसिक जगत से जुटन सम्भव है ।^१ कभी कभी देखा जाता है कि मनुष्य प्रयत्न करने पर भी, वहिक दुर्बलता के फलस्वरूप, अपनी भावनाओं का संस्कार करने में असमर्थ रह जाता है । आसन, प्राणायाम आदि की महत्ता इसी कारण योगियों ने स्वीकार की ।

१ चास मुक्त (मन्त्रान्तर्य) सव्यापविनाजत ।

विरक्ता ज्ञानिन वा न तेहन विचिन्ता सदा ॥

ने कथ योगिभिस्तुत्या मांविण्डा कुदेदिन । —गोरसजानी तर ब्रह्म

समाप्ति की स्थिति में भी रमायन विद्या की आवश्यकता पड़ती थी। योगिया की जीवनशैली का अध्ययन से पता चलता है कि समाप्ति का उच्चतम महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'योगिसम्प्रदायादिष्टि' के योगियों से जाना जाता है कि वे लोग प्रायः बारह बारह वर्ष तक समाप्ति में रहते थे और इस लक्ष्यी अवधि तक अपना शारीरिक देह मात्र के लिए शिथिल न होने देते थे। समाप्ति की अवस्था में देह कायलता रहता नहीं चिन्मये रूप में अपन जड़ शरीर को रक्षा प्राप्त के निश्चय से कर सक, दूसरे देह देना में वह के समस्त कार्य-यापार प्रकृत रहते, कुछ समय पश्चात् उसका जीर्ण शार्ङ्ग हान का भय रहता है, फिर शरीर को नया समय भी कम नहीं होता। रमायन के द्वारा शिष्य गुरु के शरीर को सुरक्षित रखता है।

मौल पद्धति पर हम पाठ्ये कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। उनका प्रयास प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर जाने का था, जो यदि असम्भव नहीं तो कठिनतम अवश्य था। भले ही मायक अपनी उच्च स्थिति पर पटुचक्र स्त्री के मास्त्रि य से भी पतित हो जाते-तु मायना की अपरिपक्व अवस्था में ही नारी का विशेष समर्पण उसे एक न एक दिन इन्द्रिया के उदाम जापदा में प्रहा होगा। अतः गोरक्षनाथ ने कामिनी का विरोध करना आवश्यक समझा।

उन्हे न लोभ सुन्दरी मनकादिक के तापि ।

जत्र जत्र कलक लगाहसी काली हाडा हापि ॥

कामनी बहता जोग न होई,

जहा उपजै तहा फिरि आवट, ज्य नामनि चित्त पता ।

बामा अगे सोइबा जमचा भोगना मगे न पीरणा पाणी ॥

इमती अमरावर होइ मडिन्द्र, ज्ञाटयो गोरप वाणी ॥

(गोरक्षनाथी)

नारी स्वभावतः ही पुरुष के लिए आसक्ति का विषय है। उसी प्रकार नारी के लिए पुरुष भी। कामा भी सिद्ध पुरुष हो, आसक्ति का उपकरण प्राप्त रहने पर कभी-कभी उसका पतन की आशंका रहती ही है। फिर गोरक्ष ने जो कुछ कहा, वह साधारण स्त्री पुरुषा के लिए नहीं, प्रसूत योगमार्ग में प्रविष्ट 'अवधुओं' के लिए ही।

कबीर पर भी इस परम्परा का उहुत कुछ प्रभाव था। नारी के सम्बन्ध में सारा निर्गुण सम्प्रदाय ही एरुमत है

एक कनक अरु कामनीं विषफल कीएउ पाइ ।
देखें ही थें विष चढ़े खाये सु मर जाइ ॥

(कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४०)

सुन्दरि यं सूली भली, विरला उन्चै कोइ ।
छोह निहाला अगति मं जलि वलि कोइला होइ ॥
नर नारी सब नरक है जब लग देह सकाम ।
कहै कबीर ते राम कै, जे सुमिरें निहकाम ॥

(कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४०)

बौद्ध धर्म का उदाहरण हमारे सामने ही है। बुद्ध स्वयं नहीं चाहते थे कि स्त्रियाँ उनके सघ में शामिल हों, किन्तु प्रियशिष्य आनन्द के कहने पर किसी प्रकार उन्होंने स्त्रियों को भी भिक्षुणी बनने की अनुज्ञा दे दी। वज्रयान में कालान्तर में जो व्यभिचार बढ़ा उसका कारण शायद भिक्षुणिया ही थीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्त्रियों के प्रवेश ने जौड़ धर्म के मूल को बहुत खोखला कर दिया था। प्रसिद्ध योगी चरपटनाथ ने स्त्री में आसक्त सिद्धाँ को खूब फटकारा है

नाथ कहावैं सकहि न नाथि

चेलाप थ चलावैं साथि ।

माने भिच्छा भरि भरि खाहिं

नाथ कहावैं मरि मरि जाहि ॥

धाकर धूर की डगुर द्याधि

वाली मोती तरुणी साथि ।

दिन करि भिच्छया रात्रू भोग,

चरपट कहै विगोवै जोग ॥

अपने समय में प्रचलित सिद्ध समाज के दोष गोरख की पैनी दृष्टि से छिपे न रह सके। वे अपने सिद्धान्तों के इतने दृढ़ थे कि उनके विशुद्ध धोड़ी भी उपेक्षा उन्हें सहन न थी। मादक द्रव्यों के सेवन तक का कड़ा निषेध किया गया

आफू पाय भागि ममकावँ, ता म अकलि कहीं ते आवै ।
 चढतौं पित्त उतरता बाह, तात गोरष भागि न पाइ ॥
 जोगी हाइ पर निष्ठा भएँ, मद् माम अरु भागि न भएँ ।
 इकोतरस पुरिषा नरकहि जाइ, सति सति भाषन्त श्री गोरपराइ ॥

ब्रह्मचर्य के निरंतर पालन ने ऊँ चरिता जनने की प्रेरणा नार्थ के उपदेशों में सर्वत्र मिलती है

अरवै जाता उरधे धर, काम दगाव जे जोगी करै ।
 तनै अलगन काटे माया, नाका विस्नु पजाले पाया ॥

(गोरपराजी)

साधनाप्रधान होने के कारण योगमार्ग में जाति पौँति का भवभाव स्वीकृत न था ।

योगियों के मन से सृष्टि दो प्रकार की है पहली नाद परम्परा की और दूसरी विन्दु परम्परा की । उनकी धारणा है कि आदिनाथ शूलपाणि ही इन दोनों परम्पराओं के नियामक हैं । नाद परम्परा से हमारा तात्पर्य शिष्यक्रम से है और विन्दु परम्परा से गार्हस्थ्य व्रतक्रम से । दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि एक पक्ष नाद अर्थात् गुरुमन्त्र पर अवलम्बित है तो दूसरा वार्थज सृष्टि पर । निस्सन्देह पहला प्रकार (नादक्रम) ही श्रेष्ठ है क्योंकि उमर में निवृत्ति या त्रेय पक्ष ही एक मात्र ध्येय रहता है । किन्तु दूसरी क्रांति मत्सर की सभी वस्तुओं के प्रति आकर्षण रहता है । नाद का सत्य ध सूक्ष्म ज्ञान से है और विन्दु का सम्बन्ध स्थूल माया से । नाथ लोग नादानुयायी हैं, अतः उन्हें विन्दु परम्परागत मायाप्रधान मत्सर से वैराग्य लेना आवश्यक है । इस प्रकार वैराग्य को मूल मानकर नार्थों का साधनाक्रम चलता है । नाद से नये नार्थों की उत्पत्ति हुई, ऐसा योग ग्रन्थों में उल्लेख है, विन्दु से सदाशिव की । सदाशिव भैरव से विष्णु, विष्णु से ब्रह्मा, सूर्य से चन्द्र, इत्यादि की उत्पत्ति हुई । योग के अनुसार सृष्टि की परम्परा किस प्रकार निमित्त हुई, इसका स्पष्टीकरण 'सिद्धान्तपद्धति' में विस्तार से है ।^१

१ नाथाद्विप्रकारा सृष्टिर्जाता नादरूपा विन्दुरूपा च । नादरूपा शिष्यक्रमेण विन्दुरूपा च पुत्रक्रमेण । नादान्नव नाथा जाता विन्दुत सदाशिवो भैरवो जात ।

योग की सपसे ऊँची अवस्था असम्प्रज्ञान समाधि है। गोरक्ष और उनक अनुयायी नार्थी क जीवनवृत्त स यह स्पष्ट हो जाता है कि ये शिष्य को क्रमशः अभ्यास कराते कराते अनन्त असम्प्रज्ञान तक पहुँचा देते थे। शिष्य बनाने के पूर्व उसकी योग्यता अयोग्यता का अच्छी तरह परख लिया जाता था। अन्तिम अवस्था के पूर्व तक उसे बड़ा साधनात्मक से योगमार्ग की शिक्षा दी जाती थी। सम्प्रदायमात्र बदलने के विचार से हर किसी को अपने मत में लगे लोग नहीं लेते थे। निस्सन्देह यह असम्प्रज्ञातावस्था पतञ्जलि के अष्टास्योग की सपसे पूर्ण अवस्था है। असम्प्रज्ञान के भी दो भेद होते हैं एक भव प्रत्यय और दूसरा उपाय प्रत्यय। भव प्रत्यय को जब समाधि भी कहा जाता है जो क्रैवल्य के इच्छुका को कल्पि इष्ट नहीं है। अस्तु, नार्थी ने भा सारा श्रम उपाय प्रत्यय के लिए ही किया, भव प्रत्यय के लिए नहीं। सुयोग्य गुरु की प्रेरणा ने सुप्रयुक्त पात्र शार्दूल ही योग में सिंघात हो जाया करत थे।

योग के नार्थी में 'नाथ' शब्द का तात्पर्य पूरा सिद्ध या पूर्णत्व प्राप्त किया हुआ महापुरुष है। 'गोरक्षसिद्धांतराग्रह' में लिखा है कि 'अस्माकं मते शक्ति सृष्टिं करोति, शिवं पालनं करोति, कालं सहरति, नाथो मुक्तिं ददाति'। अर्थात् हमारे मत में शक्ति सृष्टि करती है, शिव पालन करते हैं और नाथ मुक्ति देता है।^१ नाथ शब्द से यह ध्वनि भी निकरती है कि जिनने अपना इच्छियों को नाथ लिया हो, अर्थात् बश में कर लिया हो। 'राजगुह्य' में नाथ का अर्थ इस प्रकार समझाया गया है

पुन शब्दसष्टिप्रकारमाह—एका सूक्ष्मरूपिणी । द्वितीया स्थूलरूपिणी । सूक्ष्मरूपिणी प्रणवी महागायत्री योगशास्त्रमिति । स्थूलरूपिणी ब्रह्मगायत्री वेदत्रयाति । पुन योगशास्त्रतस्तत्रशास्त्रं जातं, वेदात् स्मृत्यान्निशास्त्रं जातम् । पुननवनानानां पश्चाद् द्वादश सिद्धांतपुराणेश्च द्वादश पथानोऽनंतसिद्धाश्च जाना । पुनयोगात् शेष योगसारयोगाद्योऽनेकयोगा अनेकभेदैर्जातास्तेन योगेन उद्योतिष यायादिक शास्त्रं, श्रुतित स्मृतिशास्त्रं याकरणं पुराणोपपुराणा अनेकेतिहासा जाना ।

(गोरक्षसिद्धा तसंग्रह)

१ भवेय मनुष्यो यदेकस्तु राजा यदा जतुरेको भवेय मुने इ ।

यदा शास्त्रमेकं तदा योग एव यदा देव एकस्तदा नाथ एव ॥

‘नाकारो नास्तिप प्रकार स्थाय्यो सदा ।’

‘अत्रयुत’^१ का व्यवहार भी लगभग इसी अर्थ में होता है । ‘सिद्धिसिद्धान्त पद्धति’ के अनुसार अत्रयुत का लक्षण = ‘सर्वान् प्रकृतिकारानत्रुत्तोती य प्रयत ।’ अर्थात् जो प्रकृति के समस्त विकारों को दूर कर सके वही अत्रयुत है।

वेदा में गणिपाद्य प्रणय का मन्त्र योग में सर्वत्र मान्य है। शंभुमन म भी प्रणय का महत्त्व उन्हीं प्रकार माना गया है। शार्दा के मूल ज्ञान भगवान् शंकर ह और तादा के भी। इन्हीं प्रकार के कुछ अन्य सिद्धान्त भी हैं जो नादा और शार्दा में समाप्त रूप में मिलते हैं। योगिया का प्रयोजन मूल वेद में उतना नहीं है जितना कि उसके बादतर प्रणय में। अतः योग पद्धति में शार्दा की व्यर्थ उल्लेख से शंकर बादतर ग्रहण करने की शिक्षा का गड्ड है। ‘कावेपथगीता’ में एक उदाहरण दिया गया है कि एक चार व्यासा मुनि अनेक प्रकार के शास्त्रात्मिक महादेवजी के पास जाण। इस पर भरी स्वभा में नारदजी ने उह भारवाहा गर्दभ की उपाधि ली। इस पर क्रोध से सब पुस्तकों को लक्षणमागर में डालकर व्यासा मुनि महादेवजी से अत्यात्मविद्या सीखने लगे। यह अध्यात्मविद्या और कुछ नहीं, योगविद्या ही थी। कहा भी गया है

गृहे गृहे पुस्तकभारभारा पुरे पुरे पण्डितयुवयुवा ।

वने वने तापमवृद्धवृन्दा न ब्रह्मवन्ता न च कर्मकर्ता ॥

घर घर में पुस्तकों का भार है, नगर नगर में पण्डितों के समुदाय है। वन वन में तापमों के झुण्ड हैं किन्तु न कोई ब्रह्मज्ञानी है और न कोई कर्मयोगी है।

‘कहते हैं कुछ शास्त्र मोक्ष के रक्षक हैं और कुछ व्यवहार के। जो मोक्ष के रक्षक हैं वे योगशास्त्र हैं और जो व्यवहार के रक्षक हैं वे श्रुति स्मृति आदि हैं।’

१ वचने वचने वेदास्ताथानि च पदे पदे ।

दृष्टी दृष्टी च केव य सोऽवधूत श्रियेऽस्तु न ॥

एकहस्तं धृतस्त्यागो भाग्येककर स्वयम् ।

अलिप्तस्त्यागभोगाभ्या सोऽवधूत श्रियेऽस्तु न ॥ गो० सि० स० ॥

योगशास्त्र मं पुरुष के बत्तीस लक्षण घटाए गए हैं

१ निरालम्ब	१७ अयाचक
२ निर्भ्रम	१८ अवाहक
३ निवासी	१९ अमान
४ नि शब्द	२० अस्थिर
५ निर्मोह	२१ शुद्धि
६ निर्धन्ध	२२ सयमी
७ नि शक	२३ शा-त
८ निर्विषय	२४ श्रोता
९ सर्वांगी	२५ सुहृत्
१० सावधान	२६ शीतल
११ सन्	२७ सुसुद
१२ सारग्राही	२८ स्वभाव
१३ निष्प्रपञ्च	२९ लय
१४ निस्तरंग	३० लक्ष्य
१५ निर्द्वन्द्व	३१ ध्यान
१६ निर्लेप	३२ समाधि

योगसाधना अवस्था भेद से चार प्रकार की मानी गई है पहली आरम्भावस्था, दूसरी घटावस्था, तीसरी परिचयावस्था और चौथी निष्ठावस्था। निष्ठावस्था त्रिकास की पूर्णावस्था है। योगी अपने पूर्ण स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर निरजन देव मं तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस पद को प्राप्त कर साधक ऐसे जान-द का अनुभव प्राप्त करता है जिसकी अभि यक्ति वाणी से परे है। जो अनाहतनाद घटावस्था में उठना आरम्भ होता है वह इस समय लय की दशा में हो जाता है। योगी अन त शान्तस्वरूप को धारण कर लेता है। इस समय के अनिर्वचनीय सुसु का ज्ञान अनुभवी को ही हो सकता है। राग, अभिनिवेश, माया, ममता आदि जड तर्वा से आक्रान्त सामान्य मनुष्य उसका अनुमान नहीं लगा सकता। शिष्य की अथक साधना और गुरु की अनन्त कृपा से ही यह स्थिति मिलती है। निष्ठावस्था में पहुँचकर चित्स्वरूप की पूर्ण उपलब्धि हो जाती है।

किंवदन्ती है कि यागियां को आदिनाथ महादेव ने अपने स्वरूप से विभूषित किया। इस समाज के मुख्य चिह्न हैं कुडल, मेली और श्रुतीनाद। ये चिह्न भिन्न भिन्न अभिप्रायों के प्रतीक हैं, जसे श्रुतीनाद धारण करने का अर्थ है योगियां का नादपरम्परागत होना। कुडल धारण करने के कारण वान्त में ये ही लोग कनफटा भी कहलाने लगे। बोल चाल में 'आदेश' और 'अलक्ष्य' शब्दों का विशेष व्यवहार होता है।

यागी लोग स्वभावात् ही भ्रमणशील रहते हैं, जिनके दो कारण हैं एक धराया और दूसरा योग धर्म की वृद्धि। शिष्य को अमरप्रज्ञान समाधि में निष्णात कर उस मुमुक्षुओं के हितार्थ स्वतन्त्र धूमने की अनुज्ञा दे देना इनका नियम था। एक समय था जब कि इस सम्प्रदाय के लोग भारत के कोने कोने में व्याप्त थे और अपने अथक परिश्रम से याग का महत्त्व स्थापित कर रहे थे। गोरक्षनाथ ने जीवनपर्यन्त पर्यटन किया और योग्य साधकों को अपने सम्प्रदाय में दीक्षित किया। एक स्थान पर बिना विशेष कारण के अधिक समय तक ये लोग नहा टहरते थे। इनका जो कुछ भी साहित्य आज प्राप्त है उसे देखने से प्रत्यक्ष हा जाना है कि इनकी वाणी में अनेक भाषा के शब्दों का समावेश है। कभी, गोरग, चर्पटनाथ इत्यादि सन्तों की भाषा सजुक्कड़ी कहलाती है। सजुक्कड़ी भाषान्तर्गत साहित्य की प्रवृत्ति सर्वत्र जनता के अधिकाधिक निकट रहने की रही है। संस्कृत का छोड़कर हिन्दी भाषा को अपनाना इसी कारण इन लोगों ने अच्छा समझा कि वह विशाल जनसमुदाय तक पहुँच सकती थी।

इस विवेचन में बौद्धधर्मी स्त्रियों के विषय में गोस्वामीजी के विचार निराश हैं, क्योंकि 'येरीगाथा' इस बात का प्रमाण है कि उनका उल्लेख किया हुआ बौद्ध धर्म का हास उस कारण से नहीं हुआ था।

नाथपन्थ और योग के बीच में बहुत सा साम्य था। यह बात आगे पृ० २३२-२३३ पर दिये हुए 'कुडलिनी तथा पट्चक्र' के चार्ट से स्पष्ट होगी।

'कुण्डलिनी', 'नाद', 'विन्दु' आदि तन्त्रशास्त्र से लिखे शब्द थे। तांत्रिक दृष्टि को समझने के लिए उसकी पारिभाषिक शब्दावली का थोड़ा परिचय आवश्यक है।

कुण्डलिनी तथा पट्चक्र—

कुण्डलिनी का पत्र चक्र (वाक्)	रह नाम	स्थान	दल सरया	त्व का वर्ण	ता और गुण तथा किरण	वर्ण	गण्डल का आकार तथा ग्रन्थि
१	२	३	४	५	६	७	८
मूलाधार (परा)	अग्नि	रीढ़ के अधिभाग	२	पीत	पृथ्वी जाक वर्ण-३ राश	क, श, प, स	त्रिगोकार
स्वाधिष्ठान (पश्यन्ती)		मेरुदंड से मेढ़क ऊपर	६	श्वेत	जल सको चन ६२ रस	ज, भ, म, य र, ल	रुद्रग्रथी अथ च द्र
मणिपूर	सूर्य	मेरुदंड से नाभि के पास	१०	लाल	तेज पत्ता रण ५२ रूप त, थ, न, ध	ड, ढ, ण न, प, फ	त्रिसुज
अनाहत (बुद्धि से मिलकर बखरी)		हन्य के पास	१२	धूम्र	वायुराति ५४ स्पर्श	क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ,	विशुद्ध ग्रन्थी पट्कोण
विशुद्ध	चन्द्र	ऊठ के पास	१६	श्वेत	आकाश अवकाश ७२ शब्द	अ, वा, इ, ई उ ऊ ऋ ॠ ल, लृ, ए, ऐ ओ औ अअ	वृत्त
आज्ञा		भ्रुवा के मध्य	२		मानस ६४	ह व	ब्रह्मग्रन्थी

(कुण्डलिनी जाग्रत होने पर)

मीन और वाह्य	द्वजता ओर नाहन	धातु शक्ति	लिङ्ग आर योनि	अन्यान्य त त और इन्द्रिय	पीठ	गुण	लोक	द्वजता
९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७
ल पेरापत	ब्रह्मा हम	शक्तिनी	स्वयम्भु त्रिपुर त्रिकोण	गन्धर्व चरण प्राणेन्द्रिय	वामारथा		सुय लोक	
व मन्त्र	विष्णु गरुड	शक्तिनी		रसनख हस्त रसना			स्व लोक	मणि
र मेष	ब्रह्म वृषभ	शक्तिनी		रूपतत्व चन्द्र, वायु			मह लोक	
य कृ गा भृत	ईश	शक्तिनी	प्राण त्रिकोण	स्पर्शतत्व त्वचा उपस्थ	मूर्णगिरि	रजस्	जन लोक	सूर्य
ह श्वेतराज	मन्दा शिव	शक्तिनी		शब्दतत्व कान, वाक्	जालधर		तपो लोक	
ओम्	शशु	शक्तिनी	इतर त्रिकोण	महत तत्व सूक्ष्मप्रकृति हिरण्यगर्भ	उड्डीयान	स व	सत्य लोक	चन्द्र

महासहोपाध्याय प० गोपीनाथजी कविराज ने अपने 'तान्त्रिक दृष्टि' निबन्ध में इस त्रिपय का विस्तार से विचार किया है।^१ जिस प्रकार बौद्धगण बुद्ध धर्म, तथा सघन्निरत्न (तीन रत्न) स्वीकार करते हैं वैसे ही भेदवादी तान्त्रिक आचार्यगण भी शिव, शक्ति और त्रिदुये तीन रत्न मानते हैं। ये ही समस्त तत्त्वों के अधिष्ठाता एव उपादानरूप में प्रकाशमान हैं। शुद्ध तत्त्वमय कार्यात्मक शुद्ध जगत् का उपादान विन्दु है तथा कर्ता शिव है और कारण शक्ति है। अशुद्ध तत्त्वमय जगत् में भी परम्परा से शिव और शक्ति ही हर्ता एव कारण हैं तथा निवृत्ति आदि कलाओं के द्वारा त्रिदु आधार है। त्रिदु का ही दूसरा नाम महामाया है। शब्दब्रह्म, कुण्डलिनी, क्रियाशक्ति, अनाहत और च्योस इन विचित्र सुखमय भुवन और भोग्यादि के रूप में परिणत होकर यही शुद्ध जगत् उत्पन्न करता है। भोगार्था साधक भौतिक दीक्षा के प्रभाव से इस आनन्दमय राज्य में प्रवेश का अधिकार प्राप्त करता है। किन्तु जो पहले से ही इस महामाया के राज्य के सुखभोग की इच्छा नहीं

१ कामिक, रौरव, स्वायम्भुव, सृगेन्द्र आदि आगमों में तथा अघोरशिव, सद्योजात, रामकण्ठ, नारायणकण्ठ आदि आचार्यों के ग्रंथों में इसका विशेष विवरण मिलता है। इसके मूल में भेददृष्टि रहती है। अभेदवादी आगम और आचार्यों के ग्रंथों में यूनानाधिक रूप से दूसरी तरह का विवरण भी है। इसका मूल कारण दृष्टिभेद ही है। शाक्तगण प्रधानतः अद्वैतवादी हैं। शैव सम्प्रदाय में द्वैत और अद्वैत दोनों ही प्रकार की दृष्टियाँ हैं। प्रसिद्धि ऐसी है कि शिव के इशानादि पाँच मुखों से ही समस्त मूल तत्त्वों का आविर्भाव हुआ है। उनमें भेदप्रधान शिवतत्त्व दस हैं, भेदाभेदप्रधान रुद्रतत्त्व अठारह हैं एव अभेदप्रधान भैरव तत्त्व चौंसठ हैं। ईशान, तत्पुरुष एव सद्योजात इन तीनों मुखों में से प्रत्येक की उद्भूत और उद्भवों मुख ये दो अवस्थाएँ हैं। इस प्रकार अलग अलग तीन मुखों से छह तत्त्वों का आविर्भाव हुआ है। इसके पश्चात् दो दो मुखों के मिलने से (अर्थात् इशान तत्पुरुष, इशान सद्योजात एव सद्योजान तत्पुरुष से) तीन तत्त्व होते हैं। फिर तीनों के मिलने से एक तत्त्व और होता है। इस प्रकार कुल तत्त्व दस हैं। ये भेदप्रधान हैं। इसी तरह अठारह भेदाभेदतत्त्व भी समझने चाहिये। वे पूर्वोक्त तीन मुखों के साथ वामदेव और अघोर नाम के दो मुखों के दृष्टि और समष्टि भाव से मिलने से अथवा केवल वामदेव और अघोर इन दो मुखों से उत्पन्न होते हैं। इस जगह इसकी विशेष प्रक्रिया नहीं दिखाई जाती है। यह जो शिवज्ञान और रुद्रज्ञान नामक दो ज्ञानों की बात कही गई है वह ऊर्ध्वलोक के अन्तर्गत है। अभेदज्ञान या भैरवागम

रग्वते वे नैष्ठिक दीक्षा प्राप्त कर के शक्ति के साथ नियम मिले हुए शिवस्वरूप साक्षात् परमेश्वर को उपलब्ध करते हैं ।

विन्दु छुट्ट होकर जिस प्रकार एक ओर शुद्ध देह, इन्द्रिय, भोग और भुजन के रूप में परिणत होता है, जिसे कि 'शुद्ध अध्वा' कहते हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर यही शब्द का भी उत्पत्ति करता है । शब्द सूक्ष्मनाद, अक्षरविन्दु और वर्णभेद से तीन प्रकार का है । सूक्ष्मनाद अभिधेय बुद्धि का कारण एव विन्दु का प्रथम प्रकार है । यह चिन्तनशून्य है । अक्षरविन्दु सूक्ष्मनाद का कार्य और परामर्शज्ञानस्वरूप है । यह मयूराण्डरमन्याय की तरह अनिर्वचनीय है । आकाश और प्रायु से त्र्योत्रग्राह्य वर्णा मक स्थूल शब्द उ पन्न होता है । कालोत्तर तन्त्र में लिखा है

स्थूल शब्द इति प्रोक्त सूक्ष्म चिन्तामय भवेत् ।

चित्तया रहित यत्तु त पर परिकीर्तितम् ॥

त्रिन्दु जड़ होने पर भी शुद्ध है । पाचरात्र अथवा भागवत सम्प्रदायान्तर्गत चैष्णव जागम में 'त्रिशुद्ध सत्व' शब्द से जो कुछ समझा जाता है वही त्रिन्दु है । परमेश्वर के साथ त्रिन्दु अथवा महामाया के सम्बन्ध के विषय में दो प्रकार के मत प्रचलित हैं

(क) एक प्रसिद्ध मत तो यह है कि शिव की दो शक्तियाँ हैं समवायिनी और परिग्रहरूपा । समवायिनी शक्ति चिद्रूपा, अपरिणामिनी, निर्विकारा और स्वाभाविकी है । यही शक्ति तत्त्व है । यह शिव में नित्य समव्यत रहती है । शिव शक्ति दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध है । परिग्रह शक्ति अचतन और परिणामशीला है । इसका नाम विन्दु है । विन्दु के शुद्ध और

शिव के दक्षिण मुख अथवा योगिनाम्नर से अभि यक्त होता है । यह शिवशक्ति सयोगरूप तथा अद्वयस्वभावविशिष्ट है ।

जिम प्रकार मयूर के अण्डे के रस में उसके पंखों के तरह तरह के रंग अभिन्नभाव से अ यक्तरूप से रहते हैं उसी प्रकार अक्षर विन्दु में स्थूल वाणी का सम्पूर्ण बन्धन अ यक्तरूप से अभिन्न होकर रहता है । यहाँ मयूराण्डरस याय है ।

स्थूल विन्दु शब्द कहा गया है, सूक्ष्म चिन्तामय है और जो चिन्तन से भी रहित है वह 'परविन्दु' कहा गया है ।

अशुद्ध तो रूप है। साधारणतः शुद्ध रूप तो ही बिन्दु और महामाया कहा जाता है। अशुद्ध रूप का नाम माया है। दोनों ही नित्य हैं। अशुद्ध अध्या का उपादान कारण माया है और शुद्ध अध्या का उपादान महामाया है। यही इन दोनों का अंतर है। सारथ्यमत तत्र एव कलादिस्तु क अशुद्ध अध्या के ही अंतर्गत है। यह सत्र माया का ही कार्य है (अग्न्य पुरुष या आत्मा नित्य है तथा इसे विलक्षण है, परंतु उसमें भी पुरुष नामक आचरण रहता है)। माया से उपर क तत्र शुद्ध अध्या के अंतर्गत है।

(२) दूसरा मत यह है कि एकमात्र बिन्दु ही शुद्ध और अशुद्ध अथा का उपादान है। इस मत में माया नित्य नहीं है, किंतु कार्यरूपा है। महामाया या बिन्दु की तीन अवस्थाएँ हैं परा, सूक्ष्मा और स्थूला। परा अवस्था को महामाया, परामाया, कुण्डलिनी आदि नामों से कहा जाता है। यही परम कारण और नित्य है। सूक्ष्म और स्थूल ये दोनों अवस्थाएँ जायँ होने का कारण अनित्य हैं। महामाया क बिन्दु ध होने पर ही उससे शुद्ध धामा तथा उनमें रहने वाले मन्त्रा (प्रियाओं) एवं मन्त्रेश्वरा (विद्येश्वरा) के शरीर और इन्द्रियादि रचे जाते हैं। अर्थात् शुद्ध लोकों के सत्त्वान और देहादि सब साक्षात् महामाया के कार्य हैं। ये शुद्ध मायातात और उत्पन्न हैं। महामाया की सूक्ष्म या दूसरी अवस्था का नाम माया है। कलादि तत्र शमूह का अविभक्त स्वरूप ही माया है। कलादि के सम्बन्ध के कारण ही ऋषा आत्मा भोक्ता पुरुषरूप में परिणत होता है। माया से तत्र एव भुवनात्मक कलादि तथा प्रकृति आदि साक्षात् या परम्परा रूप से उत्पन्न होते हैं। सारे अशुद्ध अध्या का मूलकारण यह माया ही है। आगम में जिस प्रकार इसे 'जननी' कहा गया है वैसे ही 'मोहिनी' भी कहा गया है। महामाया की स्थूल या तीसरी अवस्था का नाम प्रकृति है। यह त्रिगुणमयी है। प्रकृति साक्षात् या परम्परा क्रम से भोक्ता पुरुष के बुद्धि आदि भोग साधना को तथा समस्त भोग्य विषयों को उत्पन्न करती है। कलादि के सम्बन्ध से पुरुष भोक्ता हा गया है, इसी से उसके भोग्य तथा भोगसाधना की सृष्टि क लिये महामाया ने प्रकृतिरूप स्थूल अवस्था ग्रहण की है।

बिन्दु शिव में समवेत नहीं है यह पहले कहा जा चुका है। यही प्रचलित मत है। इस मत में बिन्दु परिणामी होने के कारण जडरूप है। इसी से

चिन्ता मरु परमेश्वर के रूप से इसका समजाय सस्य व स्वीकार नहीं किया जाता। शिव के साथ त्रिन्दु का समजाय स्वीकार करने पर उनके अचतनत्व का प्रयोग अनिवाध्य हो जायगा। प्रास्ताविक कहते हैं

स हि तादात्म्यस्य प्राजडेन जडिमात्रम् ।

शितस्थानुपमात्त्वच्छिन्तनमस्वरूपिण ॥^१

किन्तु तान्त्रिक भद्रान्तर्यामिणों से जोड़ जाइ विन्दुसमजायमान भाग। उनका मतानुसार शिव का समजागिनी शक्ति दो प्रकार की है एक तो शक्ति या ज्ञानशक्ति और दूसरी क्रियाशक्ति या तृण्डुलिनी। क्रियाशक्ति का ही कृमया नाम त्रिन्दु है। मात्रा त्रय्य ही इससे गणना भिन्न है। गायत्री शिव से समजाय नहीं होती। अपने से स्वयंसे ज्ञानशक्ति के द्वारा परमेश्वर का जगत्प्रियकर ज्ञान और क्रियाशक्ति के द्वारा उनका जगत्प्रवृत्ता उपनयनी है। ज्ञानशक्ति भिन्न भिन्न पदार्थ को प्रिय करके ही चरितार्थ करती है। किन्तु क्रियाशक्ति के बिना प्रत्युत्पादनरूप फल नहीं हो सकता। यथा ज्ञान और क्रियाशक्ति या शक्तिरथो परमेश्वर से अविनाश्रुतरूप से पतिष्ठित है।

त्रिम प्रकार त्रिन्दु का लोभ होने से शुद्ध जगत् उपन्न होता है वस ही माया का लोभ होने पर अशुद्ध जगत् का आविर्भाव होता है। अपने से समजाय शक्ति के द्वारा परमेश्वर के त्रिन्दु को स्पष्ट करने से त्रिन्दु से लोभ होकर वषय्य होता है और किसी प्रकार नहीं। अत एकमात्र साक्षात् परमेश्वर की शक्ति के प्रभाव से ही शुद्ध जगत् की उत्पत्ति हो सकती है। किन्तु माया का लोभ इस प्रकार साक्षात् रूप से परमेश्वर की शक्ति द्वारा नहीं होता।

तन्त्रमत से सृष्टि, पालन, सहार, निग्रह और अनुग्रह इन पाँच कार्या का मुख्य कर्ता एकमात्र परमेश्वर ही है, ब्रह्मादि तो केवल द्वारमात्र हैं। इसी से सर्वत्र उसे 'पञ्चकृत्यकारी' कहकर वर्णन किया गया है। इन्हीं कृत्या का सम्पादन करने के लिये शुद्ध अवाकी आवश्यकता होती है। इसीलिये त्रिन्दु के लोभ की भी अपेक्षा है। यद्यपि वस्तुतः परमेश्वर एक और अद्वितीय है तथा उसकी शक्ति भी वसी है तथापि उपाधिभेद के कारण उसमें

^१ जड के साथ यह तादात्म्य सम्बन्ध अनुपम और अतण्डु चिद्वनररूप शिव के अद्वैत का कारण होगा।

आरोपित किया हुआ भेद भी अवश्य है। जिस समय उसकी शक्ति अव्यक्त रहती है, उस समय वह निष्क्रिय, शुद्ध और सजिदरूपा होती है। उस समय त्रिन्दु भी स्थिर और अचञ्चल रहता है, क्योंकि शक्ति की सक्रिय अवस्था हुए बिना त्रिन्दु कुछ नहीं हो सकता। पर त्रिन्दु के स्वरूप के अधिष्ठाता परमेश्वर की यह लयावस्था है। यहाँ प्रसंगवश एक बात कहना उचित जान पड़ता है। प्रचलित मत में शक्ति एक होने के कारण उसमें ज्ञान और क्रिया का कोई भेद नहीं है। जो भेद प्रतीत होता है वह औपाधिक है। अतः ज्ञान भाँ सदा क्रियारूप ही है। इसी से क्रिया शब्द से प्रायः शक्ति ही समझी जाता है। जिस समय यह शक्ति सारे व्यापारों को समाप्त करके स्वरूपमात्र में स्थित होती है उस समय शिव को शक्तिमान कहा जाता है। क्रियारूपा शक्ति उस समय सुकुलिता सी हुई शिव में स्थित रहती है। यही शिव की पूर्वोक्त लयावस्था है। जिस समय यह शक्ति उन्मेष को प्राप्त होकर उद्योग पूर्वक त्रिन्दु को कार्यन्तम करके शिव के ज्ञान और क्रिया की समृद्धि करती है तब शिव की भोगावस्था होती है। परमेश्वर का भोग या परमानन्द सुखमयेदनरूप नहीं है, क्योंकि मलहीन चित्सत्ता में उपाधिभूत आनन्द और भोग की सम्भावना नहीं है। इस अवस्था में शक्ति सक्रिय रहती है। इसी से उसके साथ शिव को भी सक्रिय कहा जाता है :

स तथा रमते नित्य समुद्युक्त सदाशिव ।

पञ्चमन्त्रतनु श्रीमान् देव सकलनिष्कल ॥^१

लयावस्था में शिव को निष्कल एवं भोगावस्था में सकल निष्कल कहा जाता है। किन्तु इन दोनों के अतिरिक्त उनकी अधिकारावस्था नाम की एक और भी अवस्था है, जिसका वर्णन आगे किया जाएगा। इस अवस्था में वे सकल रहते हैं। किन्तु उनका यह अवस्थाभेद वास्तविक नहीं है, औपचारिक मात्र है। शक्ति या कला की अविकसित दशा, विकासोन्मुख दशा एवं पूर्णविकास दशा के अनुसार ही शिव के इस अवस्थाभेद की कल्पना की जाती है।

१ ये पञ्चमन्त्रतनु सकल निष्कल भगवान् सदाशिव उद्युक्त होकर सर्वदा उस शक्ति के साथ मीठा करते हैं।

शिव और शक्ति के इस अवस्थाभेद के मूल में बिन्दु का अवस्थाभेद रहता है। निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति तथा शान्त्यतीत ये कलाय बिन्दु की ही पृथक पृथक अवस्थाएँ हैं। उनमें शान्त्यतीत कला बिन्दु का स्वरूप मानी जा सकती है। वह अशुद्ध बिन्दु या लयावस्था है। शुद्ध और अशुद्ध जितने भी भोगाधिष्ठान हैं वे सब शान्ति आदि चार कलाओं के ही परिणामस्वरूप हैं। अस्तु भोगाधिष्ठान रहने पर शान्ति आदि चार कलाओं के भुवन ही समझ जायेंगे। शान्त्यतीत रूप या परबिन्दु न्यस्त कलाओं की प्रारणावस्था या लयावस्था है। अतः शान्त्यतीत भुवन ठीक ठीक भागस्थान नही है। किन्तु सृष्टि के आरम्भ में ही उपलब्ध होने के कारण किन्हीं किन्हीं आचार्यों ने इसकी भी भोगस्थानों में गणना का है। यह भाग की गीजावस्था है।

कला मकर शक्ति ही शिव के देशरूप में अभ्यस्त होती है। अतएव लयावस्था में बिन्दु का विचोभन रहने से कला का उद्भवन होने के कारण निष्कल शिव को अशरीर कहा जाता है। भोगावस्था में शिव सकल निष्कल रहते हैं, तब तक उनकी देह पञ्चमन्त्रात्मक रहती है। तन्त्रमत में शक्ति ही मात्र है, अतः वह पञ्चशक्तिमय होता है।

मननात्मवर्भावाणां त्राणात्ससारसारात् ।

मन्त्ररूपा हि तच्छक्तिर्मननत्राणरूपिणी ॥^१

यह मन्त्ररूपा शक्ति मूल में एक ही है। किन्तु उपाधिवश नाना हो गयी है। अधिष्ठान होने के कारण कार्यभेद से एक ही शक्ति पाँच रूपों में व्यक्त होती है।

सिद्धसम्प्रदाय और नाथपथ में अन्तस्साधना, पाखण्डखण्डन, मूर्तिपूजा, तीर्थस्थान, व्रत नियमादि बाह्य विधियों का विरोध, पौस्तक शास्त्रज्ञान की असारता, नादबिन्दु की चर्चा, स्वसवेद्यता तथा अनिर्वचनीयता, गुरु उपदेश का महत्व आदि तत्त्व विवेचन का ही नहीं, बल्कि भाषा का भी साम्य है। परन्तु दोनों में अन्तर भी है।

१ समस्त भावों के मनन और सम्पूर्ण ससार के त्राण के कारण वह मनन त्राण रूपिणी शक्ति मन्त्ररूपा है।

सिद्ध सम्प्रदाय

- १ निरीश्वरवादी, शून्यवादी ।
- २ शून्य ईश्वर ।
- ३ भोग ही निर्वाण का पन्था साधन ।

नाथ पंथ

- १ ईश्वरवादी, शयवादी ।
- २ 'शून्य' शिव के इतराश से युक्त ।
- ३ पातजल योग पर आधारित हठयोग की प्रक्रियाय ही साधन ।

तन्त्रयान का सहजिया सम्प्रदाय पर जो प्रभाव पडा था, उसकी चचा श्री परशुराम चतुर्वेदी ने अपने लेख (कल्पना, जुलाई १९५२) में की है। 'सहज' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ ('सह जायते इति सहज' क आधार पर) 'ज म के साथ मात्र उत्पन्न होने वाला' अर्थात् किसी भी वस्तु का नैसर्गिक रूप हुआ करता है, जिस कारण इराका प्रयोग परमतत्त्व के स्वरूप के लिए भी कर दिया गया। वह स्वसवेद्य अथवा केवल अपने आप ही अनुभवगम्य है, यद्यपि इसके लिए गुरु चरणा की सेवा भी अपेक्षित होता है (वज्रतंत्र, पृ० २२)। साधक के लिए उक्त विशुद्ध चित्र को प्रोथिम तथा नाम दिया गया था, जो निर्वाण प्राप्ति के लिये उसके दृढाकरण होने का भी सूचक था। किन्तु पूर्ववर्ती महायानी बौद्धों ने जो उसके अर्थात् 'शून्यता', 'करुणा' एवं 'उपाय' के सम्मिलन का परिणाम प्रकटाया, जो वस्तुतः सहजावस्था का ही स्रोतक था, इस प्रकार 'सहज' की उपलब्धि के लिए शून्यता का पूर्ण ज्ञान अपेक्षित था, वह 'प्रज्ञा' के रूप में किसी सुन्दरी रानी का प्रतीक बन गया और सार्वभौम करुणा को 'उपाय' कहा गया। अहर्निवज्र ने शून्यता को उसी के प्रतिभास (करुणा) की परती के रूप में चित्रित किया है और बताया है कि वह बिना अपने पति के जावित नहीं रह सकती और इस दम्पति की अभ्यर्थना पर गुरु ने कृपापूर्वक उनके बीच सहजप्रेम का सम्बन्ध प्रस्थापित कर दिया है। बौद्ध सहजिया पथ का त्रैलोक्य सहजिया सन्तों पर प्रभाव पडा, और चण्डीदास ने कहा—

सहज सहज सवाई कहय, सहज जानिबे के ।

तिमिर भधकार जेहे पाछे पार सहज जेने छे से ॥

परशुराम चतुर्वेदी के मतानुसार 'प्रसाभाव की शुद्धता एवं सम्भीरता का विचार से प्राण्य महत्त्वा लोगों की तुलना सुफिया और पाउरों से भी की जा सकती है। सूफी लोग, प्राण्य महत्त्वा का का भौति इस्क हकीकी की प्राप्ति के लिए इरममजाजी आवश्यक समझते थे।' (कल्पना, जुलू इ १९१०)। आचार्य चन्द्रशेखर पाण्डेय के 'तन्त्रयुक्त संस्कृत' (पृष्ठ २४४) के अनुसार इस विद्या-यायास का मूल प्रेरणा 'प्रसावका' लोगों की ओर से हुई था आरम्भ से पीछे, बाद में सुरिम्स बन गये। अरलामा मयद सुल्मान नदवा ने अपना प्रसिद्ध पुस्तक 'अरय न हि द क न आखुनात' में इन भलाभानि दियाया है कि पान्तय में 'प्रसावका' जोड़ थे। वरामभा के मत्रिय में अनेक ग्रथ महफ्त में अरयाम अगद्विन हुए। उदा न रहस्यविद्या थी। शाकर वदान्त को वाद दर्शन में प्रिशाप सहायता मिला। ईरान प्रभृति प्रान्तां में महायान का बोलपाग म, जिमसे वारे धारे बहुत कुदु गुह्यता और भक्ति का योग हो गया म। महायान के भीतर सहजयान आदि अनेक यान चल पड म। उही से सूफिया का विशय परिचय हुआ। इन यानों का निराण मोरा निवाण रहा म। (सफी 'फना' की तरह) इसमें भी आनन्द का पूरा प्रय ध था। इस प्रकार इसलाम के भीतर 'प्राज आसफ' के साथ ही साय बुद्ध के दो और रूप हो गये।

रामपूजन तिवारी के 'हिन्दी अनुशासन' (आश्विन-मागशीर्ष, २००७) में प्रकाशित 'सूफीमत पर बुद्ध धर्म के प्रभाव' के अनुसार—

"बुद्ध के अनुसार मुक्ति केवल शान्ति है, मय प्रकार के चाभा का अभाव है। किसी ब्रह्म से मिलन था और इसी तरह की बात को मुक्ति नहीं मानते।" अश्वघोष ने बहुत सुन्दर उदाहरण देकर इस बात को समझाया है।

निर्वाण को प्राप्त हुआ दीपक जैसे न धरती में चला जाता है, न आकाश में ही उड़ जाता है, न दिशाओं और विदिशाओं में ही जाता है, सिर्फ तेल के न रहने में शान्ति पा जाता है, वैसे ही निर्वाण को प्राप्त पुण्यात्मा न धरती में समा जाता है, न दिशाओं विदिशाओं में ही जाता, सिर्फ बलेश न रहने से शानि पा जाता है—

टीपो यथा निर्द्वलिसभ्युपेतो नैचात्रनि गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिश न काचिद् विदिश न काचित् स्नेहच्छया कवलमेति शान्तिम् ॥

एष कृती निर्द्वैतमभ्युपेतो नैत्रावर्णि शच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिश न काचिद् विदिश न काचित् क्लेशक्षयात्केवलमेति शातिम् ॥

‘फना’ की भी कई प्रकार की व्याख्याएँ की गयी हैं। फना की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि सूफी मार्ग पर अग्रसर होते हुए सारे कल्प और सारी इच्छाओं से साधक जब परे हो जाता है तो उसकी आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है और उसी को फना कहते हैं। उस समय ‘अह’ की चेतना नहीं रह जाती और इसलिये अपने पराये का भाव मिट जाता है। उस समय साधक को न सुख की चिन्ता रहती है, न दुःख की। वह उन सारी वस्तुओं से अलग हो जाता है जिनसे सुख दुःख की प्राप्ति होती है। साधक की सारी वासनाओं, सारी आकांक्षाओं का अवसान हो जाता है। वह परमात्मा को लेकर ही मस्त मौला बना रहता है। उसके व्यक्तिगत जीवन की कोई सार्थकता नहीं रह जाती। इसे ही ‘सूफी मत’ कहते हैं। ‘फना’ आत्मा की एक ऐसी ऊर्ध्व गति है^१ जबकि सारी आकांक्षाएँ, सभी स्वार्थ, सांसारिक माया मोह नष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार से जब वह स्वचिन्तन से विरत हो जाता है, तब वह स्वयं परम प्रियतम की चिन्ता का विषय हो जाता है। प्रेमी और प्रेमाराध्य का ऐक्य स्थापित हो जाता है। फना की यह व्याख्या बहुत कुछ निर्वाण की तरह से की गयी है, जिसमें निर्वाण से मतलब मन की शान्तावस्था समझा जाता है। बहुत लोगों ने यह भी कहा है कि फना की प्राप्ति मृत्यु के बाद होती है। निर्वाण के सम्बन्ध में भी कुछ लोगों ने ऐसा ही कहा है। बौद्ध धर्म में जैसे यह समझा जाता है कि बिना बुद्ध के बताये हुए मार्ग पर चले निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार सूफीमत में समझा जाता है कि बिना ‘सूफी मार्ग’ पर चले फना की प्राप्ति नहीं हो सकती। ‘मार्ग’ का प्रयोग सूफी सिद्धान्तविशेष के लिए नहीं करते। दोनों में ‘मार्ग’ का एक विशेष अर्थ है। यह वह आध्यात्मिक मार्ग है, जिस पर साधक चलता है और कई मजिहों और अवस्थाओं को पार कर निर्वाण या फना प्राप्त करता है। इस मार्ग पर यात्रा करने की प्रवृत्ति और आकांक्षा जिन व्यक्तियों में होती है, वे एक विशेष कोटि के समझे जाते हैं। सूफी उन्हें ‘सालिक’ कहते हैं और बौद्ध ‘श्रोत भाषण’ कहते हैं।

परमात्मा का समावेश बौद्ध धर्म में नहीं, लेकिन सूफियों के सारे सिद्धान्तों की भित्ति परमात्मा ही है। परमात्मा के सर्वव्यापक और सर्वगन रूप को लेकर ही सूफियों के सिद्धान्त स्थिर हुए हैं। जब सूफी यह कहते हैं कि आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाता है, तब उनका मतलब यह नहीं होता कि वह कुछ नहीं रह जाता, बल्कि उससे यह समझा जाता है कि वह सर्वव्यापक सत्ता में विलीन होकर उसका अंग बन जाता है। गोल्डजिहर ने बतलाया है कि व्यक्ति का नाश नहीं होता बल्कि वह परमात्मा के साथ एक हो जाता है। सर्वव्यापक सत्तारूपी अतल महासागर में एक बूँद की तरह वह विलीन हो जाता है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रह जाती। यही सूफियों का निर्वाण है। फारसी सूफी वायजीद्विस्तामी ने फना की व्याख्या हिजरी सन् की तीसरी शताब्दी में इसी प्रकार से की थी, लेकिन उसके बाद अबू सईद अल खराज ने फना के बाद की स्थिति पर भी प्रकाश डाला है। अल खराज ने फना (आत्मा का विलीन होना) को चरम लक्ष्य नहीं माना है, बल्कि उसने 'बका' को चरम लक्ष्य माना है।^१ 'बका' का मतलब उस अवस्था से है, जबकि आत्मा परमात्मा में वास करने लगता है, उसके साथ एकमेक होकर रहता है। इस्लाम के धार्मिक सिद्धान्तों में पूर्ण रूप से आस्था रखने वाले सूफी साधक अल खराज के इस विचार से सहमति रखते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि वास्तव में फना की स्थिति ही साधना की चरम परिणति है और उसके बाद वाला स्थिति 'बका' पर जो बाद में जोर दिया जाने लगा उसके पीछे सूफियों का अपने को इस्लाम धर्म का पूर्ण रूप से अनुयायी साबित करने का आग्रह मात्र था। कुछ दूर तक यह बात सही भी हो सकती है। लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि सूफीमत का आविर्भाव इस्लाम से ही हुआ है और इस्लाम धर्म यह मानता है कि आत्मा की सत्ता किसी भी अवस्था में बनी रहती है, वह विनष्ट नहीं होती। अतएव सूफियों का झुकाव इस तरफ होना कुछ अस्वाभाविक नहीं है। चाहे जो हो, इससे इतना पता तो अवश्य चलता है कि प्रारम्भिक काल में और 'बका' के सिद्धान्त के धावजूद

१ जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, पृष्ठ १२७।

२ निकरसन दी आइडिया आफ पर्सनेलिटी इन सूफिज़्म, पृष्ठ-१४।

आज भा फना का स्थान सूफीमत में प्रवृत्त ही महत्त्वपूर्ण है और इसमें जोद्धर्म का निवाण की हम झलक मिलता है।

फना की प्राप्ति साधक को तभी होता है, जब वह सूफा मार्ग (तरीका) पर चलता है। साधक इस मार्ग की कइ मजिल और अवस्थाएँ पार करके अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करता है। इसी मार्ग की सबसे बड़ा और महत्व की मजिल है 'मुराक़ा'। यह सूफियों का ध्यानावस्था है। इस मजिल की सफलता पर ही साधक फना प्राप्ति की आशा रख सकता है। इस मजिल में उमदी 'अह' भावना का पूर्ण निरसन हो जाता है और परमात्मा के साथ उसके, 'मिलन' का मार्ग खुल जाता है। सूफियों के इस मुराक़ा की प्रवृत्त कुछ समानता बौद्ध 'यान' अथवा 'समाधि' से है। समाधि की अवस्था में मन शांत हो जाता है। उसे किसी प्रकार का राग या आसक्ति नहीं रह जाती। वह निराम हो जाता है। ध्यानावस्था में वह अपने अस्तित्व ज्ञान से रहित हो जाता है। लगता है, जैसे बौद्धों के 'ध्यान' और 'समाधि' की कल्पना ने ही सूफियों में 'मुराक़ा' का रूप ले लिया हो।

सूफियों ने बौद्ध साधकों के एकान्त सेवन का देखकर ही सम्भवतः 'खिलवत' को सूफी साधना के लिए महत्त्व का स्थान दिया। इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है, लेकिन सूफियों का जितना अधिक जोर एकान्त सेवन पर रहा है, उसे देखते हुए ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि वह बौद्धों से लिया गया है। 'खिलवत' को इतनी प्रमुखता देने के मूल में बौद्धों के 'विवेक' (एकांत) का सिद्धान्त है। सूफियों ने इस पर इतना जोर दिया है कि उनका कहना है कि एकान्त सेवन तो जीवन भर करना चाहिए, लेकिन यह शरत सम्भव है तो साल में कुछ काल के लिए भी साधक को एकान्तवास करना चाहिए। खिलवती साल भर में ४० दिन एकान्त सेवन करते हैं और मिश्र के दैमिरदशी धर्म से कम साल भर में तीन दिन। एकान्त सेवन के समय साधक का सम्पूर्ण सत्त्व से विचकूल नही रहता। उस समय वह झोला तक नहीं। बौद्ध धर्म में 'विवेक' के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। 'चन्द्रदीपसूत्र' ('शिक्षासमुच्चय' पृष्ठ-१९५) में कहा गया है

पतपण्ड मेवय विविक्त मना विचरिषु ग्रामनगरेषु रविषु ।

अद्वितीय मृगयामम भाग सदा न चिरंण लप्स्यस्य समाप्तिरसम् ॥

अमात् अकले जगल का सेवन करो । गाँव नगरों का भ्रम छोड़ दो ।
बिना किसी दूसरे के मना मृगय (गड्डे के भाग) के समाप्त करना । इस तरह
श्रेष्ठ समाधि मिलते दर न लगना । इसी प्रकार से धर्मपद का साधना भी
विविक्त (एकान्त) का महिमा ही हुई है

‘बुद्धिमान को चाहिए कि पाप धर्म को छोड़कर पुण्य धर्मों का साधना
करे । परम प्रथम होकर विद्वान् (एकान्त) में निश्चय करने का छोड़
अभिरमण का इच्छा करें तथा अपने आपको चित्त क्लेशों से अलग रखे ।’^१

एक उदाहरण और कहा गया है—

‘लाभ का मार्ग दूसरा है और निर्वाण का मार्ग दूसरा । इस ध्यान को
छुड़ कर श्रावक भिक्षुओं को समझ लेना चाहिए और उन्हें चाहिए कि वे धार
का अभिनय न कर पर विवक (निर्जनता) का स्वन करें’^२ ।

लक्ष्य करने की बात यह है कि सूफीमत के फना, सुरास्वा, गिलखन
आदिक सिद्धान्तों पर जौद्ध धर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव दीर्घ पड़ता है, लेकिन
ऐसा नहीं कहा जा सकता कि सफियों ने इन सिद्धान्तों की ही वह नकल की
है । बहुत समय ऐसा भी होता है कि समान परिस्थिति और समान कारणों
के फलस्वरूप दो धर्मों के कुछ सिद्धान्तों में समानता निश्चय है अथवा
उन्हें अन्य धर्मों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव मानने में सकोच नहीं होगा ।
फान श्रेमर ने सूफीमत पर दो प्रत्यक्ष प्रभावों को माना है १ इयाइ न्वाधकों
का तापली जीवन, और बाद में चलकर २ जौद्ध चिन्तन धारा ।

जौद्ध चिन्ता के द्वारा इस्लाम की रहस्यवादी प्रवृत्तियों में जो
महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, फान श्रेमर ने उन्हें ही अमली सूफीमत
माना है ।^३ फान श्रेमर का यह मत कहीं तक सत्य है, यह विचारणीय
बात है । इससे विपरीत प्राउन^४ ने सूफीमत पर जौद्ध धर्म और

१ धर्मपद गाथा, ८७-८८ ।

२ वही, गाथा ७५ ।

३ प्राउन फिट्ठीर्री हिस्ट्री आफ पणिथा, पृष्ठ-३०० ।

४ वही, पृष्ठ-३०१ ।

भारतीय वदान्त दर्शन का प्रभाव कतई स्वीकार नहीं किया है। ब्राउन के अनुसार सूफीमत का विकास जास्टिक तथा नव अफलातूनी दर्शन के आधार पर हुआ। गोश्डजिहर^१ ने इस मत का प्रत्याख्यान करते हुए बताया है कि ब्राउन के जैसे मत रखनेवाले विद्वानों का ध्यान इस ओर नहीं जाता कि जिन पूर्वी क्षेत्रों में सूफी मत का विकास हुआ, वहाँ नव अफलातूनी सिद्धान्तों एवं उसके सदृश अन्य सिद्धान्तों का पहुँचना कठिन था। अतएव उसका कहना है कि जैसे-जैसे इस्लाम का प्रसार अन्य देशों में होता गया, सूफीमत में पारिपाश्रिक परिस्थितियों के कारण नयी नयी चीजों का समावेश होता गया। उसने बौद्ध धर्म के प्रभाव को स्वीकार किया है।

चाहे जो हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि सूफी मत के आविर्भाव तथा विकास में अन्य धर्मों का प्रभाव रहा है। लेकिन यह प्रभाव नकल के रूप में नहीं रहा है, बल्कि उसे सूफी तत्त्वचिन्तकों ने अपने ढंग से अपनाया है और सूफीमत का विकास इस्लाम धर्म को ध्यान में रखते हुए ही हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्ध, नाथपथ, सहजयान और सूफीमत परस्पर निगठित हैं। नाथपथ और योग का तो बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध था, जैसे पहले बताये चार्ट में कहा है। डा० पीताम्बर दत्त बडधवाल की मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित 'मकरन्द' के 'नाथपथ में योग' नामक निबन्ध में इस समस्या पर विचार है।

नाथपथ शुद्ध साधना का मार्ग है। अपने सिद्धान्तों की सार्थकता उसमें यही मानी जाती है कि उनका इसी जीवन में अनुभव किया जाए। नाथपथ का तात्विक सिद्धान्त है कि परमात्मा 'केवल' है, वह भाव और अभाव दोनों के परे है। उसे न 'वस्ती' (भाव) कह सकते हैं न 'शून्य' (अभाव), यहाँ तक कि उसका नाम भी नहीं रक्खा जा सकता

वस्ती न सुन्य सुन्य न वस्ती अगम अगोचर ऐसा ।

गगन सिखर मद्दि बालक बोलहि वाका नाव धरहुगे कैसा ॥

—(गोरख सबद)

^१ जरनल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, पृष्ठ-१३१-१३२।

इसी केवलान्वया तक पहुँचना जीव का मार्ग है। साधक की दृष्टि से उतना महत्व सिद्धान्त का नहीं है, जितना उस सिद्धान्त को अनुभूत सिद्धि तक पहुँचाने वाले मार्ग का, जिसके बिना सिद्धान्त की कोई सार्थकता नहीं। आत्मा परमात्मा का सिद्धान्त रूप से चाहे जो सम्बन्ध माना जाए, व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्ति का मोक्ष उन दोनों का सम्मिलन, या ऐक्य ही कहलावेगा। इसी कारण कैवल्य मोक्ष भी योग कहलाता है। नाथपथ इसी योगानुभूति तक पहुँचने वाला पथ है। उसका एकमात्र ध्येय योग की युक्ति बताना है, जिसको जाने बिना जीव पिंजरे में सुपु की तरह पराधीन है

सस धातु का काया प्यजरा ता माहिं जुगति विन सूवा ।

सत गुण मिलै त उबरै बाबू नहि तौ परले हूवा ॥

—(गोरख)

इस 'गति' में स्वभावतः प्रथम दृष्टि काया की ओर जाती है, क्योंकि वही जीव की पराधीनता का प्रत्यक्ष कारण है। काया की विनश्वरता ही सब से पहले मनुष्य की परवशता प्रकट करती है, एक बृहत् प्रश्न के रूप में खड़ी होकर वही मनुष्य की अन्वेषण वृत्ति को उत्तेजित करती है। अभ्यास की ओर प्रेरणा करनेवाली जिज्ञासा का आरम्भ इसी प्रश्न को लेकर होता है

आवे सगे जाय अकेला । तार्थ गोरख राम रमेला ।

काया हस सगि हूँ आवा । जाता जोगी किन्हु न पावा ।

जीवत जग में मुआ मसाण । प्राण पुरिस कुल किया प्रयाण ।

जामण मरण बहुरि वियोगी । तार्थ गोरख भेला योगी ॥

अतएव शरीर विचार से योग का आरम्भ होना स्वाभाविक ही है

आरम्भ जोगी कधीला एक सार ।

पिण पिण जोगी कौ सरीर विचार ।

बहुत सी आध्यात्मिक प्रणालियों में शरीर शत्रुदृष्टि से देखा जाता है और उसे नाना प्रकार से कष्ट दिया जाता है। परन्तु वस्तुतः शरीर हमारा शत्रु नहीं। आत्मा ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए उसे धारण किया है। यह हमारा दोष है कि हम अपने मूल उद्देश्य को भूलकर साधन को ही साधन समझ बैठे हैं, जिससे तामस रूप होकर काया तमसावृत हो गयी है। परन्तु यह शरीर वस्तुतः सत्यस्वरूप आत्मा का मन्दिर है

यह तन साच, साच का घरना । रुध्र पलट अमीरस भरवा ।^१

—(गोरस)

इसका सदुपयोग होना चाहिए, दुरुपयोग नहीं । जो कपल उसे पालन पोसने आर सुख देने म लग रहत हैं तथा जो केवल उसे कष्ट ही किया करते हैं, वे दोनों ही शरीर का उपयोग नहीं जानते । इसी से गुरु गोरसनाथ कहते हैं—

कद्रप रूप तया का मण्डन अत्रिर्था काई उलाचो ।

गोरस कह सुर्णा रे नांदू अरड अभी कत सींचो ॥

इसी दुरुपयोग क कारण आत्मभूष का यह गढशत्रु काल के हाथ म पड़ गया है । अतएव आग्रथ्यन्ता यह ह कि कायागढ़ को शत्रु के हाथ से लेकर उसके स्वामी को तोप दिया जाए

भणत गोरस काया गढ लावा, काया गढ लेवा,

जुगि जुगि जीवा ।

काया पर काल का प्रभाव जरा और मृत्यु से प्रकट होता है । समय बीतने के साथ शरीर म भी परिवर्तन होता जाता है और बूढ़ा होकर मनुष्य मर जाता है । शरीर को काल क प्रभाव से बाहर तब समझना चाहिए जब वह जरा, मृत्यु आदि विचारों से रहित होकर सदैव बालस्वरूप रहे । इसी बालस्वरूप को नाथ योगियों ने अपना लक्ष्य बनाया । इसी दृष्टि से रमेश्वर योगियों ने रस (पारा) आदि रसायनों का आविष्कार किया था । उनका विश्वास था कि शरीर मे जिन रासायनिक परिवर्तनों से जरा आती है, रसायनों के प्रयोग से वे रूक जाते हैं और शरीर अजर हो जाता है । परंतु रमेश्वरों का दावा सजाँश म सत्य नहीं था । रसायनों का गभात स्वाधी नहीं होता था । इसलिए नाथ योगियों ने उन्हें सिद्धि प्राप्ति में असमर्थ बतलाया ।

१ मूलन कैवल्यानुभूति ही योग कहलानी है, किंतु लक्षणा से अनुभूति तक पहुँचाने वाले साधन भी योग कहलाते हैं । जनसाधारण म योग का सही लाक्षणिक प्रयोग रूढ़ हो गया है ।

मान रूप सीझै राज । तो कत रात्रा छाड रात्र ।
जडी बूटी भूल मत कोई । पहला राड उद की होई ।
जडी पूदा अमर ज करे । तां प्रत धनतर माः मरे ।

—(गारग)

परन्तु उन्होंने रसेन्द्रा के मार्ग का सर्वथा त्याग नही किया । सर्वथा के लिए न सटा, कुछ काल के लिए तो वह शरीर को राग और चम से उखा रगते प्र, अतएव गनी प्रती इयात्मिका के द्वारा कायाकल्प करना उन्हाने योग की युक्ति म सहायक माना है और यम नियम आदि आरम्भिक प्राता के माय सा प्र उमका विधान किया है

अभ्र अहार ताडा, निद्रा मोडा, कबहुँ न हाइयो रागी ।
छट छमाम काया पलटिया नाम बग बुनामपना जागी ॥

यही काम नेति, धौनि, वस्ति, नाली भादिषट्कर्मों से होता है । कायाशुद्धि का लक्षण यह है

पडे उडे कृते मोट मोटे पत्र । नहीं रे पूता गुरु से भेट ॥
खड खड काया निरमल नेत । भइ रे पूता गुरु से भेट ॥

शरीर की चञ्चलता के लिए आत्मना का विज्ञान है । योगियों के अरुरूप आसनों की भी संख्या चौरामी लाख है, परन्तु प्रधान आसन दो है—पद्मासन और सिद्धासन ।

काल विजय की इच्छा से प्रहुत प्राचीन काल म योगींनी शरीर पर विचार करते चले आ रहे है, जिमसे एक विलक्षण सूक्ष्म शरीरविज्ञान का निर्माण हुआ है और शरीर म नाडी, चासठ मधि, पटुचक्र, पांडशाधार, दश वायु, कुंडलिनी आदि महत्वपूर्ण तत्वा का पता लगा है । सार रूप म इतना ही रहता अलम् होगा कि उससे अनुसार सहचार म स्थित गगन मण्डल (ब्रह्मर अ) म ओडे मुँह का अमृत रूप है (यहां चन्द्र तत्व कहलाना है) जिमसे निरंतर अमृत शरता रहता है । जो इस अमृत का उपभोग कर लता है, वह अजरामर हो जाता है । परन्तु युक्ति न जानने के कारण मनुष्य उसका उपभोग नहीं कर सकता और वह चन्द्रक्षेत्र मूलाधार म स्थित सूर्यतत्व के द्वारा सोख लिया जाता है

गगन मडल में धौंधा कुआ तहां अमृत का वासा ।

सगुरा होईं सु भर भर पीया निगुरा जाईं पियासा ॥

—(गोरख)

ऐसा जान पड़ता है कि रेतस् इस सूक्ष्म तत्व का व्यक्त रूप है । ब्रह्मचर्य में स्थित होने वाले के लिए बिन्दु रक्षा इतनी आवश्यक है कि बिन्दुरक्षा का नाम ही ब्रह्मचर्य पड़ गया है । शरीर की हड़ता के लिए भी रेतोधारण की बड़ी आवश्यकता है । यह तो स्पष्ट है कि बिन्दुनाश से शरीर के ऊपर काल का प्रभाव शीघ्र पड़ने लगता है और वह जराप्रस्त हो जाता है । नाथ योगियों ने बिन्दु रक्षा पर विशेष जोर दिया है

व्यद ही जोग व्यद ही भोग । व्यदहि हेरे जे चौसठि रोग ॥

या व्यद का कोई जाणै भेव । सो भापै करता भापै देव ॥

सांसारिक भोग लिप्सा हमारे नाश का कारण है । कामिनी के निकट पुरुष जैसे ही नष्ट हो जाता है, जैसे नदी किनारे का पेड़^१ । अपने योगाभ्रष्ट मत्स्येन्द्रनाथ को उद्दिष्ट कर गुरु गोरखनाथ ने कहा

गुरु जी ऐसा काम न कीजै । ताथैं अमी महारस छीजै ॥

नदि तीरे विरिखा, नारी सगे पुरखा, अल्प जीवन की भासा ।

मन थैं उपजी मेर सिखि पबई, ताथैं कद विनासा ॥

गोड भये डगमग, पेट भया ढीला, सिर बगुला की पखियां ।

अमी महारस बाधणि सोधया ॥

इसी से बिन्दुपात से योगी अत्यन्त दुखी होता है

कत गया क्व कामिनी झरे, बिंद गया कू जागी ॥

जिस एक बूँद में नर नारी पच सरते हैं, उसी के द्वारा सिद्ध अपनी सिद्धि साधते हैं

एक बूँद नर नारी रीधा । ताहि में सिध साधिक सीधा ॥

जो बिन्दु रक्षा नहीं करता, वही योग की दृष्टि में सब से नीच है

१ तैल्लुयु सन्त कवि वेमना ने भी ठीक यही उपमा दी है
कील जूचिनरु चित्रदु निलुकड । चेतकेक तातु नेडुनुगादे । एदिवट्टम्रान देंदाक चिल्लुनु ॥

ज्ञान को छोटा, काङ्क का लोहडाँ।

इद्री का लड्डबडा, जिह्वा का फूहडा।

गोरख कहै ते पारित्त चूहडा ॥

अतएव योगी को शरीर और मन की चञ्चलता के कारण नीचे उतरने वाले रेतस को हमेशा ऊपर चढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। योगी के ऊर्ध्वरेतरत्व की बड़ी कठिन परीक्षा है

भगि मुखि बिन्दु, अग्नि मुखि पारा।

जो राखे सो गुरु हमारा ॥

धजरि करता अमरी राखे, अमरि करता नाई।

भोग करता जे व्यद राखे, ते गोरख का भाई ॥

अमृत के आस्वादन के लिए योग ने कई युक्तियों का आविष्कार किया है। विपरीतकरणी मुद्रा, जालधरबध, तालुमूळ में जिह्वा पलटना, कुडलिनी-जागरण, सब इसी उद्देश्य से किये जाते हैं, परन्तु श्वासक्रिया का, बिन्दु-स्थापन और अमृतोपभोग में विशेष महत्व है। मनुष्य का जीवन श्वासक्रिया के ऊपर अवलम्बित है। जब तक सास चलती रहती है तभी तक आदमी जीता है, प्राण रहते ही तक वह प्राणी है। श्वासक्रिया का बन्द होना हमारे ऊपर काल की सबसे बड़ी मार है

वायू बध्या सकल जग, वायू किनहुँ न बध।

चाईं विद्वणा ढहि पचै, जारै कोई न सध ॥

परन्तु यदि श्वासक्रिया के बिना भी हम जीवित रह सकें तो कहना चाहिए कि काल की मार का हमारे ऊपर कोई असर नहीं है। इसी से योगी प्राणविजय को उद्दिष्ट कर प्राणायाम करता है। पूर्व प्राणविजय 'केवल' कुम्भक के द्वारा सिद्ध होती है। केवलकुम्भक में श्वासक्रिया एकदम रोक दी जाती है। पूरक और रेचक की उसमें आवश्यकता नहीं रहती। इससे प्राण सुषुम्ना में समा जाता है और सूर्य चन्द्र का योग सम्भव हो जाता है।

प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु मात्र नहीं, दशों वायु दश में भा जाते हैं। परन्तु इसके लिए शरीर में वायु के आने जाने के सब मार्ग बन्द कर देना आवश्यक होता है। शरीर के रोम रोम में नाडीमुखों का अन्त है, जिनके

श्री रामपूजन निवारण का 'भारतीय योग क पटचक्र और सूफीमत' यह लघु
इस मन्त्र में बहुत महत्वपूर्ण है

'कहा जाता है कि सन् ईसवी की ग्यारहवा शताब्दी में शैख अहमद ने
लतायफामित्ता के सिद्धान्त को इजाजत किया। शैख अहमद सूफियों के नवश
बन्दी सम्प्रदाय के थे। मित्ता का अर्थ छह और लतायफा का अर्थ सूचक
अवस्थान है। लतायफ का सिद्धान्त बहुत कुछ योग क चक्रों जैसा है। सूफी
मत का अध्ययन करने वाले यूरोपीय विद्वानों ने इस सम्मानता का उल्लेख
किया है। लुइ सायिनो का कथना है कि सूफियों के 'जिक्र' की क्रियाओं में
हिन्दू योगियों के कुछ क्रियाकलापों को देखा जा सकता है।^१ इसी प्रकार से
वान फ्रेमर के साथ गोल्डजिहर इस बात पर परमत्त है कि सूफियों में
भावनिष्ठता को उत्पन्न करने वाली कुछ क्रियाएँ तथा प्राणायाम आदि
जैसी क्रियाएँ भी निम्नलिखित सूफीमत में भारतवर्ष से आयी हैं।^२

लतायफामित्ता के सिद्धान्त और शरीर क भातर उनकी स्थिति बहुत कुछ
योग की कुण्डलिनी और चक्रों पर आधारित है।^३ शैख अहमद ने मनुष्य के
शरीर में नाभि से गर्दन तक छह अंगुलानों का जिक्र किया है जो एक दूसरे
को घेर हुए हैं। ये योगियों का कुण्डलिनी जन्मे हैं। यद्य निम्नलिखित हैं^४

नफस	हृदयका स्थान नाभि के नीचे है।
कवच	छाती की दाईं ओर अवस्थित है।
रूह	छाती की दाईं ओर अवस्थित है।
सिर्र	कवच और रूह के बीच है।
खसी	हृदयका स्थान ललाटे है।
अरफा	मस्तिष्क में अवस्थित है।

१ प सायक्योपाधिया आफ इस्लाम, खण्ड ८।
२ दार्इस इण्डियन इस्लाम प्रकाशन सन् १९३० इस्वा पृ० १५० पर उद्धृत।
३ राजा खौं (स्टडीज इन दस-बुफ, पृष्ठ-८१ तथा जान प० सुभान) सूफिज्म,
पृष्ठ-१४९।
४ शाह मुहम्मद गौंअ अतराहत तरीकत (उर्दू अनुवाद) जान प० सुभान द्वारा
लिखित 'सूफिज्म' के ६२ पृ० पर उद्धृत।

कुछ लोगों के मतानुसार अस्फा छाती के मध्य स्थित है और सिर का स्थान कर्ण और अस्फा के बीच है। इनके रगा तथा प्रत्येक स्थान के देवता की भी कल्पना की गयी है। जैसे कर्ण का रग पीला है और आदम के कदमों के नीचे यह स्थित है। रूह का रग लाल है और अब्राहम के पद तले इसका स्थान है। इसी प्रकार से सिर उजला, खफी काला और अस्फा हरे रग का है और मूसा, यीशु तथा मुहम्मद के पैरों के नीचे ये अवस्थित हैं। कुछ लोगों का कहना है कि नफस नील वर्ण का है। सूफी साधकों का कहना है कि जब नफस पूर्ण रूप से अदृश्य हो जाता है, तब उज्ज्वल वर्ण का आधिपत्य हो जाता है। साधक जिस अवस्था को प्राप्त होता है, वह उस रग का शिरस्त्राण धारण करता है और उस रग को देखने से उस साधक की आध्यात्मिक यात्रा की मजिल का पता चलता है। साधारणत रूह का रग हरा हो जाता है। आखिरी मजिल वह है, जब वर्णहीनता का आधिपत्य हो जाता है। उसमें साधक फना की अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

सूफी साधक के लिए परमात्मा के अनवरत स्मरण द्वारा इन लतायकों को जागृत करना आवश्यक है। जिक्र आदि की विशेष क्रियाओं द्वारा सूफी एक के बाद एक लतायकों को जागृत करने में समर्थ होता है और अन्त में उसे प्रकाश के दर्शन होते हैं। कहा जाता है कि जैसे जैसे सालिक (साधक) ऊपर की ओर बढ़ता है, वह भिन्न भिन्न रंगों को देखता है।

योग में छ चक्रों और कुण्डलिनी का वर्णन है। शरीर में छ चक्रों के स्थान बताये गये हैं। साधक नाना प्रकार की साधनाओं द्वारा चक्रों का भेदन करता है और कुण्डलिनी शक्ति को ऊपर की ओर उद्वुद्ध करता है। योग के पट्चक्रों के भी स्थान, देवता और रंग बताये गये हैं, जो पहले दिये गये हैं।

योग के प्राणायाम, ध्यान आदि से सुफियों के 'जिक्र' की क्रियाओं की बहुत कुछ समानता है। 'जिक्र' की क्रियाओं के सम्बन्ध में कहा गया है कि सालिक को अपनी आँखें बन्द कर लेनी चाहिए तथा जीभ से ओठों को दबाए हुए रहना चाहिए। हृदय का आकार सरोगाड़ की तरह नुकीली आकृति का बताया गया है। 'जिक्र' का जप करते हुए हृदय पर ध्यान लगाये रखना

चाहिए। 'ला' को ऊपर की ओर, 'इलाह' को दाहिनी ओर तथा सम्पूर्ण 'ला इलाह इल्ल अल्लाह' को हृदय के सुकीले बिंदु पर केन्द्रित करना चाहिए, ऐसा करने से ससार तथा उसके प्रलोभन साधक के मन से दूर हो जाते हैं और वह परमात्मा की विभूति के दर्शन करता है और बाद में उसके एकत्व का उसे बोध होता है।^१ एक जगह और कहा गया है कि 'जिक्र' में सात्विक अपनी आंखों तथा ओंठों को बन्द कर, अपने निश्वास प्रश्वास पर ध्यान लगाये रहता है। जब वह निश्वास छोड़ता है तो सोचता है जैसे वह 'ला इलाह' कहता है और जब श्वास भीतर खींचता है तो वह 'इल्ल अल्लाह' कहता है। कुछ दरवेशों का कहना है कि मनुष्य जाने या अनजाने 'अल्लाह' का नाम लेता रहता है। जब वह श्वास भीतर खींचता है तब 'अल' कहता है और जब श्वास छोड़ता है तो 'लाह' कहता है। यह स्वाभाविक प्रक्रिया है।^२ योगशिखोपनिषद् के 'मन्त्र' योग में कहा गया है कि जीव के निश्वास प्रश्वास में 'ह' और 'स' वर्ण उच्चरित होते हैं। 'ह'कार के साथ प्राणवायु बाहर आती है और 'स'कार के साथ भीतर जाती है। इस प्रकार जीव सहज ही 'ह' 'स' इम मन्त्र का जप करता रहता है। हठयोग से जड़िमा नष्ट होती है और आत्मा परमात्मा का अभेद सिद्ध होता है। इसके बाद वह लययोग शुरू होता है, जिसमें पवन स्थिर हो जाता है और आत्मानन्द का सुख प्राप्त होता है।^३

वस्तुतः सूफी सम्प्रदाय ईसा की बारहवीं सदी के उत्तरार्ध में उत्तर भारत में आया। हिन्दू मुस्लिम दोनों समाजों में उसके प्रति आदरभाव बढ़ा। प्रा० न० २० फाटक अपने मराठी ग्रन्थ 'श्री एकनाथ वाङ्मय आणि कार्य' (पृष्ठ-३७-३८) में कहते हैं कि 'सूफी सम्प्रदाय के इतिहास और शिष्टा का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर उसका बहिरंग इस्लामी जान पड़ता है, परन्तु अन्तरंग में प्राचीन हिन्दू दर्शन के बीज मिले बिना नहीं रहते। ईश्वर का साक्षात्कार इस सम्प्रदाय का अन्तिम आदर्श है और उसकी प्राप्ति के सोपान हिन्दू भक्ति की नौ सीढ़ियों से अज्ञात नहीं तो सर्वांश में मिलती-जुलती

१ ह्गेस डिकशनरी आफ इस्लाम, पृष्ठ-७०४।

२ टारटस इडियन इस्लाम, पृ०-११५।

३ डा० इजारी प्रसाद द्विवेदी नाथ सम्प्रदाय, पृ० १२८-१२९।

हे ।' फाटक जी के अनुसार अजमेर के राजा सुईनुद्दीन चिश्ती (मृत्यु १२३९) सफी सम्प्रदाय का श्रेष्ठ पुरुष था। इसके अनुयायियों में हुसेनी ब्राह्मण नामक एकवर्ग है और वह अपने आपको अथर्ववेदी कहता है। अथर्ववेद में हिन्दू मुसलमानों के धर्ममन्त्र एकत्रित हैं, ऐसा इनका सिद्धांत है। सूफिया की शहादुल्ला शाखा में अथर्ववेद को अपना धर्मग्रन्थ माननेवाले और 'निष्कलक' नामक परम तत्त्व की उपासना करने वाले कई लोग हैं। एकनाथ के कुछ वया बाद महाराष्ट्र में शायद सुहम्मद ने 'निष्कलकप्रबोध' नामक ग्रन्थ लिखा। सुइनुद्दीन चिश्ती की परम्परा इस प्रकार से है, चाया फरीउद्दीन (मृत्यु-१२६५) शिष्य निजामुद्दीन ओलिया (तुगलकों के जमाने में प्रसिद्ध), सुबतान का गहाउद्दीन जकरिया (मृत्यु १२६६) शिष्य जलालुद्दीन सुखपोश (मृत्यु १२९१), उसका पोता मयदूम जहानिया (मृत्यु-१४८४)। उसके पोते तुरहानुद्दीन कुतुब-उ-गालम (मृत्यु-१४५३) ने गुजरात में सूफीमत का प्रभाव प्रकाशित किया। यह सत्र ऐतिहासिक तथ्य हिन्दी के निर्गुण सन्त कवियों पर इन सब देशज और विदेशी प्रभावों के एकरंग होने का प्रिय सं प्रयास है।

अध्याय ३

दार्शनिक विठ्ठल और मान्यताएँ

अद्वैतवाद, सहज और निरंजन, जीव, जगत् (माया) और

परमतरु की परिकल्पना

करीर का प्रसिद्ध पद है—'सन्ता । सहज समाधि भली ।' यह 'समाधि' शब्द हमें उपनिषद्वादी में मिलता है । समाधि का अर्थ है यान, समस्त मरुत्तों से शून्य हो जाना । जावालदशनोपनिषत् (१०११) में कहा गया है 'जीवात्मा तथा परमात्मा के ऐक्यज्ञान के उदय को ही समाधि कहते हैं ।' सौभाग्यलक्ष्योपनिषत् में १६ व अनुवाक में इसी परिभाषा में यह भी जोड़ दिया गया है कि जीवात्मा परमात्मा का एतद्, जिसमें सकल की समस्त क्रियाएँ विनष्ट हों, उही 'समाधि' है । अत्रपूर्णापनिषद् (११५०) में इसीको मशयग्रहित मानसिक पूर्णता कहा गया है (११५०) । शाङ्ख्योपनिषद् (११११) में 'समाधि' को 'जीवात्मा परमात्मा की उह एकता कहा गया है, जिसमें ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञान का भेद न बचे और जो परमात्मानन्दरूपा तदा शुद्धचेतन्यात्मिका है ।' पातञ्जलयोगविवृति (३) में 'तद्व्यर्थमात्रनिर्भास स्वरूपशून्य यमिव समाधि' अर्थात् ध्यान का स्थिरता के साथ साधक का मन अपने ध्येय से जो तदाकार हो जाता है और उसका 'अधुनपौ' विसर जाता है, इती अत्रत्या को समाधि कहते हैं । धरण्डसहिता के अनुसार

घटाद्भिन्न मन कृत्वा ऐक्य कुर्यात्परात्मनि ।

समाधि तद्विजानीयान्मुक्तसन्ता दशाविभि ॥

अहं ब्रह्म न चान्योस्मि ब्राह्मवाह न शोकभाक् ।

सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्त स्वभाववान् ॥

(सप्तमोपदेश ३१४)

इसका भावार्थ है “मन को शरीर से भिन्न करने का जोर परब्रह्म के एकात्म बनने का नाम ही ‘समाधि’ है। जो योगी समाधि साधना करता है, उसको ज्ञान उत्पन्न होता है कि ‘अहं ब्रह्मास्मि’—मैं शोकरहित नित्यमुक्त तथा प्रह्लाप्रकृतिस्थ हूँ।”

यह ब्रह्मप्रकृतिस्थ होना ही सन्तों का ‘सहज’ भाव है। इसीको दादू ने कहा

‘सेवक स्वामी सगि रहे, बैठे भगवाना।
मधि नेन निरखो सदा, तो सहज स्वरूपा ॥’

या—

‘भाई रे घर ही में घर पाया।
सहज समाई रखो ना माहीं, सतगुरु खोज घताया ॥’

यह सुन्दरदास के शब्दों में

सहज निरजन सब म सोई। सहजै सत मिले सब कोई ॥

सहजै शकर लावे सेवा। सहजै सनकादिक गुरु देना ॥

सोजा पीपा सहज समाना। सोना धना सहज रमपाना।

जन रैदास सहज को ब दा। गुरु दादू सहज आन दा ॥

आचार्य चित्तिमोहन सेन ने ‘सन्तों की सहज साधना’ (‘कल्याण’ साधना अंक) में कहा है

“मध्ययुग के भक्त और साधकगण बहुत समय गुरु की तुलना शून्य से करते हैं। जीवन के सहज विकास के लिए एक शून्य मुक्त आकाश की जरूरत होती है। गुरु भी ऐसा ही होना चाहिए। इसलिए राजव जी ने कहा, ‘सतगुरु शून्य समान है’ (गुरुदेव अंग, ५६)। ये ‘शून्य’ और ‘सहज’ शब्द वीरों, निरजन और नाथपंथी योगियों, सहजियों और बाउल आदि सन्तों में भी हैं। मध्ययुग के भी जहुतेरे साधक अपने को सहजपंथी कहते थे। देखा जाए, इसका अर्थ क्या है।

“धर्म सहज हो तो यह सहज सकल बाधाहीन होकर अनन्त आधार को चाहता है, यही शून्य है। इसलिए सभी सहजवादी किसी न किसी रूप में शून्य को स्वीकार करते हैं। ‘शून्य’ का भावात्मक जीवनाधार महाकाश न

मिले तो कोई भी जायज राज अकुरित नहीं हो सकता। इसीलिए महान मन म गुरु को शून्य कहा गया है। यदि गुरु अपने व्यक्तित्व से शिष्य को व्यक्तित्व को दया दे तो बर्तमान जीवन अकुरित होने का बदल विम जाणगा। इसीलिए शून्य ही गुरु है और गुरु शून्य है।”

आचार्य क्षितिमोहन सेने ने अपने ‘श्रमाल के पाउल’ श्रवों म मध्ययुग की रहस्य साधना पर प्रकाश डालते हुए मुनि रामकृष्ण नामक चैन करि क ईसा की पहली शती क पूर्वजालिक पाहुड दोहा उद्धत किये हैं, निनमें २१२ व दोहे का अर्थ ह ‘शून्य भीता नहीं है। अपने अन्दर झॉकर देगो, शून्य तो पूरमपूर भरा है।’ क्षितिमोहन जी क अनुसार ज्ञान-गण, लुकशाह, बुद्धिया साधक और तारणगच्छ की परम्परा म यह रहस्यवाद ब्राउलों तक आया। और डाक्टर प्रबोधकुमार बागची न पाहुडदोहा सम्रावित किये हैं। उनके अनुसार महान के वाद मरम आता है। ‘खसम’ उनने क वाद गगन महल या सुत्र महल में ‘सुरति’ होती है। ‘खसम बनना’ परब्रह्म में लीन होना है।

माध्यमिक शून्यवादी नागार्जुन के पश्चात विक्रम की द्वितीय शती में आर्य देव ने इसका आगे प्रचार किया। परन्तु छठी शती तक शून्यवाद का फिर कोई उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु आचार्य पालित ने बलभीर (गुजरात) में इस मत का विशेष प्रचार किया। बुद्धपालित का पथ माध्यमिक प्रासंगिक था। भव्य का पथ स्वातंत्रिक था। सातवीं शती (विक्रमीय) म आचार्य चन्द्रकीर्ति ने शून्यवाद का विशेष प्रचार किया। शांतिदेव उसे तिब्बत तक ले गये। शांतिरक्षित (निर्वाण ७६२ ईस्वी) ७८९ ईस्वी म तिब्बत के राजा के निमंत्रण पर वहाँ जाकर शून्यवाद का प्रचार करते रहे। यह दार्शनिक शून्यवाद सन्धि में सासारिक सम्बन्धों को स्वप्नवत्, कल्पना प्रसून मानता है। इसके अनुसार कार्य कारण नियम कवल एक भास है, मरग सपथ असत्य है, गति स्थिति दोनों मायिक हैं, निर्वाण ही परमार्थ सत्य है। नागार्जुन ने कहा

शून्यमिति न वक्तव्य शून्यमिति वा भवेत्।

उभय नोभय चैव प्रज्ञाप्यर्थं तु कथ्यते ॥

आचार्य चिन्मोहन सेन ने अपने ग्रंथ दादू (पृष्ठ-१७९) में कहा है कि हिंदी के सिद्ध कवियों पर इन्हीं शून्यवादियों का प्रभाव था “महायान साधनाय श्रय तत्त्वति क्रमशः ताना भाव सुखे जो ऐश्वर्य भरिया उठिते लागिल । क्रमे माध्यमिक मतवादे उद्ध धर्म, इश्वर, सवाइ शून्य होइया उठिलेन । वज्रयान, योगाचार प्रभृति मतवादीदेर कृपया श्रयई क्रये होइया दाडाइल विश्वे मूलतत्त्व । श्रय छांडा विश्वजगत् दवदेगी प्रभृति किडुई छिडू नेइ शपई माया ।”

यही शून्य सिद्धों का परमतत्त्व और परमसुख है । ‘गोरखबोध’ में गोरखमच्छद्वं सवाद में यह सूनि आता है

गोरख कुणि सूनि उतपत्रा
सुमि सुनि गुरि बुझाई
कुण सुनमें रहा समाई ।
मद्वन्द्वर सहजंन सुनि उतपत्रा
सगि सुनि सतगुरु बुझाई
अजित सुनि में रहा समाई ।

डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित ने अपनी पुस्तक ‘सतदर्शन’ में पृ० १५० १५१ पर इसका साधारण विवेचन इस प्रकार से किया है

“स त मन में शून्य शब्द का प्रयोग निर्गुण सर्वात्मा के लिए भी हुआ है और ‘सहस्रदल कमल’ के लिए भी । सम्भवत इमलिए कि ब्रह्म के निवासस्थान की कल्पना योगियों ने सहस्रदल कमल में की है और ‘ब्रह्म’ शून्य है इसलिए उराका निवासस्थान भी ‘शून्य’ ही है । ब्रह्मरन्ध्र का छिद्र श याकार होता है । इसी शून्याकार में कुडलिनी का संयोग होता है । ब्रह्म का वासस्थान यहीं माना जाता है । साधक एव योगी इस रन्ध्र का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं । इसी श याकार के छेद द्वार है जिन्हें कुडलिनी के अतिरिक्त और कोई भी नहीं खोल सकता । इसी साधना में योगी रत रहते हैं ।” डॉक्टर रामकुमार वर्मा ने सतमत में शून्य के विकास के विषय में लिखा है “इसी ‘शून्य’ को कवीर ने आगे चलकर सहस्रदल कमल का ‘शून्य’ माना है जहाँ अनहद नाद की सृष्टि होती है और ईश्वर की उद्योति के

दर्शन होते हैं।' (विद्या साहित्य का आलाचना मकर इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० १२२) । सत्ता का काय इस बात का प्रमाण है कि उहाने 'शून्य' को दोनों ही अर्थों में ग्रहण किया, क्योंकि महत्त्वदल कमल के अर्थ में नहीं । इस विषय पर सत्ता का कुछ बानियाँ विचारणाय एवं अध्ययन योग्य हैं ।

ऊपर उल्लेख हो चुका है कि सत्ता ने शून्य शब्द का प्रयोग दो अर्थों 'ब्रह्म एवं शतशत कमल' में किया है । इस शब्द का प्रयोग कबीर, नानक, लालू, मल्लू, गरीबदास, धरनीदास, रत्नास, यारी साहय, चरनदास, दूलनदास आदि सभी सत्ता ने काय में किया है । शून्य शब्द का प्रयोग 'महत्त्वदल कमल' के अर्थ में करने वाला मैं विशेषरूपण उल्लेखनीय है कबीरदास, चरनदास, धरनीदास, भीष्वा, तुलसीसाहय, रदास । धरनी धर्मदास एवं यारी साहय, गरीबदास, भीष्वा, दयादाइ, सहजादाइ, पल्लूसाहय, तुलसीसाहय आदि उन सत्ता में उल्लेखनीय हैं, जिनके 'शून्य' शब्द से निर्गुण सर्वाभावी और सकल मिलता है । प्रथम वर्ग के इन मतवादियों ने 'सुन्न गढ़', 'सुन्न महल', 'सु न मडल', तथा 'सुन्न बस्ती' में विचारण करने का उल्लेख भी किया है और इन्हीं में सत्ता ने कतिपय सत्ता ने 'सु न सरोवर' में स्नान करने का वर्णन भी किया है ।

अब साधका की अपेक्षा 'सुन्न शिवर' और 'सुन्न गढ़' में प्रवेश पाने के लिए कबीर अधिक उत्सुक एवं व्यग्र प्रतीत होते हैं । ऐसा ज्ञात होना कि कबीर को उस शिवर पर अधिकार प्राप्त था । वं उम् दिव्य प्रदेश की झाँकी पा चुके थे और वहाँ के अक्षय सुख का भी अनुभव कर चुके थे । इसीलिये वं टन्टे वट में मस्त, बाह्याङ्गवरो में सलभ साधका को 'सुन्न गढ़' पर विजय प्राप्त करने अथवा सुन्न मडल में प्रवेश करने एवं उद्योगशाल होने के लिए उपदेश देते हैं ।^१ 'सुन्न मडल' में प्रवेश पाने ही अनहद नाद वं माधुर्य से ओत प्रोत सगातात्मक ध्वनि प्रतिश्रुत होने लगा और मोह और अज्ञान का प्रकाश निर्गमूत हो गया, दिव्य प्रकाश से जीवन आलोकित हो गया और दानदयालु के दर्शन हुए ।^२ इसी प्रकार स्थान स्थान पर साधियों

१ रोम रोम दापक भया प्रकट दानदयाल । स० वा० स० भाग, पृ० ८ ।

२ सुन्न मडल में घर किया बाजे सबद रसाल ।

म कबीर ने 'सुन्न महल' में नौवत, किगरी एव सितार आदि वाद्यां के ध्वनित होने का और उनके अनुभव का उल्लेख किया है। गरीबदास ने 'सुन्न सिखर' में हस क विश्राम^१ एव 'सुन्न सरोवर' में हस क स्नान^२ करने का वर्णन किया है। इसी प्रकार गरीबदास ने 'सुन्न बस्ती'^३ 'सुन्न मडल'^४, 'सुन्न सरोवर'^५, 'सुन्न सिखर गढ'^६ आदि का वर्णन किया है जहाँ शब्दातीत ब्रह्म का निवास स्थान है।^७ गरीबदास ने सुन्न सरोवर में स्नान करने^८ और सुन्न महल में प्रवेश क लिए^९ साधन करने का अनेक बार उपदेश दिया है। कबीर एव गरीबदास की भाँति ही सुन्न सरोवर, एव सुन्न महल क लिए साधकों को प्रयत्नशील रहने के लिए सचेष्ट करने वाला मं चरनदास,^{१०} धरनीदास,^{११} भीखा,^{१२} तुलसीसाहब,^{१३} रैदास,^{१४} धनी धर्मदास,^{१५} और यारीसाहब^{१६} उल्लेखनीय हैं। धनी धर्मदास ने तो एक स्थान पर^{१७} सुन्न महल से अमृत की वर्षा का हवाला देकर सतों को उसी में नहाने का उपदेश किया है

सुन्न महल से अमृत बरस ।
 प्रेम जानद व्हे साध नहाय ॥
 खुली किवरिया मिटी अधरिया ।
 धन सतगुरु जिन दिया है लखाय ॥

१ सुन्न महल में नौवत बाजे किगरी वीन सितार ।

२ सुन्न सिखर के महल में हस कियो विश्राम । गरीबदास की बानी, १

३ गरीबदास की बानी पृष्ठ १८ ४ " " पृष्ठ २१-२२

५ " " पृष्ठ १० ६ " " पृष्ठ २५-३३

७ गरीबदास की बानी पृष्ठ ६ ८ स० वा० स०, भाग १

९ स० वा० स०, भाग २, पृ० १९९ १० चरनदास की बानी, पृ० ११-१२०

११ धरनीदास की बानी पृ० १५

१२ भीखा साहब की बानी, पृष्ठ १०, १७, ४०, ६४

१३ स० वा० सप्रह, पृ० २३३ १४ स० वा० स० भाग २, पृ० ३३

१५ " " पृ० ४२ १६ " " पृ० ११-१४५

१७ स० वा० सप्रह, भाग १ पृ० ४२

और यारीमाह्व ने सुत्र (सहस्रदल कमठ) का अर्थ सन्तों का भाँति प्रवेष्ट शब्दों में 'मालिक' के निवास का स्थान बताया है

सुत्र के मुकाम में प्रेचन का निम्नाता है।

जिकिर रूह सोइ भनहद वाना है ॥

(स० वा० स०, भाग २, पृ० १४५)

इस प्रकार से शय या 'परम' (वाद में स्वयं या भरतार के अर्थ में भी) निगुण ब्रह्म के लिए प्रयुक्त होने लगा। जीवात्मा के विषय में भिन्न भिन्न प्रतीकों का आशय लिया जाने लगा। सन्तों में से बहुत से ऐसे थे जो विशुद्ध दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में अपरिचित थे। घट पटादि नार्थिक प्रतीकों में वह दूर थे। अतः उनका रहस्य दोष में कई प्रकार के दार्शनिक मतवाद उड़ी सूक्ष्मता से सुलभ मिल गये हैं। आचार्य द्वितिमोहन सेन अपनी 'मेडिवाल मिस्टिजिज्म' की भूमिका में पृ० १८ पर तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'हृद्देव पोएरम आफ कवीर' की भूमिका में कुमारी एवैलिन अडर हिल ने पृष्ठ १३ पर इस बात को साधन किया है कि निर्गुण सन्तों का रहस्यवाद ऐकांतिक नहीं है। उसमें सूक्तियों का विकासवाद भी है और हिन्दू जन्मान्तरवाद भी। उसमें प्रवृत्त्यात्मकता भी मिली हुई है। कहीं कहीं दर्शन विवेचन भी मिलता है। जैसे आचार्य विनोबा भाव ने वियोगी हरि द्वारा संपादित 'सत सुधार मार' की भूमिका में लिखा है, पृष्ठ १९ पर, उल्लेख है "दादूपधी निश्चलदास जी का 'विचारसागर' अपने दग का एक विशिष्ट ग्रंथ है। कर्तार के प्रीजक में उनकी स्वतंत्र प्रतिभा का दर्शन होता है। निश्चलदास के 'विचारसागर' में पारिभाषिक वेदान्त का गहरा अध्ययन दीप्त पड़ता है।"

निश्चलदास के गुरु दादू की बानी में महज और निरजन का प्रयोग बहुत हुआ है। कल्याण, साधना अथ पृष्ठ ७०१ पर श्री हरिनारायण जी के लेख, 'श्री दादूपथाळ के मतानुसार साधन' में कहा है

"दादू जी का मन अद्वैत ब्रह्मज्ञान है, परन्तु उसका साथ प्रेम और भक्ति तथा पराभक्ति जुड़ी हुई है। वे निराकार, निरजन, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म को ही मानते थे। और उसीका ध्यान, स्मरण और चित्तन हृदय में, अपने आत्मा में ही करते थे। साकार उपासना उनका ध्येय नहीं।

भगवान् का नामोच्चारण, जप ओर रटन, भक्ति ओर ध्यान चानपूर्वक करना उनका मुख्य ओर प्रथम साधन था। 'राम' नाम से उन्का ब्रह्म का नाम अभिप्रेत है। नाम का माहात्म्य ओर साधन अन्य साधनां से ऊपर और सिद्धिदाता माना गया है। कहा है

दादू अविचलमत्र, अमरमत्र, अतैमत्र, अभेमत्र, राममत्र निजसार।
सजीवनमत्र, सनीरजमत्र, सुदरमत्र, सिरोमणिमत्र, निर्मलमत्र, निराकार।
अलखमत्र, अकलमत्र, अगाधमत्र, अपारमत्र, अनन्तमत्रराया।
नूरमत्र, तेजमत्र, जोतिमत्र, प्रकासमत्र, परममत्र, माया उपदेस दृष्या ॥

(दादू गुर राया)

(साखी १५२। गुरुद्वैव को अग)

दादूदयाल का परमसाधन निराकार निरजन परमात्मा परमपुरुष अलख, अभेव, निर्मल, अगोचर ब्रह्म है। परन्तु यह साधन भक्ति ओर प्रेम क सहित है। यथा

१ निर्मलतत, निर्मलतत, निर्मलतत एसा।
निर्गुण निज निधि निरजन जैसा हे तैसा ॥ टेक ॥
उतपति आकार नाहि, जीव नाहीं काया।
काल नाहीं, कर्म नाहीं, रहिता रामराया ॥ १ ॥
सीत नाहीं, घाम नाहा, धूप नाहीं छाया।
त्राव नाहा वरण नाहा, मोह नाहीं माया ॥ २ ॥
धरणी आकास अगम, चद सूर नाहीं।
रजनी निसि दिवस नाहा, पवना नहिं जाही ॥ ३ ॥
वृत्तिम घट कला नाहीं, सक्ल रहित सोई।
दादू निज अगम निगम, वृजा गहि कोई ॥ ४ ॥

(पद ९१, राग मालीगोड)

२ दादू भगति निरजन राम की, अविचल अविनासी।

सदा सजीवनि आत्ममा, सहजे परकासी।

(२८।१३ तथा अग २।२४४)

२ नादू जसा निर्गुण राम ह, तया भगति निरजन जाणि ।

(अग ४१४७)

परमात्मा जिम्हा स्मानविशेष या आफारविनाप में नहा ह, वह तो सर्वव्यापक हे तथा हृदय अन्तरा मा सं घट ही म प्रिाजता हे । यथा

दाढ काया अतरि पाइया, निरतर निराग ।

सहजै आप लखाइया, ऐसा मसरथ सार ॥

(अग ४१११)

दाढ काया अतरि पाइया, त्रिहुटी केने तीर ।

सहजै आप लखाइया, व्याप्या सकल शरीर ॥

(अग ४११०)

नादू काया अतरि पाइया, अनहद वैन बजाई ।

सहजै आप लखाइया, सुन्य मडल म जाइ ॥

(अग ४११२)

दाढ काया अतरि पाइया, मव देवन का देव ।

सहजै आप लखाइया, ऐसा अल्प अमेज ॥

(अग ४११३)

हम प्रकार से हिन्दी के निर्गुण सन्त कवियों के दार्शनिक विश्वास और मायताओं का सुस्पष्ट चित्र देना कठिन है । जीव, जगत् और परम तत्त्व के लिए उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द तथा प्रतीक विचारणीय हैं । उसकी शब्द सयोजना में उपनिषदों से लेकर बदान्त तक की विचार धारा का कैसा परिपाक हुआ है यह नीचे हम एक सचिस सूची दे रहे ह, उससे सुस्पष्ट होगा

जाव, आत्मा, } हृदय, प्राण }	दुलहित, फमल, ज्योति, हमा, पछी, सिंह, शश, जुलाहा, पारथ, पुत्र, मूल, भोरा, जोगी, मच्छ, मान, हरिण, धन, घडा, सुगा, पवन, असवार, पहुनगा, कूकर जादि । हाट, बाजार, पाच चोर, पांच कहार, पच किसान, पचपिणिहारी, गुफा,
जगत, माया	

समुद्र, नारी, सीकस, बन, बिल्लेघा,
गैया, आठ कुआ, माटी का घर, चाडी,
दम दरवाजा, पानी का घोडा, डाइन,
बुद्धिया आदि ।

परमतरु

अत्रु, मूल, सतगुरु, खसम, निरजन,
अहेरी, अजपाजप, सोऽहम्, जगन्नाथ,
जगदीश, जगपति, शून्य, प्रभु, श्रीपति
नाम, अकथ, अनीत, अवस्त, अज्ञ, ततसार,
अतर्यामी, अविनाशी, मगलरूप, नाथ,
करुणामय, निराकार, ठाकुर, साहव,
हरि, बाजीगर, खुदा, करीम, पैगम्बर,
हजरत, सिरजनहार, साई, अगोचर,
दीनजन्तु, पुरुषोत्तम, गुनसागर,
कलानिधान, अत्रिगत, अगम, दीनानाथ,
कादिर आदि ।

अब इस शब्दावली में साख्य, योग, वेदान्त आदि के विचार किस प्रकार
बुल मिल गये हैं वे देउन लायक हैं । 'गोरखनाथ और उनका युग' प्रबध म
डाक्टर रागेय राघव ने भी इस तालिका का आधार लिया है ।

	साख्य	पातजल योग	वेदान्त
जगत	प्रकृति परिणाम र्म त्रयोविंशति तत्त्वा त्मक	प्रकृति परिणाम म त्रयोविंशति तत्त्वा त्मक	नानारूपक्रियात्मक माया का परिणाम, चेतन का विवर्त
जगत्कारण	त्रिगुणात्मक प्रकृति	कर्माजुसार प्रकृति और तन्नियामक ईश्वर	अभिन्न निभिन्नोपा दान ईश्वर
ईश्वर	नहीं	क्लेशकर्म विपाक आशय असम्बद्ध पुरुषविशेष	भायाविशिष्ट चेतन
जीव :	असग चेतन, विभु नाना, भोक्ता	असग चेतन, विभु नाना, कर्ता, भोक्ता,	अविद्याविशिष्ट चेतन
बधहेतु	अविवेक	अविवेक	अविद्या

	साख्य	पातञ्जल याग	वज्रान्त
वच	आ या मादि त्रिविध दु म	प्रकृतिपुरुषसयागजन्य अविद्यादि पचकलेदा	अविद्या तत्प्राय
मोक्ष	त्रिविधदु खध्वस	प्रकृतिपुरुषसयोग जन्य अविद्यादि पच कलेशनिवृत्ति	अविद्या तत्प्राय निवृत्तिपूर्वक परमान द गह्य की पूर्ति
मोक्षसाधन	प्रकृतिपुरुष विवक	निविन्त्रपममाधि पूर्वक विद्वह	ग्रह्यात्मव्यजान
अधिकार	सदिग्ध विरक्त	विवक सच्चिप्त चित्रवान	मल त्रिभेदोपरहित साधनचतुष्टयसम्पन्न
प्रधान काड	र्मकाड	उपासनाकाड	ज्ञानकाड
वाद	परिणामवाद	परिणामवाद	विपर्वनाद
आत्मपरि णाम सख्या	विभु नाना	विभु नाना	विभु एक
प्रमाण	प्रत्यक्ष अनुमान शब्द	साख्य क ताना	पट्ट
ख्याति	अख्याति	अख्याति	अनिर्गचनीय
सत्ता	जीव, जगत, परमार्थसत्ता	जीवन जगत, परमार्थसत्ता	परमार्थरूपारमक सत्ता, व्यावहारिक और प्रतिभासित जगत सत्ता तत्त्व ज्ञान पूर्वक मोक्ष
उपयोग	व्य पदार्थशोधन	चित्त की प 1प्रता	तत्त्वज्ञानपूर्वक मोक्ष

अध्याय ४

निर्गुण कवियों की मौलिकता और परम्परानुकरण

कबीर, नानक, दादू, मल्लूकदास, सुन्दरदास आदि

इस अध्याय में हम यह देखेंगे कि निर्गुण कवियों ने कहाँ तक अपनी निजता दरसाई है और कहाँ तक परम्परा का अनुकरण मात्र किया है। उन्होंने बार बार कहा है 'एक न भूला, दोय न भूला, भूला सब ससार' ('कबीर ग्रन्थावली', पृ० १५५)। कबीर धर्म के नाम पर भाङ्गरवाद्याँ के प्रवृत्त विरोधी थे

नागै फिरै जोग जे होई । बन का भृगु मुकति गया कोई ॥

भूड मुढाये जो सिद्धि होई । स्वर्ग ही भेड न पहुँची कोई ॥

('कबीरग्रन्थावली' पृ० १३०)

कबीर ने हिन्दू, मुसलमान, जवधूत, जैन, बौद्ध सभी के ढाँग और दम्भीपन की खासी खबर ली थी। कल्पना कीजिए कि यह सत्यकथन उस युग में कबीर ने किया जब आज की भाँति धर्म के विषय में बुद्धिवादिता चर्च नहीं थी

'अपभू कामधेनु नाहि बाधी रे ।'

या—

'ताको हत्या होई अद्भुता ।

पट दरसन में जैन त्रिगुता ॥'

या—

'वैसनौ भया तौ क्या भया, वृद्धा नहा विषेक,

छापा तिलक बनाई करि, दग्धया लोक अनेक ।'

सन्तों में कबीर सबसे अधिक लीक लीके न चलने वाले, छलीकप दी थे। उतने ही प्रमाण में हिन्दी निर्गुण सन्तों में क्या विचारों की और क्या

व्यजना की, दोनों प्रकार का निद्रोही मौलिकता कबीर में अधिक मिलती है।
वे शब्द प्रामाण्य क भी विरोधी थे

‘पड़िन मुल्ला नो लिख दिया। छाडी चले हम कछु न लीया।’

(‘कबीरग्रंथावली’, पृ० २६२)

उनके लेखे तो

मो हिन्दू सो मुसलमान। जाका दुस्म रह इमान ॥

सो ब्राह्मण जो कये ब्रह्मगियान। काना सो जा जाने रहमान ॥

कबीर ने कहा

‘नाम सहिए लोकाचार। बढ कतय नये योहार ॥

जारि वारि करि आये देहा। मूजा पीछे प्रीत मनेहा ॥

जीवन विग्रहि मारै डडा। मुआ पिन्न लै घाले गगा ॥’

(‘कबीरग्रंथावली’ पृ० २०७)

‘वेद कतेब’ आदि का यह विरोध इसलिए था कि वैदिक सस्कृति का रूप उत्तरोत्तर विषमता और अहंकार पर आधारित समता से उर करते हुए, फौलादी चौखट की भाँति बनता गया। इसका अच्छा विवेचन चक्रधर क सत्य में महाराष्ट्र के गांधीवादी विचारक और ‘आन्तरभारती’ के प्रवर्तक आचार्य भागवत ने अपने एक भाषण में किया था

“वैदिक सस्कृतिचे समाजशास्त्र ह चानुर्वर्ण्यावर म्हणजे च विषमता व अहंकार यावर आधारलेल आहे, ही सस्कृति न्हमीच समतशी घेर करीत आलेली आहे, तिची मूल्यच मूठी विषमतेवर आधारलेली आहेत”, (आचार्य भागवत, नवभारत, अगस्त १९४८, वसंत व्याख्यान माला में ‘चक्रधर का महाबुभाव पथ वैदिक धर्म’ भाषण) —वैदिक सस्कृति का समाजशास्त्र चानुर्वर्ण्य पर यानी विषमता और अहंकार पर आधारित है। यह सस्कृति सदा समता से घेर करती आई है। इसके मूल्यों के मूल विषमता पर आधारित हैं।

इस प्रकार से कबीर के सग्रन्थ में डाक्टर गोविंद त्रिगुणायत का यह कथन सच है कि “उनका साम्यवाद इस्लामिक साम्यवाद की व्यावहारिकता और भारतीय अद्वैतवाद की ज्ञानात्मकता के सुंदर सम वय से बना था।” (‘कबीर की विचारधारा’, पृ० ३८१)। परन्तु डाक्टर त्रिगुणायत का कबीर

के साम्यवाद की तुलना जोकर, मूर या मार्क्स से करने का यत्न अतर्क्यगत है। यह सब भिन्न भिन्न काल देश के दर्शन हैं। और चन्द्रयुग की समस्याओं का हल हम कबीर के काल में नहीं खोज सकते।

हिन्दू मुस्लिम ऐक्य की यह बात चन्द्रली पांडे वहाँ भूल गये हैं जहाँ उन्होंने कबीर को 'जि दीरु' कहने की काशिश की है। यह जातिभेद वर्मभेद से अतीत भावना तो सिद्ध और नाथपन्था योगियों से कभी का चली आ रही थी। सम्भव है इस पर सूफी प्रभाव भी हो, जैसे इस अध्ययन के अन्त में दक्षित है।

नाथपन्थी योगी चौरगीनाथ के समय के विषय में चर्चा करते हुए डाक्टर पीताम्बरवत्त बडथवाल ने 'राजेन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ' पृष्ठ ९२ पर कहा है "पहाड़ी मंत्रों में एक और बात लिखी है जो इस सबको सही मानने के विरुद्ध जाती हुई जान पड़ती है। यह बात यह है कि चौरगीनाथ सेवकों (शिष्यों) में हिन्दू और मुसलमान दोनों थे 'हिन्दू तुलक दुई सेवा लगाई लीनां।' यदि इस कथन में कुछ तथ्य है तो चौरगीनाथ सातवीं शताब्दी के नहीं हो सकते। स० ७६९ विक्रमी में अरब के मुसलमानों का भारत पर पहला आक्रमण हुआ। इसके बाद स० १०५० विक्रमी के लगभग फिर पश्चिमोत्तर से आक्रमण होने लगे। अतएव यही समय लगभग ऐसा है जिसमें पञ्जाब के मुसलमानों का आगमन माना जा सकता है। चौरगीनाथ का भी यही समय मानना चाहिये।"

दादू के मतानुसार जो कबीरजी, रैदासजी आदि महामात्रों का सा है, किसी प्रकार का भेद भाव—हिन्दू मुसलमान, राम रहीम आदि का भेद भाव कुछ भी प्रयोजन नहीं रखता। जय सभी एक उसीके सिरजे हुए हैं, वह एकरस सब में व्यापक है, उसके निकट सब बराबर हैं, फिर मनुष्य ऊँच नीच, हल्का-भारी, छोटा बड़ा आदि क्यों देखे या समझे। यह सब बखेड़े, झगड़, बन्धन—यहाँ तक कि ये सब अपराध हैं। दादू के शब्दों में

(क) १ जान तँ चित निवाहिये रे मोहि एक सेती काज रे।
अनत गये दुख ऊपजै, मोहि एकहि सेती राज रे॥

साईं सौं सहजे रसा रे, और नहीं जान देव रे ।

तहाँ मन विलप्रिया, जहाँ अल्प भभर रे ॥

(पद ९—पृ० ३६०)

२ दादू ताहि न भायै जान, राम प्रिया भइ मृतक समान ।

(पद १०—पृ० ३६१)

३ दादू द्वै पख दूरि करि, निर्पत्व निर्मल नाव ।

धापा मटे, हरि भजै, ताकी सं वलि जाव ॥

(अग २६।६४)

(ख) ४ अल्प देन अतरि प्रम, क्या दृजी जागह जाह ।

(अग १३ । १२९)

५ पूजनहारे पामि है, देही माहें देव ।

दादू ताका छाडि करि, जाहरि माडी सेव ॥

(अग १३ । १४८)

६ (दादू) निराकार मन सुरतिसाँ, प्रेम प्राति सौं देव ।

जे पूजै आकार काँ, सो साधु परतखि देव ॥

(अग १५ । २)

७ पद ३११ । राग सोरठा । (पृ० ४९० स्पष्टसिद्धांत)

सोई देव पूजाँ, जे दाची नाहि घडिया ॥

गरभवास नाहीं औतरिया ॥ टक ॥

८ ये पूजा मेरे मन मान, जिहि विधि होइ सु दादू न जान ।

पद १९३ । राग रामकली । (पृ० ४४१ स्प० सि०)

साचा राम न जाण रे, सत्र झूठ बखाने र ॥ टेरु ॥

झूठ देवा झूठी सेवा, झूठा करे पसारा ।

झूठी पूजा, झूठी पाती, झूठा पूजनहारा ॥ १ ॥

झूठा पाक करै र प्राणी, झूठा भोग लगावे ।

झूठा आढा पडदा दवे, झूठा थाल बजावे ॥ २ ॥

॥ ३ ॥ और ॥ ४ ॥

(ग) दादू अपना मत पन्था के सम्बन्ध में बताते हैं

स्पष्टसिद्धा त कवन

९ पद १९८ । राग रामकली । (पृ० ४४१)

मैं पथी एक अपार का, मन और न भावै ।

सोई पथ पायै पीव का, जाहे आप लयावै ॥ टेक ॥

को पथी हिंदू तुरक के, को काहू राता ।

को पथी सोफी सैवढे, को सिन्यासी माता ॥ १ ॥

को पथी जोगी जगमा, को सकति पथ ध्यावै ।

को पथी कमडै कापडी, को बहुत मनावै ॥ २ ॥

को पथी काहू के चलै, मैं और न जानू ।

दादू जिन जग सिरजिया ताही को मानू ॥ ३ ॥

दादू हिंदू तुरक का, द्वे पर पथ निवारि ।

सगति साधे साध की साई को सभारि ॥

(अग १६ । ५१)

१० (दादू) हिन्दू लागे देहुरे, मुसलमान मसीति ।

हम लागे एक अलेख सों, सदा निरंतर प्रीति ॥

(अग १६ । ५२)

११ पद ३४७ । राग विलावल । (पृ० ५०७)

मूलहि गीचि बधै ज्युं बेला, सो तत्तरवर रहे अरुला ॥

१२ तीरथ बरत न पूजै आसा, बनखडि जाहिर रहै उदासा ।

थूँ तप करि करि देह जलाव, भर्मत डोल जन्म गवावै ॥ ३ ॥

१३ तब दादू परम गति पावै, सो निज मूरति माहि लखावै ॥ ४ ॥

ना धरि रद्या न बनि गया, ना कुछ किया कलेस ।

दादू मन ही मन मिश्या, सतगुर के उपदेश ॥

(अग १ । ७५)

इसी कारण से उस युग में जो सन्त हुए वे सभी जातियों में से हुए । मराठी के एक सत कवि रमावह्यभवास (१६२८ ईस्वी) ने सन्तनामावली ही है । इसमें सब जातियों के सत्तों के नाम हैं

निवृत्ति चानेश्वर सोपान मुक्तेश्वर ।
 त्रिमोघा स्वप्न ज्ञानशास्त्र ॥ १ ॥
 परमानन्द चागा जगत्प्र नागा ।
 कशपनाम चागा हरिप्रिय ॥ २ ॥
 परिमा भागवत नामा मिषी भक्त ।
 नाम उयाच ऋचन हरिलागी ॥ ३ ॥
 कान्हा हरिनाम महादेव पाण्डा ।
 मापला माठी चोगा हरिजन ॥ ४ ॥
 मुक्तापाई माता ऋर्मदाम आपडता ।
 गोग कुम्हार अनन्ता प्रिय उहु ॥ ५ ॥
 हरिदास सुरारि मोनार नरहरी ।
 निरतरा निरतरा हरिध्यान ॥ ६ ॥
 मुकुन्दराज योगी नानक पवित्र चागा ।
 अवृत प्रेरागा ऋलागा ॥ ७ ॥
 नरुभदाम भानुनाम जाण ।
 हरिनाम पापन हरिमग्न ॥ ८ ॥
 प्रहिरो जातपद् चिन्तामणि प्रमिद्ध ।
 आजि तो नित्यानन्द हरिगण ॥ ९ ॥
 योगी नामोदर हरिचा शरणागत ।
 विठु नारा सूत नामयाचे ॥ १० ॥
 का हो पाठक भक्त मदगुरु अकित ।
 वनाजी विश्वनाथ हरिदिन ॥ ११ ॥
 पाठक नामा आणि दिगवर दास ।
 अतगिरी शिवदास हरि सखे ॥ १२ ॥
 पका जनार्दन अवतार परिपूर्ण ।
 करावया उद्धरण भाविकाचे ॥ १३ ॥
 अच्युताश्रम यनि जया नामी अतिप्राप्ति ।
 गगाधर निश्चिती गुरु भक्त ॥ १४ ॥

कृष्णदास सुदृगल चांभा कृष्ण पाळ ।

विठ्ठल नाम निर्मळ महाभक्त ॥ १५ ॥

विठा कृष्णदास अगस्तीच्या गोत्रीं ।

सृष्ट्युत्पत्तय वक्त्रीं नाम गाय ॥ १६ ॥

मराठी क निर्गुण सगुण सभी स तां में जातिभेद नहीं था । यह चर्चा पहले भी आ चुकी है । नानक के लेखे तो यह जातिभेद अर्थशून्य था, तभी तो रविदास या रदास के ग्रन्थसाहच म चालीस पद मिलते हैं । इन मं से 'दूध तो बच्छर अन ही विडारेउ' यह पद म यहाँ देता हँ

दूध तो बच्छरें अन ही विडारेउ ।

फूल भमर जल मीन विगारेउ ॥

माइ गोवि द पूजा कहाँ मे चरावहँ ।

अवरत फूल अतृपुन पावउँ ॥

मलयगिरवे रहइ हैं भुजगा ।

विपु अमृत घसही इक सगा ॥

तन मन अरपऊँ पूज चदावऊँ ।

गुरु परसादि निरज्जन पावऊँ ॥

पूजा अरचा अहिन तोरी ।

कहा रविदास कवनि गति मोरी ॥

अर्थात् 'बछड़े ने तो दूध को जूठा कर दिया, भ्रमर ने फूल को और मरस्य ने जल को अपवित्र कर दिया है । माँ ! तब गोविन्द की पूजा कसे हो, क्योंकि और तो अनुपम (पवित्र) फूल कहीं मिलते ही नहीं । मलयाचल म तो सर्प ही रहता है और विष और अमृत एक ही साथ रहते हैं । तन मन को अपित करके हो पूजा चदाऊँगा और गुरुकृपा से निरज्जन को प्राप्त करूँगा । तुम्हारी पूजा अरचा तो कुछ हो नहीं पा रही है । रविदास कहते हैं कि मेरी कौन गति होगी ?'

'साहित्य' में प्रकाशित 'शूर्पा का अभ्युदय' और 'सत रविदास' लेख में भागवतरत्न डाक्टर विमानविहारी मजूमदार ने कहा ह

"मध्ययुग के सन्तों ने भगवान् की वाणी को लोक में सार्थक करके

निर्गुण कृपिया की मौलिकता और परम्परानुकरण २७५

दियाया। यद्यपि स्वामी रामानन्द ने अपने 'आनन्दभाष्य' ग्रन्थ में श्रद्धा के बंद पड़ने के अधिकार को स्वाकार कहा किया है, तथापि उन्होंने यह घोषणा की है कि बिना क्रिया के भाग के परमात्मा का उपासना का अधिकार सबको है। उन्होंने कहा है कि क्रिया का ज्ञानि पति पूजना अनावश्यक है, प्रमपूर्वक जो हरि की शरण में जाते हैं वे हरि के जन हैं। यद्यपि उनका शिष्य परम्परा में तथाकथित उच्च ज्ञानि के लिए भी वे तथापि उन्होंने हिंदू धर्म के निम्न स्तर के लोगों में न माना प्रहृत से प्रथम शिष्य अगाधार क्रिय। उनमें धना जाट, सतन कसाई, सन नाथिन, रत्नाय या रत्नियाम चमार और कंगर जुलाहा प्रमिद्ध हैं। उन्होंने अपनी स्याजना के द्वारा श्रद्धाजना को अभिनव गौरव प्रदान किया। इन लोगों के बीच सतन रत्नियाम चमारा के गुण और भगवान के रूप में आज भा पूजे जाते हैं। लाग इनके चारण और वाणी का गालोचना द्वारा हम शताब्दी में प्रजननचारण के स्वरूप का निदर्शन करते हैं।"

करीर ने एक पद की रचना की है, जिसका विषय है त्रिलोचन और नामदेव का परिचय। इसमें उन्होंने प्रद की भक्ति स्याजना की प्रणाली बताई है। त्रिलोचना ने कहा कि नामदेव के हृदय में अभी तक आत्मिक दूर रहा हुआ, क्योंकि वह कपड़ा छापकर अभी भी पैसा इकट्ठा करता है। इसके उत्तर में नामदेव ने कहा

नामा कहं त्रिलोचना, भूया राम सभालि ।

हाथ पाँव कर काम सज, जित निरजन नालि ॥

शशु प्रसाद चहुगुणा के लेख 'सत रैदास' ('राष्ट्रभारती' फरवरी, १९५३) में रैदास की जाति के विषय में लिखा है

रैदास ने चमार कुल में अपने जन्म होने का स्केत दिया है

१ मेरी जाति त्रिनिवान चमार । २ मेरी जाति कुटुंबा डला डोर डोरता नित ही बनारसी आम पास । ३ चाके कुटुंब के बड़ सज डोर डोरत फिरहि अजहुँ बनारसी आमपासा, आचार सतिन विप्र करहि डडपति तिन ननै रपिदास दासान दासा । ४ मोर कुचिल जानि कुचिल में वास । ५ नीच मे प्रभु ऊँच कियो कह रैदास चमारा ।

रैदास ने करीर के तिरने की और डाढ़ ने रदाम के तिरने की बात लिखी

ह । दादू क शि य रज्ज ने (१५६७-१६८९ ई० म) अपनी सर्वाङ्गा म भक्त
रैदास को चमारी के गर्भ मे उ पत्र प्रताया ह

चमारी ग्रभे उत्पन्नो, रैदानो महामुनी,

उत्थम ब्रह्म सुमिरन नाम, तत्समान क्य नाति कारण ॥

‘भक्तिप्योत्तर पुराण’ म रैदास के विषय में ये तीन श्लोक मिलते ह

चर्मकारगृहे जातो द्वितीय पिगलापति ।

भानदामस्य तनयो रैदास इति त्रिशुत ॥

पुरा काशी समागम्य कवीर रामतभ्यरम् ।

जित्वा मतविवादेन शक्राचार्यमागत ॥

पराजित्थ स रैदासो न या त द्विनमत्तमम् ।

रामान दम्भुपागम्य तस्य शिष्यत्वमागत ॥

जो बाल कवीर, चोरगीनाथ, दाम्, रैनाम म मिलती ह उही रूढ़ि के प्रति
विद्रोह और मोलिकता नानक, मलकनाम और सुन्दरदास मे भी पाई जाती
है । तीनों की रचना मे मै प्रमाण देता हूँ—

नानकनास की रचना इस प्रकार है

जूठि न रागी जूठि न वेदी । जूठि चद सूरज की भेदी ॥

जूठि न अनी जूठि न नाई । जूठि न मीटु वसिए सम थाइ ॥

जूठि न धरती जूठि न पाणी । जूठि न पउणे माहि समाणी ॥

नानक निर्गुरिजा गुण नार्ही कोइ । मुहि फेरिऐ मुहु जूठा होइ ॥१॥

कलि होईं कृते मुही खाउ होभा मुरादारु ।

कूहु गोलि बोलि भउकणा चूका धरमु वाचारु ॥ २ ॥

जिन जीव दिआ पति नही मुहुआ मदी सोइ ।

लिखिआ होव नानका करता करे सु होइ ॥ ३ ॥

धगु ति हा का जीयिआ जि लिखि लिखि बेचहि नाउ ।

खेती जिनकी उजड रलवाडे फिआ याउ ।

सचै सरमै वाहरै अगै लहहि न दादि ।

अकलि एह न आखीऐ अकलि गराईऐ वादि ॥

अकली साहिबु सेविऐ अकली पाईऐ मानु ।

अरुला पति क वृत्ति जगला राग नानु ॥
 नानकु गाय राहु पत्र हारि गला यलानु ॥ ४ ॥
 चाग विहणा गाव गान । सुय सुग घ ममान ॥
 मयट्ट होइ क कन पडाण । फरु क होर जाति गवाण ॥
 गुरु पीरु मदाण मगण चाह । ताक भूलि न लगीए पाइ ॥
 घालि खाइ किट्टु हयहु दइ । नानक राहु पठाणहि सेइ ॥ ५ ॥

('सन्तसुधा मार') गुरु नानकदास

अत्र मल्लदास जा क कुछ प्रमाण दियेए

किरिया करम अचार भरम है, यही जगत का फदा ।
 × × ×
 देवल पुजे कि देवता की पूजे पाहाइ ।
 पूजन को जाता भला, जो पीस खाय समार ॥ १४ ॥
 मका मदिना द्वारका, बड़ी अरु बंदार ।
 बिना न्या मय झूठ है, नहै मलक विचार ॥ १५ ॥
 जे दुरिया समार में, ढोबी तिनका दुख्य ।
 नलिहर सोप मलक को, लोगन दीजे सुख ॥ २० ॥
 मय कोउ साहेत्र बन्दते, हिन्दू मुसलमान ।
 साह्य निमरा प्रन्ना, जिनका ठोर इमान ॥ २ ॥

('सन्तसुधामार') दादा मल्लदास

सुन्दरदास जा क कुछ छन्द दियेए

दादा छन्द

सुन्दर नया मोधि क, मय काह का ज्ञान ।
 कोइ मन माने नहा, बिना निरजन ध्यान ॥ १ ॥
 पर दर्शन हम पाजिया, योगी जगम शय ।
 सयानी अरु मेरडा, पडित भक्ता मेप ॥ २ ॥

त्रिभगी छन्द

ता भक्तन भाव तूरि प्रताप तीरज जात्र फिरि जात्र ।
 जा कृन्म गाय पूना लाव रुठ दिहाव ग्रहिकाव ॥
 अरु माला नार्नि लिक प्रताप कया पात्रे गुरु विन गेला ।
 दादू का चेला भरम पछेला सुन्दर न्याया बड़े पेला ॥ १ ॥

('सुन्दरसार', अमविध्वंस अष्टक, पृ०-९१)

नानक के अनुसार परमतरंग तर्कनीत है—‘सोच सोच न होवई, जो सोचै लखवार’ (ग्रथ, पृष्ठ-१) ‘बहुत कष्टिण प्रहृता होइ’ (जपुजी-२२), ‘तानि ममावे चउये जसा’ (ग्रथ, पृष्ठ-४५)। नानक ने राम के अप्रतारी पन को भी सन्वेह से देखा है। नहीं तो यह सीता और लक्ष्मण के लिए क्यों तिलाप करते? नानक के अनुसार राम भी अपने भाग्य को न मेट सक। भैकालिक ने अपने ग्रंथ ‘सिद्ध वर्म’ में पृष्ठ ३८२ पर इस बात का यों प्रतिपादन किया है कि निर्गुणिये नर पूजा मात्र के विरोधी थे। नानक की कई वानियाँ में यह मौलिकता दिखाई देती है। ‘जपुजी’ में अठारहवाँ पद इस प्रकार से है

असख मूरख अधघोर । अमख चोर हरामखोर ॥

असख अमर करि जाहि जोर । असख गलबळ हत्तिआ कमाहि ॥

असख पापी पाप करि जाहि । असख कुडिआर कूडे फिराहि ॥

असख मलेछ मलु भखि प्हाहि । असख निन्दक मिरि करहि भाह ॥

नानकु नीचु कहै वीचार । वारिआ न जावा एक वार ॥

जो तुष्टु भावै साई भली कार । तू सदा सखामति निरकार ॥

अर्थात् असख लोग मूर्ख और घोर अन्धे हैं। अमख्य चोर और पराया धन हरण करने वाले हैं। असख्य लोग ऐसे हैं जो बलात्कारपूर्वक राज्य स्थापित कर लेते हैं और गला काटने वाले और हत्यारे भी असख्य हैं। असख्य पापी हैं, जिन्हें पाप करते हुए गर्म होता है। अमख्य असख्य बोलने वाले असख्य में ही पड़े पड़े चक्कर काटते हैं। असख्य गन्दे लोग गंदी कमाई से ही अपना पेट भरते हैं और असख्य निन्दक पराई निन्दा करते और सिर पर पापों की गठरी लादते हैं। तुच्छ नानक कहता है, मैं तो तुझ पर एक बार भी निछावर होने लायक नहीं। अच्छा भला वही है, जो तुझे भावे। हे निराकार! तू सदा सखामत रहता है।

संतों के समाज सुधारक होने की बात का प्रमाण सु दरदास में मिलता है

अधीर्य उराहने कौ अग

इन्व

पेटहि ऋण जाव हत नहु पेटहि माम नय न सुगपा ।
पटहि लङ्गि चारा करावत पटहि का गठरा गहि कापा ॥
पेटहि पामि गर महि डारन पटहि डारत रूपहु पापा ।
सुदर काहे नौ पेट नियो प्रभु, 'पट या और नहा काउ पापी ॥'

—('सतसुधासार', पृष्ठ-६१८)

मध्ययुगीन समाज ने अपने मौखिक सामाजिक मार्शिक विश्वासों में प्रचलित समाज-यंत्रणा को झकझारा और अपनी मौखिक मर्मग्राही दृष्टि में समाज रोग की चिकित्सा की ।

मराठी के एक आलोचक का इस मत में भिन्न मत है "इस दृष्टि में देवते हुए प्रभु, चक्रधर, जानेश्वर सभी वर्मसुधारक थे । उनकी भूमिका समाज-क्रांतिकारी की नहीं थी । गये हजार वर्षों से हमारे जीवन-प्रियक दृष्टिकोण में मूलगामी फर्क नहीं हुआ । पुनरुज्जीवन, परिवर्तन और क्रांति में से केवल पुनरुज्जीवनवादी और परिवर्तनवादी प्रवृत्तियाँ ही हमारे आरम्भपूर्ण इतिहास में दिग्दर्शनी हैं । ब्रिटिश राजसत्ता आने तक हमारी समाज-व्यवस्था को मूलगामी स्थित्यंतर का रक्षा मिला ही नहीं । पारमार्थिक सत्ता की चिकित्सा को ब्रह्मिक परम्परा ने भरपूर विचार-स्वातन्त्र्य दिया था, समाज-यवहार-मात्रित-रूपकर-घटपट की त्रैदिक-कमरत-कितनी भी सचमता और कठोरता से कर, उसमें लिपि-त्रुटि थी, व धन नहीं था । द्रुत, अद्रुत, त्रिभिष्टाद्वैत, ईश्वरवाद, निरीश्वरवाद आदि पथोपपथ-तम-पक्षोपपक्ष-एक ही परम्परामें फल-फूल सक । समाज-रचना की फौलानी-चौखट-उयों-की-त्याँ-सदियों-तक-बनी-रही ।"

—(ग० बा० सरदार 'सतवाङ्मयाची सामाजिक फलश्रुति' पृष्ठ-२४)

परन्तु सरदार के मत का खण्डन इस बात में होता है कि रामानन्द के चेलों में धन्ना जाट जाति के थे । पापा राजपूत थे । अलवर के लालदाम-मेव-वशी-थे । भक्त-दादू (१५४४-१६०३) पहले मुसलमान थे और उनका नाम था 'दाऊद' । बंगला-राउलों में आचार्य-क्षितिमोहन ने सुना था, 'श्री गुरू दाऊद बन्दि, दादू यार नाम ।'

‘भारतवर्ष म जातिजन्म’ ग्रंथ म जाचार्य चिनिमोहन सेन ने १६२े अध्याय मे कहा हे कि सामाजिक अविचार क भीतर मे भी यक्ति महिमा की जीत होती हे । नारद, त्रिदुर, याम आदि का जन्म बहुदोषयुक्त होने पर भी वे महापुरुष बने । महाभारत क वनपर्व (२०६।११५) म एक द्विज और याध की कथा हे । यात्र का ज्ञान और गाधना देखकर प्रिस्मित होना पडता हे । शूद्र पैजवन के दान और उदारता की सीमा नही (शांतिपर्व, ६० अध्याय) । मनुस्मृति (८।२७२) म भी वैश्य तुलाधार के साथ जाजालि का सवाद हे । तुलावार बृहद्धर्म पुराण के अनुसार व्याध थे । भगवान् बुद्ध के बाद बौद्ध सघ म जिनका सबसे अधिक सम्मान था, वे उपालि नाई थे । सुनीत पुकस थे, माति मछुए और नद ग्वाले । भिक्षुणियों में चम्पा मृगयाजीवी व्याध थी, पुत्रा और पुत्रिका दासीपुत्री, सुमगलमाता वेण, सुभा लुहार की लडकी ।

संस्कृतियों का यह सफर और सन्तों का उसके प्रति विद्रोही स्वर दक्षिण में अधिक तीव्र था । चिदम्बरम् के मन्दिर में अस्पृश्य परिथा की मूर्ति हे । तमिल भक्ता म अनेक अब्राह्मण थे यथा वायु मानुवर, मिद्वयर, पात्तिनातु, पिक्लेयर, अमृतसकैनर, अरणगिरि, नाथर, अरुमुण्डनाथर, मुनिगाहन, नम्मालवार, तिरुवल्लुवर, कठपनयन, पहति सिन्धार, ग्रिसमल नायनार, नन्दनार आदि । असम के शकर देव जाति के शूद्र थे । महापुरुषिया सम्प्रदाय इन्ही ने चलाया । ‘पद्मपुराण’ म स्वयं भक्ति कहती हे “मे द्रविड देश में ज भी, कर्नाटक मे बड़ी, महारा इ में कुछ दिन वास किया और गुजरात में जाकर जीर्णविरथा को प्राप्त हुई ।” — (उत्तर० १९३।५१)

सन्त मल्लकदास (१६३१ मघत् से १०८ वर्ष की आयु तक) ने हिन्दू मुस्लिम एकता की भी जोर से चचा की हे और साथ ही कबीर की तरह से हिन्दू और मुस्लिम रुढ़िवाद की निन्दा भी । यथा

सास्ती

मल्लका सोई पीर हे, जो जाने पर पीर ।

जो पर पीर न जानहीं सो फकीर बे पीर ॥

उहुतक पीर कहाउन, उहुत फरत है भम ।
 यह मन कहर ग्योनाय का, मारे सा तुग्धम ॥
 पीर पीर मत्र कोड कह, पारे चिह्न ताह ।
 जिदा पोर को मारिक, सुरदहि टूटन जाह ॥

—('मत्तकाय' परशुराम चतुर्वेदी, पृ०-३०९)

कवित्त

'धीर रघुनीर पगम्बर गुना मरे,
 कादिर करीम काजी माया मत ग्योइ है ।
 राम मेरे प्रान रहमान मरे नीन इमान,
 भूल गयो भया सब लोक लाज धोई है ॥
 कहत मलक म तो तुविधा न जाना दूजी,
 जोई मेरे मन में नेनन म सोई है ।
 हरि हजरत मोहि माधुप मुकुन्द की सा,
 झाडि कशोराम मेरो दूसरो न कोई है ॥'

—(वही, पृष्ठ-३५७)

यह सूफियाना इलाम सालहवा शर्ती क अत म आ गया म । मराठा
 महाभारत म तो जोर भी कह प्रफार क विदेशिया की नामावलो हम मिलता
 है । उदाहरणार्थ, मुन्श्वर का महाभारत १६७८ म लिखा गया । उमम निम्न
 विदेशिया क उल्लेख ह (आन्पर्व, अध्याय-१५, ३१, ४० सभापर्व,
 अध्याय-५,८ , वनपर्व, अध्याय ८) ।

जावी, जगी, फिरगी, नूर । नायी, इग्रेज, मत्लोवार ।
 काये, कावटे ककमावर । जळतस्फर, सामाशा ॥ ९ ॥
 रुमशाम, खोरासान । मुलतान, हवशान, अर्धस्तान ।
 उजनेरु, पगण, तुर्कमान । उदकशान, मेयात ॥१०॥
 पारसी भासीक ताम्रमुख । आरव, हुरमुज, काळमुख ।
 रुमशाम घोडमुख । नाट पाट पुलिंद ॥ १५६ ॥

तात्पर्य, हिंदी के निर्गुण सन्तों ने रुढ़ि का पालन योग्य भ्रमत् पारिभाषिक दर्शन शक्तिवली में अवश्य किया है, परंतु अथ सामाजिक विषयों में वे सन्त न मन पाते हैं। उन्होंने कई बातों में उस समय की रुढ़ सामाजिक चोखट को धक्का जरूर दिया था। सूफियाना अगर भी गहरा था। जैसे मल्लकदास का 'मस्त फकीर' पद ले लीजिए

वर्द दिवाने बावरे, अलमस्त फकीरा ।

एक अफीदा लै रहे, ऐसे मनधीरा ॥ १ ॥

प्रेम पियाला पीवते, तिसरे सब साथी ।

भाठ पहर यों झूमते, ज्यों माता हाथी ॥ २ ॥

—(सन्तकाव्य, पृष्ठ ३५४)

यह ठाक बेसा ही विश्वास था जसा सूफी कवियों ने कहा था कि स्वर्ग में अगर हूरे और अमृत यह सब खुदा कर देने वाले हैं तो हम दुनिया में नकली शराब में कैसे काम चलेगा

'हूरो खुदो कौमरे वा अज़ अगर खुशकदर्द ई ।

वजमे माहसू शाहिदे नउले शराबे वैश नेस्त ॥'

प्रसिद्ध सूफी दार्शनिक अल् गजाली ने इसीलिए कहा था कि खुदा का कसम ! जब तक नहा पीता, तब तक वह इस प्याले का स्वाद नहीं जान सकता ।

'ज़ौके ई वादा न दानी ब खुदा तान नशी ।'

—('दर्शन दिग्दर्शन', राहुल पृ०-१७४)

अध्याय ५

निर्गुण काव्य में प्रयुक्त कुछ सामान्य प्रतीक और संकेत

धार्मिक साहित्य में प्रतीक और चिह्नों का इतिहास बहुत पुराना है। आर्य, यूनानी, ईसाई, इस्लामी एवं प्रसार के धार्मिक साहित्य में ये प्रतीक का मूल शब्द मिलते हैं। पानी, मीपक, तल, आग आदि का बड़ा पुराना इतिहास है। उपनिषदों में बार बार उल्लेख आता है कि यह सृष्टि 'उम' में तपन के मार्ग की। वह अग्निरूप ही था, तज्जरूप ही था। यथा 'तत्ति रियोपनिषद्' में कहा है कि 'तपसा ब्रह्म विजिनामस्य। तया ब्रह्मति। म तपोऽतप्यत। स तपस्तप वा ॥' और छान्दोग्य में 'स यदशिक्षिषति यपिपाम्नि यन्न रमते ता अग्न्य दाक्षा ॥' (३ १० १) और 'तत्तजोऽग्नजत तत्तेज ऐक्षत बहु स्या प्रजायेयति तदपोऽमृजत ।' (६ ३ ३)

'ऋग्वेद' में कुछ ऋचाएँ हैं जो अग्नि का उत्पत्ति पर प्रकाश डालती हैं। एक स्थल पर कहा गया है 'अग्निं क पुत्र दध्यद् ने तुम्हे प्रवृत्ति क्रिया हे।' ऋग्वेद (६ १६ १४)। दूसरे स्थान पर कहा गया है कि 'अग्निरस पुरुषा ने तुमको उत्पन्न किया' (ऋग्वेद, १ ३१ १, २)। तीसरे स्थल पर कहा गया है कि ऋग्वेदकी पुरुषा ने मनुष्यों के बीच में तुमको प्रतिष्ठित किया है (ऋग्वेद, १ १८ ६)। एक अन्य ऋचा में यहाँ जान मनु के लिए कही गई है (१ ३६ १९)। एक मंत्र (ऋ० १०-४५ १) में कहा गया है कि अग्नि पहले विद्युत् के रूप में आकाश में उत्पन्न हुआ। सूर्य और विद्युत् दोनों अग्नि के ही रूप कह गये हैं (ऋ० १ ७९ १, ३ १० ४५ ३)। ऋग्वेद (१० २० ७) में अग्नि को 'पत्थर का पुत्र' (अग्ने मृतु) भी कहा गया है। ऋग्वेद (२, १२, ३) में कहा गया है कि 'याऽश्मनोरन्त अयिज्जान' 'जिन्म इन्द्र ने दो पत्थरों अथवा बादलों के बीच में अग्नि उत्पन्न किया।' अश्मा द्विअर्थक शब्द है 'बादल' और पत्थर। ऋग्वेद (३ म, २९ सू०) क

कह म ता म जरणिया से अग्नि उ पत्र जुई, ऐसा कहा गया ह । उसा म अग्नि को 'द्विसातृक' दो साताजा का पुत्र भी कहा गया ह ।

यजुर्वेद म कहा गया ह 'अग्निर्हिमस्य भेषजम् ।' यास्क के अनुसार 'द्वाविणोदा' (धन ओर तल को देने वाला) अग्नि हा है । प्रथम मंडल का प्रथम सूक्त हे 'अग्नि पूर्वेभि ऋषिभिरीया नृतनेरत' (अग्नि पुराने और नये, दोनों समय के ऋषियों द्वारा पूजनीय है) । 'प्रथैर्वृशसा अप इडयो जहि, तरे वा ये अति वा क चिदत्रिण ।' (ऋ० १ ९४ ९) अर्थात् 'हे अग्ने ! तुरा चाहने वाला को मार, जो हमारे सम्य ध में बुरा विचार रखने वाले हों उनको मार, जो हमको खा जाने वाले हों, चाहे दूर या पास, उन्हें भी तू मार ।' ऋग्वेद (१ ९९ १) म हे 'जातवेदा अग्नि के लिए हम सोम को निचोडें ।' 'अग्नि दूत पुरोदधे' अग्निरूपी दूत को मैं आगे रखता हूँ । 'वेश्वानर' भी वही है । यास्क क अनुसार सत्र मनुष्य इसको ले चलते हैं अथवा सब मनुष्यों को ले चलने वाला यह नायक है इसलिए 'वेश्वानर' । यजुर्वेद (३ ४९) म अग्नि को गृहपति भी कहा गया है । वहि , हुतभुक्, हृद्यवाहन, पावक उसी क नाम ह । तत्तिरीयसहिता (७ १ १ ४ ६) में कहा हे कि प्रजापति ने सत्रसे पहले बकरे को बनाया, फिर भेड़ को, फिर गौ को, फिर घोडे को । 'अगिरस अग्नि' लेख (द्वि० अ० अ०, पृष्ठ १४०) में वासुदेवशरण अग्रवाल ने कहा है

निर्गुण सन्तां ने भी 'आग्नि' और विरह की चर्चा बार बार की ह । परमपुरुष को अग्नि का गोला, तेज, नूर, तूर माना है । उदाहरणार्थ, कवीर ने कहा है

'चोसठ दीया जोय के चोवह चन्दा माहि ।

तेहि घर किसका चानढो जेहि घर गोविन्द नाहि ॥'

और जायसी की नागमती कहती है

'यह तन जारौ छार कौ, कहौ कि पचन उड़ाव ।

यकु तेहि मारग उडि परे कत धरै जेहि पाव ॥'

और कबीर ने कहा

अवलि अलह नुरु उपाइभा कुदरति के सभ वदे ।

एक नूर ते सभु जगु उपजिआ कडन भलेको मदे ॥

‘अग्नि’ और ‘प्रकाश’ या नूर के समान ही दूसरा उद्भूतायन में प्रयुक्त प्रतीक नाद और त्रिन्दु का है। हठयोगप्रदापिका (२ ६६) में इसे अष्ट साधन माना है। उन्हीं कला है कि मन का स्थिरता त्रिन्दु की स्थिरता पर निर्भर है (वही, २ १:२)। योगिया ने नाद को जनहृद नाद के अर्थ में प्रयुक्त किया है और कहा कि यह परम लय के अर्थ में भी आता है। मिट्टी में और नापथिया में यह त्रिन्दुमात्रा तात्रिका की मारफत और उद्भूत प्रचलित हुई। गोरखानी में पृष्ठ ६: पर पद है

‘नाद त्रिन्दु फाकी मिला। जिहि सा या ने मित्र मिला ॥’

करीर ने ‘नादयन्त्र की नाव’ के द्वारा गुण के सत्त्व पार हान का रूपक माना है। इस प्रतीक योजना के अर्थ में शंवागमों का उद्भूत प्रभाव रहा है। प्रो० नवलकिंनार गौड़ ने ताडव नृत्य के विषय में एक ग्रन्थ में कहा है

‘अस्या हि चित्ति प्रसरन् या जगदुत्तिमपति

निवृत्तप्रसरया निमिपति च ।’

—(प्रत्यभिज्ञाहृत्य, पृष्ठ-२)

अतः यहाँ चित्त शक्ति अपने आविर्भाव निरोध रूपों दोनों पक्षों में सृष्टि का उन्मेष, निमेष, सज्जन, महार करन में निरग्न निरत रहता है

मा (चिच्छक्ति) एतापि युगपत् उन्मेषनिमेषमया।

—(स्पन्दमन्त्रोह, पृष्ठ-५)

शिवसत्ता निस्तरंग स्थिति में रहती है, किन्तु उर्धा हा चित्तशक्ति का आविर्भाव होता है, तर्था ही निस्पन्द आनन्दस्वरूप सत्ता अनन्त स्पन्दन से भरकर ‘अलक्ष्य चलताभासन चमकार’ के रूप में सृष्टि का उन्मेष करने लगती है। अतः निजानन्द विश्रान्ति की स्थिति की अगति गत्यात्मकता में परिणत हो जाती है, अथवा अचल सञ्चलन से ओत प्रोत हो जाता है। इस ही त्रिक दर्शन में ‘स्पन्द’ की सत्ता दी गई है। इसी स्पन्द अथवा महासञ्चलन के अभिसरण बिन्दु (point of divergence) पर सृष्टि का उन्मेष और अभिसरण बिन्दु (point of convergence) पर उन्मेष निमेष होता है। और यह उन्मेष निमेष उस सत्ता की लीला है जिसका मूल रूप यह नामरूपात्मक दृश्य जगत् है। यह लीला अनादि है, अखण्ड है, अनन्त है,

इसलिए उ मय निमेष का यह क्रम अनादि, अण्ड और अन त है। शक्ति तरङ्ग के इस नित्य प्रवाह में प्रतिक्षण असंख्य ब्रह्माण्डों का निर्माण हो रहा है, प्रति क्षण असंख्य ब्रह्माण्ड तिरोहित भाँ हो रहे हैं। शक्ति तरंग के इस नित्य प्रवाह में प्रतिक्षण श्राविर्भाव और तिरोभाव के सघटन का ही मूर्त्त प्रतीक नटराज है।

नटराज के इस मूर्त्त प्रतीक के साथ सूक्ष्म 'अ-तर्निनाद ध्वनि' के स्थूल रूप डमरू का घनिष्ठ सम्बन्ध है। घस्तुत जिस प्रकार स्वयं नटराज सूक्ष्म तन्त्र चिन्तन का मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण है उसी प्रकार नटराज का डमरू ताद तन्त्र का मूर्त्त विधान है। जिस प्रकार शिवतन्त्र की कल्पना वैदिक ओपनिषदिक श्रुतियाँ से होती हुई शैवागमों में विकसित हुई है, उसी प्रकार नान्द्रह्य की भावना भी श्रुतियाँ से होकर शैवागमों में पल्लवित हुई है और अ-ततोऽग-वा शिवतन्त्र के साथ सयुक्त हो गई। अतः यह नाद या ध्वनि शेषदर्शन का कोई मौलिक उद्भावना नहीं, वरन् पूर्व परम्परा से आते हुए प्रणव, नादब्रह्म अथवा शब्दब्रह्म का शिवतन्त्र पर आरोप है। वैदिक साहित्य के द्रष्टाओं ने वाक् के रूप में भी ब्रह्म की कल्पना की थी और उसी से सृष्टि की उत्पत्ति बतला कर उसके चार निश्चित प्रकारों का भी संकेत देते हुए, ब्रह्म और वाक् का तादात्म्य स्थापित किया था ('इयतिं वाच जनयन् यजध्वे' ऋग्वेद, ४, २१, ५, और 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' ऋग्वेद, १, १६२, २५)। उत्तरवर्ती 'योगदर्शन' में इसी वाक्स्वरूप ब्रह्म को प्रणव या वाक् को परमब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित किया था और कहा था कि ब्रह्म ने आत्मरूप वाक् से सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न किया, अतः समस्त ज्ञान और समवेदन वाक् के ही आकार हैं और वाक् ही परमब्रह्म है ('स तथा वाचा तेनात्मना इद सर्वमसृजत्' बृहदारण्यक, १ २ ४। 'सर्वेषां वेदानां वागोवायतनम्', बृहदारण्यक, २ २ ११। 'जगवै सन्नान् परम ब्रह्म' बृहदारण्यक, ४ १ २)। इतना ही नहीं उपनिषत्काल में ही 'ऋग्वेद' में उल्लिखित वाक् के चारों रूपों को स्पष्टन निरूपित करके पशु, पशुयन्त्री, मध्यमा और चैखरी नाम से शब्द ब्रह्म की भिन्न स्थितियों का विस्तृत विवेचन भी प्रस्तुत कर दिया गया था, जिसके आधार पर उत्तर उपनिषत्काल में शब्दब्रह्म को नादब्रह्म की सजा देकर नादविन्दु, यानविन्दु आदि उपनिषद्वादी रचना की गई।

उपनिषदां स होता हुआ यह नाद शैवागर्मा म आकर शिवतत्त्व पर पूर्णतः अन्तर्हित हुआ। इस निजानन्द विश्रान्त शिवसत्ता को परा वाक की सजा दी गई। परा से लेकर त्रैवरी तक के चारों रूपों को शिव की भिन्न भिन्न शक्तियों का प्रतिरूप उतलाते हुए कहा गया

मेयमेव त्रैवरी स्थूला क्रियाशक्तिरित्यपि त पूर्वा च मध्यमा वा ।

इच्छाशक्ति त पूर्वा च पश्यन्ती जानशक्ति ॥

—(स्पन्द कारिका)

वहाँ पर यह भी उतलाया गया कि जिस प्रकार ममस्त अनेकरूपता को पञ्चम में मन्त्रिहित किये हुए वह आनन्द स्वरूप शिवतत्त्व प्रप्रमित रहता है, उसी प्रकार मयुराण्डमवन्त वाणी की ममस्त अनेकरूपता को परा वाक कारण किये रहता है। इस रूप में स्थित परावाक को ही 'नाद' का सना दी गई है और कहा गया है 'नात्पोऽत्रिमाऽनाहतात्मको जन्मब्रह्मास्थ' ('स्पन्द प्रदीपिका', ४२)। उ मेष दशा में शिवतत्त्व के साथ इसी परावाक अथवा नाद की अनाहत ध्वनि, जिसकी यारया स्पन्दकारिकाशक्ति में 'स्वयमुच्चरिता ध्वनिप्रशेष' का रूप में की गई, सुनाई देती है। इसलिए यदि नटराज उन्मेष निमेष दशा के शिवतत्त्व का मूर्त्त प्रयत्नीकरण है तो नटराज का डमरू अव्यक्त परावाक अथवा शिव की आनन्द शक्ति का मूर्त्त प्रतीक है। यहाँ इतना सक्त कर देना अप्रासंगिक न होगा कि नटराज का डमरू और नटवर की मुरली वस्तुतः एक ही तत्त्व के दो प्रतीक हैं।

भारतीय चिन्तन धारा के अनुसार किसी न किमी रूप में उमा महेश्वर अथवा शिवशक्ति से ही सभी भारतीय कलाओं का आविर्भाव माना जाता है। कहा जाता है कि भारतीय न्याकरण शास्त्र के पिता पाणिनि का उनके महाव्याकरण के प्रथम चोदह सूत्र स्वयं महेश्वर से ही प्राप्त हुए थे, और इसलिए उन्हें 'महेश्वर सूत्र' की सजा दी जाती है। नदिन्दर न अपनी 'काशिका' में इस बात का उल्लेख करते हुए कहा है

वृत्तावसाने नटराजराजो ननाद वक्त्रा नवपञ्चवारम् ।

उद्धर्तुकाम सनकादिमिद्धानेतद्विमर्शं शिवसूत्रजालम् ॥

रमशान रमन हे अर्थात् शव का स्थान (रमन शब्देन शव प्रोक्त शान तत्स्थानमुच्यते 'निरुक्त') और 'ह' रहित 'शिव' ही अर्थात् सचलनहीन शिव ही (इ = गत्यर्थक) 'शव' हो जाता है। हमारी चेतना जब शरीरनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ हो जाती है तब हमें यह शरीर शयनरुतय जान पड़ता है। इसी शव स्थान शरीर में उम चेतनात्मा रूपी नर्तक आत्मा का नृत्य दिखाई देने लगता है। उसके सहयोगी हैं—भूत और प्रेत। भूत का अर्थ है रूप रसग धादि तन्मात्राएँ और स्थितिजलपावकादि महाभूतों में संयुक्त पदार्थसत्ता और प्रेत का अर्थ है (प्र + इण + क्त) नाम रूपादि विशेषों से मुक्त निर्दिशप चेतना।

इस शव परम्परा के साथ ही साथ निर्गुणियों में सूफी रहस्यवादियों की प्रेमानुभूति का प्रतीक विधान भी स्पष्ट है। एबलिन अडरहिल ने अपनी पुस्तक 'मिस्टिमिज़म' में 'रहस्यवाद और प्रतीकवाद' नामक छोटे अध्याय में इसका विस्तार से विवेचन किया है। साधारणतः तीन प्रकार के संकृत या प्रतीक मर्मियाँ में पाये जाते हैं १ दैवी उत्सोहन तथा यात्राभावना, २ परस्पर आकर्षण और प्रणय, ३ दैवी विराटत्व और एकाकार होने के मन्त्रे। पृष्ठ-१२६ पर अडरहिल कहती है, "प्रथम आकाशा रहस्यवादी की होती है— तीर्थयात्रा पर चलने वाले यात्रिक की। सर्वसाधारण जगत् से बाहर जाने की इच्छा खोये हुए घर को पाने की इच्छा। उसे वह प्ल डोरेडो, सारास, हेवन्ली एयोन कहता है। दूसरी इच्छा है—हृदय का हृदय के प्रति खिंचाव, आत्मा को अपना पूर्ण साथी चाहिए। वह परमप्रेयम् है। तीसरी इच्छा है अन्त शुद्धि की और तदाकार बनकर पूर्ण हो जाने की। यही सालोक्य, सामीप्य और सारूप्य की तीन सायुज्यो-मुखी अवस्थाएँ हैं।"

सूफी कवि जामी ने 'यूसुफ जुलेखा' के कथानक के आरम्भ में कवि की प्रार्थना में कहा है, 'मुझे अपने स्पर्श से इस प्रकार अकित करो जैसे 'दयूलिप' पुष्प की धारियों।' दूसरे सूफी अन्तार ने प्रणय पथिक की सात घाटियों में से यात्रा वणित की है। इन घाटियों के नाम हैं शोध, प्रेम, ज्ञान, सर्वसंगपरि त्याग, एकरूपता त्रिसमय और सर्वापण (फना) की घाटी। ईसाई मर्मियाँ में भी यह प्रतीक विधान है। यथा 'एकटस आफ जौन' में 'हिम आफ जीसस' है

आमा कहती है	मे प्रचना चाहती है ।
लांगोस कहता है	म बचाऊँगा, आमान ॥
आत्मा	मे गुलना चाहती हूँ ।
लांगोस	मै तुम्हें खोल दूँगा, आमान ॥
आत्मा	मे खुभोई जाना चाहती हूँ ।
लोगोस	मैं तुम्हें खुभो दूँगा, आमीन ॥ इत्यादि ।

और

मैं वह दीप हूँ तुम्हारा जो तुम देखते हो ।
 मैं वह दर्पण हूँ तुम्हारा जो तुम उसमें पढ़ते हो ।
 मैं वह दरवाजा हूँ तुम्हारा जिस तुम थपथपाते हो ।
 मैं वह राह हूँ तुम्हारी जिस पर तुम चलते हो ।

और सन्त बरनार्ड क 'सांग आफ सांगज' में 'द्वैती शब्द' दूल्हा है और आरमा दुल्हिन । दुल्हिन कहती है 'लैट 'हिम' किंग् मी विथ दि किसेज आफ 'हिज' माउथ ।' स त विक्टर क रिचार्ड का लतीनी ग्रंथ है 'डि फ्राटुज्जार, प्रवीड्म वायल्टा चेरिटटिम' जिसमें इश्वर मिलन का चार अवस्थाएँ हैं—
 १ सगाई (सत्रम ऊँचा प्रम सगाई), २ विवाह (हमारे रजाराम भरतार, दुल्हिन गानहु मगलाचार), ३ सुहागरात (सुत्रमहल म सज पिया की या 'सुरति'), और ४ आत्मा की एकनिष्ठता (ज्यां जारा सर्वां जार) । कबीर का समानार्थी पद शब्द म ११७ है

'हरि मोर पीव साई, हरि मोर पीव ।
 हरि विन रहि न सक मोर जीव ॥
 हरि मोर पाव मैं राम की वहु रिया ।
 राम उड़े म जुटक लहुरिया ॥

और 'कहहि कबीर सब नारि राम की, अविचल पुरुष भरतार ।'

और

जी पै पतिवरता है नारी ।
 कैसे ही रहौ सो पियहि पियारी ॥
 तनमन जोवन सौपि सरीरा ।
 ताहि सुहागिन कहे कबीरा ॥

यही है एक नया निर्गुन दूमरी नहीं जानते ।
जगज्जिवन प्रानहि मोधिकै दुट जात आगमन ते ॥

—(जगजीवन साहब)

यात्रा विफ्ट पय रे जोगी, ताते छोड़ सकल रम भोगी ।
परथम सिद्धि गनेम मनाओ मूल कमल की सुद्धा ।
किलियस जाप जपौ हरि हीरा, मिटै करम सय छुद्धा ॥
करम बाय पर सस बाय है, तासु होत उदुगारम् ।
दोक्क जीत ननम जुग जोगी अगत खेल अपारम् ॥
नाभि कमल म नाद समोऔ नागिन निद्रा मारी ।
दो फुकार मयिनी जीतौ उरधे नाम विचारौ ॥
हिरदै कमल सुरत का सज्जम निरत कला निरस्वासा ।
सोह सिंध मैध पद फीज ऐमे चढो अकासा ॥
कठ कमल मे हरहर बोलै पोडम कला उगानी ।
यह तो मय मारग सतगुरु का पथ वृक्ष ब्रह्मनानी ॥
त्रिकूटी मडे मूरत दरम दो ढल दरपन माही ।
कोट जतन कर ऐग्या भाइ याहर भीतर नाही ॥
वह तो सिय दौड से न्यारा कहो कहाँ ठहराएँ ।
सुन्न बेसुन्न मिल नहा भौरा, कहाँ रहत घर पाए ॥
अनहद नाद बजाओ जोगी, जिना चरन चल नगरी ।
काथा कासी छाडि चलोगे जाय बसो मन सधरी ॥
धरती धृत अकार न पाउँ मेरुण्ड पर भेला ।
गगन मडल में आसन करह तो सतगुरु का चेला ॥
तिल परमान ब्रह्म दरवाजा, तिल घाटी ले जाऊँ ।
चींटी के पग हस्ती परू अधर धार ठहराऊँ ॥
दयिन देस म दीपक जोडू, उत्तर धरुँ धियाना ।
पछिम देस म देवल हमरा, पूरव पय पयाना ॥
पिंड ब्रह्मांड दोऊ मे न्यारा अगम ग्यान गोहराऊँ ।
दास गरीब अगम गति आव सिधे सिध मिलाऊँ ॥

—(गरीबदास)

वागासी सरु भजिया नीर, ता मह कवल उहुत त्रिस्थीर ।
 भारा लोभया ताकी गध, नानक वोले विपमी सघ ॥
 वारह सोलह सम करि गहै, जामणु सहजि निराल्गु वहे ।
 चेतनी डोरी गुडि लावे, नानक कह जोग इड पावै ॥
 मेरुदड सुधा करि राखै, गुरु प्रमान् अम्रितु रस चाखै ।
 दोने शराह हकठी धरै, नानक बोले जीवत मरे ॥
 उलटे पौण उलटै काया, शविद अनाहद शब्द बजाया ।
 धुनि अतर मनु राखै थीर, नानक बोले अउलि फकीरू ॥

—(नानक साहब)

गगन के बीच में ऐन मैदान है, ऐन मैदान के बीच गल्ली ।
 सहस्र दल कवल में भवर गुजार है, कवल के बीच में सेत कल्ली ॥
 इडा औ पिगला सुखमना घाट है, सुखमना घाट में लगी नल्ली ।
 सुन्न सागर भरा सत्त के नाम से, तेहि के बीच में सुरति हल्ली ॥
 अछै एक वृच्छ है तेहिके डारि में, पडा हिंडोलना प्रेम छुल्ली ।
 अमीरस खुवे सोह पियत एक नागिनी, नागिनी मारिके बुदरल्ली ॥
 एक के नालपर तहाँ एक ऊँच है, तेहुँ के सीस चढि जाती बल्ली ।
 जोति के बीच में तहाँ एक राह है, राह के बीच में नाद चल्ली ॥
 नाद के बीच में तहाँ एक रूप है, रूप को देखिके रह तसल्ली ।
 दास पलटू कहै होयु आरुण जब, सत्त को सहज समाधि भल्ली ॥

—(पलटू साहब)

सन्त काव्यमर्मज्ञ श्री परशुराम चतुर्दशी ने 'कल्याण' के साधना अङ्क में 'कबीरदास की भावभगति का रहस्य' नाम से एक लेख लिखा था, जिसका एक महत्वपूर्ण अंश यहाँ उद्धृत करके यह चर्चा समाप्त करता हूँ

'कबीर साहब ने उक्त भावनामरु वस्तु को 'पटूचक्र की कमक कोठड़ी' में निहित बतलाया है और कहा है कि इसे पाने के लिए उसमें पड़े ताले को 'खुगति' की कुञ्जी से क्रमशः खोलना चाहिए । उलटे पवनद्वारा पटूचक्र वेधन होने पर, 'ससहर' व 'सूर' अथवा इडा और पिगला नामक दो प्रसिद्ध नाडियाँ की पहुँच के भी दूर हमें अपने मेरुदण्ड का वह सिरा मिलता है, जहाँ मन

के 'सुप्ति' में प्रवेश कर स्थिर होत है, जिना किसी पुण्य क अस्तित्व क भी, सारा आकाश पुष्पित हो उठता है और 'परमज्योति' क प्रकाश में अनन्त तारों और विजली क चक्र का सा अनुभव होने लगता है। तभी हमें 'अनहद' का शब्द भी सुन पड़ता है और 'सत्गुरु' की कृपाद्वारा, हम प्रकार 'मग्नुट' के खुल जाते हैं, 'सुरति' सुख में समा जाती है तथा 'आपा' आपस लीन हो जाता है। हमी क्रिया को 'हद' को छोड़कर 'बेहद' में जाना, 'घट' में ही 'औघट' का प्राप्त करना वा 'सुप्ति' में अपना स्नान करना भी उन्होंने बतलाया है। वे कहते हैं कि उस समय हमारा मन 'उन्मन' अथवा उपर्युक्त निर्मल मन से लग जाता है और दोनों नमक और पाना का भौति घुट मिलकर, एक हो जाते हैं। जिस प्रकार पाना से बर्फ बना करती है और बर्फ से फिर पानी में परिवर्तित होते ही ज्यों का त्यों रह जाती है, उसी प्रकार ये दोनों भी उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जो स्वयं अनुभवी के भी वर्णन क बाहर का वान है। अतएव 'गगनमण्डल' में विलीन होकर वह बहुत कुछ सोचविचार करने पर भी केवल इतना ही निश्चय कर पाता है कि वास्तव में मैंने कुछ भी नहीं किया, कहीं गया वा कहा मे आया भी नहीं, सदा जहाँ का तहाँ अपनी जगह पर ही बना हुआ हूँ। भाव का इस प्रकार अनुभव कराने वाली 'जुगति' ही भागभगति की भी युक्ति है।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त प्रकाश को ही कवीर साहय ने 'अनन्त' वा 'पारब्रह्म' का तेज कहा है और उसे अस्सय सूर्या के समान प्रखर बतलाते हुए भी, स्निग्ध चन्द्रिका की भौति शीतल भी माना है। उस निराकार दृश्य का वर्णन किया क्या जाए, उसे देखते ही जनता है, वह कहने की वस्तु नहीं। वहाँ पहुँचने पर माधुर्य को किसी प्रकार की चिन्ता या कल्पना तरु नहा सताती और उमसा मन एक प्रकार से 'विन मन सा' वा अमनस्क हो जाता है। पूरे का परिचय हो जानेसे 'दृष्टि' ही पूरी हो जाती है। 'जातमराम' 'प्रेमभगति' क 'हिडालन' पर निरन्तर झलता है और अमृतरस का पान करता हुआ शाश्वत आनन्द का अनुभव करने लगता है। हम 'करणी' द्वारा कर्म का नाश होकर पाप एवं पुण्य इन दोनों का भ्रम भी नष्ट हो जाता है। समता और अभिमान 'ब्रह्माग्नि' में जल कर भस्म हो जाते हैं, मोह का ताप लुप्त हो जाता है और वासना घुलकर अकुरबीज के साथ

नितांत निर्मूल हो जाती है। अब हमारा मन भीतर ही भीतर 'मान जाना' है। 'घट की जोति' से ही सारा जगत् प्रकाशमय दीप्तता है और हम, गुफा में बैठकर भी, सब कुछ देखने सुनने लगते हैं। हृदय में, उस समय, एक अचुपम शान्ति आ विराजती है, मन का भ्रम मन से ही दूर हो जाता है और 'सहजरूप हरि' की लीला प्रत्यक्ष हो जाती है। अब किसी प्रकार के 'मैं तैं' वा 'तैं मैं' का चिह्न तक नहीं रहता और सब कहीं आप ही आपका असुभव होने लगता है। यही अवस्था 'अखण्डित राम' के 'आत्मलीन' हो जाने की है, जिसे कबीर साहब ने दूसरे शब्दों में 'सहजसमाधि' का भी नाम दिया है।



अध्याय ६

उल्टबांसियाँ और लोकोत्तर अभिव्यजना की प्रवृत्ति

श्री श्यामसुन्दरदासजी ने 'कवारग्रन्थावली' की भूमिका में पृष्ठ ६२ पर लिखा है कि 'कवार का चमत्कारपूर्ण उल्टबांसियाँ भा रहस्यपूर्ण हैं। कठोपनिषद् के अनुसार मनुष्य का शरीर रज है, जिसमें इंद्रियों के बोध जुत है, बोधाँ पर मन का लगाम लगा हुआ है जो सागररूपा बुद्धि के हाथ में है। 'परमपद' का पथिक आमा रथ पर सवार है, उसकी इच्छा के अनुसार उसका परिचालन होना चाहिए। शरीर सेवक है, आत्मा स्वामी है। यह स्वाभाविक क्रम है। परन्तु जय स्वामी सो जाए, स्मरयी किर्तव्यविमूढ़ हो जाए, तब यह क्रम उल्ट जाता है, स्वामी का स्तान सेवक ले लेता है। रथ के अधान होकर स्वामी भटकता फिरता है। और प्रायः ऐसा होता है कि बोधाँ के मनमाने आचरण से रज और स्वामी दोनों को अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। भवजाल में पड़ हुए मनुष्यों का इसी उल्टी अवस्था को विशेषकर कवार ने अपनी उल्टबांसियाँ द्वारा यचित कर लोगों को आश्चर्य में डाला है।

- १ ऐसा अज्ञान मेरा गुरु कथा, मैं रक्षा उभेपे ।
मूसा हस्ती साँ लडे, कोई त्रिरला पेपे ॥
मूसा वेग बाधि में, लारँ सापणि धाई ।
उलटि मूसै सापिण गिली, यहु अचरज भाई ॥
चींटी परवत ऊपण्या, ले राख्यौ चौडे ।
मूर्गा मिनकी सू लडे, फल पाणी दौबे ॥
सुरही चूपै बलतलि, बछा दूध उतार ।
पेमा नवल गुणी भया, सारदूलहि मारै ॥
भील लुक्क्या बन वीक्ष म, ससा सर मारै ।
कहै कवीर ताहि गुर करौ, जो यह पदहि बिचारै ॥

सब का कारण परब्रह्म किन्पी का कार्य नहीं है, इस बात का आभास देनेवाला यह साकतिक पद कितना रहस्यपूर्ण है

बाह्य का पूत, बाप बिना जाया, बिन पाउ तरवर चढ़िया ।
अस बिन पाकर गज तिन गुड़िया, बिन अण्डे सग्राम लडिया ॥
बीज बिन अकुर, पेड़ बिन तरवर, तिन सापा तरवर फलिया ।
रूप बिन नारी, पुहुप तिन परिमल, तिन नीरे सर भरिया ॥

डा० गोविंद त्रिगुणायत ने अपने ग्रंथ 'कवीर की विचारधारा' में इन विपरीत उक्तियों का मूल वेद और उपनिषदों में खोजा है। ऋग्वेद (१।१।७।१५ सूत्र ९५) में वन की अग्नि का वर्णन है 'पुत्र होकर भी अग्नि अपना माताओं को हव्य द्वारा जम देते हैं। ईशावास्योपनिषद् क चतुर्थ श्लोक में और कठोपनिषद् (१।२।१०) में विभावनात्मक वर्णन है। तैत्तिरीयोपनिषद् (३।९) में कहा है कि पृथ्वी आकाश में है और आकाश पृथ्वी में। यह उलटी कहानी बाद में तंत्रों में मिलती है, विशेषतः वज्रयानी सिद्धों में। तात्पिता सिद्धों की उक्ति 'बदल प्रियाएल गविया बाझे, पिता दुहिण्ट एतिना साझे।' की ध्वनि कवीर में ज्यों की त्यों मिलती है 'बैल बियाय गाय भई बाह्य'। दासगुप्ता ने 'आवृक्षयोर रिलीजस कस्ट्स' में पृष्ठ ४७७ पर इस भाषा को 'सन्धा भाषा' कहा है। डा० रामकुमार वर्मा इसे बंगाल और बिहार के सधिसथल की, अपभ्रंश और हिंदी के बीच की सन्धिभाषा मानते हैं। (आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ९९२) और डा० हजारीप्रसादजी अपने 'नाय सन्प्रदाय' में गुह्य भाषा के अर्थ में सन्धा भाषा मानते हैं। कवीर की उलटपौंसियाँ तीन प्रकार की मानी गयी हैं —

१ अलकारप्रधान, २, अद्भुतप्रधान और ३ प्रतीकप्रधान ।

—(गोविंद त्रिगुणायत, पृष्ठ २९७)

अलकारों में विरोध विरोधाभास, असम्भव, विभावना, असगति, विषम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, व्याघात, इस प्रकार की विपर्यय शैली क निकट आते हैं। जैसे—'आगमि बैली अकास फल अण व्याघण का दूध।' (क० प्र०-८६) जैसे असगति या 'ठाढा सिंह चरावै गाई' (क० प्र०-६१)

जैसा विरोध और विशेषोक्ति का मकर । ऊपर श्यामसुन्दरदासजी के विषय हुए पद को त्रिगुणात् जी ने अद्भुतरमप्रधान कहा है । प्रतीकारमक उक्त्यामियों में कुछ रूपकप्रधान है, जैसे

हरि के पारे उठे पकाए, जिनि जारे निनि स्याए ।
 जान अचेत फिरै नर लोई, नाये जनमि जनमि उहकाए ॥
 धौल मुद लिया बँलर बाबी, कड़वा नाल बजावै ।
 पहरि चोलना गदहा नाच, भैमा निरनि करावै ॥
 स्यध बैठा पान कतरे, प्रम गिलौरा लावै ।
 उदरी प्रपुरी मगल गावै, कट्ट एक जानद सुनावै ॥
 कहै कबीर सुनहु रे सतहु, गढ़री परवत राना ।
 चकवा घेमि अगार निगल, समन अकासे धावा ॥

—(कबीरग्रन्थावली, पृष्ठ-९२)

ऊपर तात्पर्या सिद्ध की उक्ति की जो प्रतिच्छाया कबीर में बतायी गयी है, उसे त्रिगुणायत प्रतीकप्रधान कहते हैं ।

वस्तुतः उनकी बतायी 'काहरी नलिनी तू कुम्हलानी' आदि अर्थोक्तियाँ उल्टवायियों में नहीं आतीं । आगे चलकर उनका ग्रन्थ मजा चमत्कार की दिवेचना है, वह भी कबीर पर नहीं लागू होती, क्योंकि न तो वे रम अलंकार के पण्डित थे, न चमत्कार की अभिव्यजना उनका प्रधान उद्देश्य रहा । श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'सतनाथ्य की भूमिका' (पृष्ठ ९७) में कहा है कि 'गोरखदान' में पद २०, ३४, ४७, ५१, ७६ आदि और 'कबीर ग्रन्थावली' (ना० प्र० स०) में पद ९, ११, १२, १३, ८०, १४५, १६०, ६०, १७६, ७७, २१२, २२६, ३४९ आदि में इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं । गोरख ने इसे 'उलटा चरचा' कहा है । कबीर ने उसे उलटा वेद माना है । सुन्दरदास, दादू रजप, शिवनारायण, नुलामी साहय, पलटू, शिवरयाल आदि मन्ता ने उल्टवायियों लिखी हैं । गारवप्रानी, चयापन और कबीरग्रन्थावली में बहुत से स्वल्पसम्य ह, यथा

- १ जीवत जिनि मार मूवा मति दयावे,
 मास विहूँणा घरि मत आवे हो कता ॥ टेक ॥

उरविन पुर विन चच विन, वपु विहूना लोई ।

सो स्याज्ज जिनि मारै कता, जाकै रगत मास न होई ॥

पली पारके पारवी, ताकी धुनही विनच नहीं रे ।

ता बेली कौ हूँक्या मृगलो, ता मृग के सीस नहीं रे ॥

माया मृग जीवता राग्या, यहू गुर ग्यान मही रे ।

कह कवीर स्वामी तुम्हारे मिलन कों, बेली है पर पात नहीं रे ॥२१२॥

—(कवीरप्र थावली, पृष्ठ १६०)

अर्थात् हे कत (जीव) यदि मृग (मन) ज्ञानसम्पन्न होने के कारण, जीवितावस्था में हो तो उसे मत मारो (बाधित करो) और यदि वह (माया से प्रभावित होने के कारण) मृतकावस्था में हो तो उसे मत लाओ (लाभ उठाने की आशा रखो) । किन्तु फिर भी तुम बिना मास (बुद्धिज य दृढ़भाव) लिये घर वापस भी न जाओ । उस मृग (मन) की न तो छाती है, न पैर है और न मुख ही है वह (शून्यरूप हो) के कारण) बिना शरीर का है । उस साज्ज को मारकर ही क्या होगा जिसमें रक्त और मास का अभाव हो । उस मृग (मन) को मारने वाले पारधी वा शिकारी (प्राणशक्ति) के पास किसी धनुष्य वा प्रत्यक्षा के रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती और वह परलौ कोटि की निपुणता वाला हुआ करता है । उसके द्वारा मारा गया मृग (मन) लताओं में प्रवेश कर जाता है । सुविस्तृत आत्मवेलि की ओर अतसुख हो जाता है । उसे किसी प्रकार का शीश (आकार) नहीं रहता और वह मारे जाने पर भी सुरक्षित रहा करता है । यह गुरूपदेश द्वारा उपलब्ध ज्ञान के क्षेत्र का विषय है । कवीर का कहना है कि हे परमात्मा ! जिस तुम्हारी बेलि (आत्मवेलि) के भीतर उस मृगरूपी मन को प्रविष्ट होना है उसमें (प्रकृति के) पत्ते नहीं हैं ।

यहाँ पर यह बात भी उल्लेखनीय है कि इस उलटबाँसी वाले ही मृग, पारधी जैसे कुछ प्रतीकों के प्रयोग गुरु गोरखनाथ ने भी अपने एक पद में किये हैं जो कई दृष्टियों से इसका आधार सा प्रतीत होता है । उसकी कुछ पक्तियाँ इस प्रकार हैं

वाई सौ भील पारमी हाय नहीं,
 पाइ प्पगुलो सुप दौन न काहीं ।
 ह्यौं ह्यां मृगलौं गुणहीन नहा,
 घण्टा सुरतिहा नाद नाहा ॥ २ ॥
 भीलडै तिहा ताणियौ घाण,
 मनहां मृधलौं वधियौ प्रमाण ।
 ह्यौं ह्यां मृगलो वेवियौ प्राण,
 घणुही घाण न जा मरनाण ॥ ३ ॥
 भीलडा मातगा राणा मृधलौं जाणा मणी ।
 चरण विहण मृधलौं जाण्यां माम ।
 सीस सींग सुप जाइ न जाण्यो ॥ ४ ॥
 —(गोरखवाना, पृष्ठ १३९, पद २६)

सिद्धाचार्य भुम्बुपा ने भी अपने एक चर्यापद में मन को 'हरिण' बताया है । और 'सरमन्त हरिणार खुर न दीसई' बताया है ।

(चर्या पद ६) समुद्र लगा आगि, नदियौं जलि फोइला भई ।

दखि करीरा जागि, मछी रूपा चलि गइ ॥

अर्थात् समुद्र में आग लग गई (शरीर में भीतर ज्ञान विरह की आग प्रज्वलित हो उठी) और नदियों जल में भरम हो गई (सभी सामाजिक व्यवस्था नष्ट हो गई) ।

अरे कवीर अज जागृत होकर देख ले, मछली वृक्ष पर चढ़ गई है । (मन अज ऊँची दशा को प्राप्त कर चुका है) । गुरु गोरखनाथ के एक पद की भी दो पक्तियों कीरी साहब की इस साधना से ग्रहण कुछ मित्रता जुलता है जैसे —

'डुगरि मछा जलि सुसा पाणी मं दौं लागा ।

अरहट वहे तृसालवाँ, सुलें काँटा भागा ॥ ३ ॥

(गोरखवाना पृ० ११२, पद २०)

३ कुजर कों कीरी गिल बेटा, सिधहि पाइ अधानौं स्याल ।

मछरी अग्नि माहि सुप पाया, जलम हुता ग्रहण बेहाल ॥

पगु चढ्यौ पर्वत के ऊपर, मृतकहि दापि डरानो काल ।

जाकौ अनुभव होइ सुजानै, सु दर ऐसा उलटा प्याल ॥ ३ ॥

अर्थात् समस्त हाथी को एक कीड़ी ने निगल लिया (काम को बुद्धि ने जीत लिया), सिंह को स्मर शृगाल पुष्ट हो गया (जीव ने सशय पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली), मछली को आग में ही सुख मिलने लगा (मनसा ब्रह्माग्नि में आनन्दमग्न हो गई), वह जल में दुखी रहती थी (काया में उसे सदा बेचैनी रहा करती थी), पशु पुरुष पर्वत पर चढ़ गया (ज्ञात मन चिदाकाश में पहुँच निश्चल हो गया) और मृतक को देखकर काल भयभीत हो गया (जीव मुक्त के समस्त काल का प्रभाव जाता रहा) इन घातों को वही जानता है जिसे स्वानुभूति मिल चुकी है । दूमरों के लिए तो यह उलटा विचार ही कहा जायगा ।

कमल माहि पाणी भयो, पाणी मांहे मान ।

मान माहि ससिमिलि गयो, सुन्दर उलटौ ज्ञान ॥ ९ ॥

अर्थात् कमलरूपी हृदय में पानीरूपी प्रेम का आविर्भाव हुआ और वह सूर्यरूपी आत्मज्ञान का आधार बन गया । फिर उसी सूर्यरूपी ज्ञान में चंद्ररूपी ब्रह्मानन्द की भी शीतलता मिल गई जिस कारण अक्षय सुख मिलने लगा और यह उलटा ज्ञान कहलाया ।

सुदूर आन्ध्र देश में वहाँ के कवीर माने जानेवाले वेमना कवि क 'कूट वेदान्त पद्धति' पद भी बहुत कुछ इसी प्रकार के थे :

अवनिलोनोक कप्प येदुपाभुल वट्टि

निडिवड अंगिन विघमवेमि ।

कलियुगवुन नक्क गर्भवाधवुन

गामधेनुक पुठ्टु कड्डेमि ।

योनर नोक्कटि रेड्डु वन कपुल चेलरेगि

थाटि पिह्लल नीनु नोजवेमि ।

अविक्कार वृत्तवुनरटि फलवुलु

पुट्टिन यट्टि या पोलुपवेमि ।

गी अरयनेचिन सवेजुलैयारु

चेप्पनेचिनयारोड्डु चेप्पनेल ।

शिवुनि गातुरु भुविलो ब्रसिद्वमुगनु

नीकु वेलियनिदेसुड्डु निजमुवेम ॥ विश्व० ॥ ३६१ ॥

‘इस पृथ्वी में एक मेंढक पौंच सोंपा का पण्डकर निगल गया है। जो वानरों ने उढ़कर उँट क दो बच्चा को व्यान लिया है। कलियुग में मियार क गर्भ से कामधनु का जन्म हुआ है। एक अधिभारा बृक्ष में बले क मधुर फल लगे है। इन पहेलियों का मसँ समझन वाले और ओरां को समझान वाले महानुभाव कहीं मिल जायँ तो वे शिवजी क दर्शन अनायास ही कर सकने। हे बमना, य विषय तो तेरे लिये अपरिचित नहीं है।’

नीरु कारमाये कारतुनीराय

कारमैन नीरु कारमाये ।

कारमदु नीरु कहु रभ्यम सुहु ॥ विश्व० ॥ २६ ॥

‘पानी नमक बन गया और नमक पाना उना। नमकान पानी ही नमक है। नमक में पानी बड़ी रमणीयता क साथ निवास करता रहता है। (कोई इसका भाव समझे)।’

चरणबुल यदि तोकलु

परगगन्मूहुतललु उयलुतु तिरुगुन ।

वर भूमि तल्लडिल्लग

निरवोंदग दीनि दलियु मिलला घमा ॥ विश्व० ॥ ३६२ ॥

‘एक त्रिचित्र प्राणी अपन संचार से पृथ्वी को कँपा दता है। उमरु तान सिर, दम पर आर दस पूँछ होती है। इसका रहस्य समझना परम आवश्यक है।’

महिलोन नोकड मरिकेकलिडुचुनु

मचहु त्रिगिन महिक यमि ।

मानुष वतुड महिमीद वालुड

आनुनमलिनाट्टि मरपदेमि ।

तोडरि दोमलु गिरि नाडिसि पट्टुक

तामु परम गतिचित् उलमदमि ।

पचवन्नेलच्चिरकलु परम नेटुनु कडि

पर्वतहु दिन्न बलमदेमि ।

गी गोरै दोडुनि वडि चेट्टु निदुम जूड

विरुल पूचिन यट्टि था विधमदेमि ।

अरय नैचिन जेपुहु अखिल जनुलु

विवरमुग अरिऊनदूहैन निरर वेम ॥ विश्व० ॥ ३६३ ॥ ७

‘पृथ्वी में एक मक्खी जोर से गरज कर एक चारपाई ही निगल बैठी । आत्माभिमानी एक बालक ने एक उहुत बड़े वृक्ष को एकदम चबा डाला । कई मच्छरों ने मिलकर एक बड़े पर्वत को धर दयाया और खुद ही नष्ट हो गय । उनकी शक्ति का रहस्य कोई समझे । वह कैसा अपूर्व बल है, जिससे पाँच पचरगी तोते मिलकर एक पर्वत ही को खा बैठे । एक भेड़ ने पीछे से घुसकर एक बड़े पेड़ को कुचलने का प्रयत्न किया तो उस पेड़ में फूल लगे । इन बातों का मर्म कोई समझनेवाला हो तो बतावे ।’

इस प्रकार की विचित्र ऊहा, प्रतीकप्रधान चामत्कारिक भाषापद्धति का एक कारण यह भी था कि ‘जहाँ चमत्कार नहीं, वहाँ नमस्कार नहीं’ इस मराठा लोकोक्ति के अनुसार उस समय की जनता में अधविश्वास अधिक था और सीधी सीधी बातों से वे मानने को तयार नहीं थे । सुन्दरदास ने इसीलिए ३२ सवैया में ‘विपर्यय शब्द का अङ्ग’ लिखा । उसमें के तीन छन्द उदाहरण के तौर पर दिये जाते हैं । (सु दरसार, इडियन प्रेस, प्रयाग, १९२८, पृ० २०९ और २१३) । इन पर ‘सवैया छन्द’ न जाने क्यों लिखा है ।

अथा तीनि लोक को देखै, बहिरा सुनै बहुत विधि नाद ।
नकटा बास कवल की खैवै गूगा करै बहुत सवाद ॥
ट्टा पकरि उगावै पर्यंत पगुल करै नृत्य अहलाद ।
जा कोउ याकौ अर्थ विचारै सुन्दर सोई पावै स्वाद ॥ १ ॥
कुजर कों कीरी गिलि बैठी सिघई पाइ अघानौ स्थाल ।
मछरी अग्निमाहिं सुख पाया जल में हुती बहुत बेहाल ॥
पगु चढ्यौ पर्वत के ऊपर मृतकहि देपि डरानौ काल ।
जाको अनुभव होइ सु जानै सुन्दर ऐसा उलटा रयाल ॥ २ ॥
बूढ़हि माहिं समुद्र समानौ राई माहिं समानौ मेर ।
पानी माहिं तुबिका डूयी पाहन तिरत न लागी बैर ॥
तीनि लोक मे भया तमासा, सूरज किये सकल अन्धेर ।
मूरप होइ सु अर्थहि पावै सुदर कहै शब्द में फेर ॥ ३ ॥

अध्याय ७

हिन्दी निर्गुण कवियों का रहस्यवाद और उसका प्रभाव

डा० रामरतन भटनागर की पुस्तक 'हिन्दी कविता की पृष्ठभूमि' (इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९५१) में पृ० १०६ से ११३ तक हिन्दा की निर्गुण सत कविता क विषय में निम्न स्थापनाएँ मिलती हैं

१ 'निर्गुण पन्थ (सतमत) में भिन्न भिन्न धार्मिक संप्रदायों, धर्मग्रन्थों और रहस्यवादी सन्ध्याओं की बातें मिलती हैं। उसमें उद्दमत क श्रय और निरवान का भी स्थान है, वैष्णवमत की भक्ति भी है, वदान्त का अद्वैत है और गोरखनाथ का तन्त्रवाद भी है। सन्तों की वाणियों में जो योगसूत्रों की विचार लिये गये हैं वे पतञ्जलि और कपिल के योगसूत्रों से नहीं, बरन प्रचलित नाथसम्प्रदाय से लिये गये हैं जिसमें इन प्राचीन योग प्रणालियों का बौद्ध तन्त्रवाद से अद्भुत मिश्रण हो गया था। इसीलिए निर्गुण सतों का समझने के लिए योग के विगड़े रूप (नाथ सम्प्रदाय की क्रियाएँ) का समझना आवश्यक है।'

२ 'सतों के दृष्टिकोण में प्राचीन भक्तों, धर्मों और सम्प्रदायों का स्तर परिस्थितिवश अनायास हो गया। इसके लिए सन्तों ने विशेष परिश्रम नहीं किया। सन्तों ने मध्यमार्ग का प्रचार किया। यह मध्यमार्ग की परम्परा गीता, बौद्धमत, महायान, योगाचार और नाथ सम्प्रदाय से होकर निर्गुण पन्थ तक आइ। भारतीय मस्तिष्क की यह विवक्षता है कि वह विद्वानों और आमूल परिवर्तन में विश्वास नहीं करता। उसमें मध्यमार्ग से सन्तुष्ट हो जाना का प्रवृत्ति है। सन्तों ने ऐसा ही मार्ग जनता को दिया।'

३ 'निर्गुणपन्थ सन्तों के सामने एक विशेष सम्प्रदाय के रूप में खड़ा नहीं हुआ। कड़ी स्वयं पन्थों और सम्प्रदायों के विरोधाये। स्वयं हिन्दू और मुसलमान धर्मों में विविध सम्प्रदायों के जो एक दूसरे का विरोध करते थे। उन्होंने नया पथ खलाने का प्रयत्न नहीं किया। उनका मत था कि

‘विधना के मारग है तेत । सरग तरक तन गोवा जते’ ॥ (जायसी)
कवीर प्रचलित मर्ता म सुधार चाहते थे, नया धर्म चलाना उन्हें वाञ्छनीय नहीं था। और निर्गुण की भावना के साथ पथ की भावना चलती भा नहीं। यह तो सारग्रहण है पन्थ नहीं।’

४ ‘मध्ययुग की तीन धाराओं (गोरख का नाथपन्थ, निर्गुण सगुण सत् सम्प्रदाय, सूफीमत) का इतना जल निर्गुण धारा में मिल गया है कि लोग उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व पर ही शक करने लगे हैं।’ इसी विचार को समझाते हुए डा० भटनागर ने हिन्दी निर्गुणियों पर यह भी आरोप लगाया है कि वे मुस्लिम धर्म की कई बातों को हिन्दुत्व में लाये ‘उन्होंने मूर्तिपूजा का विरोध किया। इस्लामी मूर्तिखण्डन को श्रेय समझते थे। निर्गुणियों ने मूर्तियों की असफलता चिन्ना चिन्ना कर कही। जब वे ‘आप ‘दुतशिकन’ थे तो मुसलमान उनका विरोध कैसे करते।’ गोरखनाथ के एक शिष्य के ‘काफिर बोध’ और ‘अवलि सतूक’ का उल्लेख करके डा० भटनागर कहते हैं ‘कालांतर में सन्तमत शुद्ध नहा रह सका। गरीबदास जैसे साधक सूफी साधना में डूब गये

मतवालों के महल की सूफा क्या पाव ।

अस खरदनी खीर हे सतगुरु बतलावै ॥

सुन्नदरी एक हाट हे जहँ अमृत चुवता ।

ज्ञानी घाट न पावही खाली सब करिता ॥’ इत्यादि।

अब इन चारों स्थापनाओं में हिन्दी निर्गुण कवियों पर जो आरोप डा० भटनागर ने किये हैं वे विवादास्पद हैं। नाथसम्प्रदाय योग का बिगड़ा हुआ रूप नहीं है और निर्गुण सत् कवियों में कपिलादि के मूल योग सन्ध की विचारों की ध्वनि भी पाई जाती है। यह हम पहले दार्शनिक मत विश्वास अध्ययन में बता चुके हैं। नाथ सम्प्रदाय के विषय में डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने जो विस्तृत ग्रंथ लिखा है उसमें इसी बात की विवेचना पाई जाती है। सत् केवल सार सम्राहक नहीं थे, वे उससे कुछ अधिक अपनी रज्य की सत्ता रखते थे यह डा० पीताम्बरदत्त बहधवाल ने अपने ‘निर्गुण पन्थ के स्वरूप’ नामक चतुर्थ अध्याय में सिद्ध किया है। कवीर की उक्तियाँ

सार समग्र रूप ज्यू त्यागे फटक असार । (ग्रन्थावली पृ० ५४

हिन्दी निर्गुण कवियों का रहस्यवाद और उसका प्रभाव ३०५

सायं एवमा चालिष चमा सूप सुभाष । (ब्र-भावली, पृ० ९, ७८)
या दादक शब्दों में सायु डम उछड का तरह म होता है जो मीग पँड
छोड़कर माध 'अस्तन' की ओर दौड़ता है । यह नि यानि य वस्तुविवेक को
सन्तों म पाया जाता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि अस्तर की नीनेडलाही
की तरह या गायाजा क सर्पधर्म ममभाव की तरह बुद्धिपुरस्पर इन म ता से
भिन्न भिन्न दार्शनिक मतवाद म अपन मतलब की चार्चा को चुना ।

उमा प्रकार से निर्गुण पत्र को स्वतंत्र पंथ जा लोग नहा मानते उनको
सवा म ता परशुराम चतुर्वेदक 'उत्तरा भारत की सत परम्परा' ग्रथ से कुछ
वाक्य गस्तुत करना चाहता है

१ डा० उडधवाल न इन सन्तों को 'निर्गुणपंथ' या 'निरगनिया'
कहना अधिक उचित माना है और ननुमार उन्होंने इनके मार्ग को भा
'निर्गुण स्कूल' वा निर्गुणपत्र नाम से अभिहित किया है । किन्तु निर्गुण
पंथ शब्द से व्यक्त होता है कि इसका अनुयायी परमतलब का कवल
निर्गुण ही मानने थे, जो इस प्रथम म वास्तविकता के विरुद्ध जाता है ।
कबीर साहब आदि सन्तों ने निर्गुण एवं सगुण म पर किया अनिर्घनीय व
अज्ञेय किन्तु अज्ञत अनुभवगम्य वस्तु को परमतलब माना है और निर्गुण प
सगुण का वहाँ पर कोई प्रश्न हा नहीं रह जाता । जान पडता है निर्गुण
पंथ शब्द का प्रयोग पहले सगुणोपासक भक्तों म सम्प्रदाया से इसकी विभि
न्नता दिखलाने के लिए होने लगा था । किन्तु पाण्डु सन्त परम्परा के कुछ
दिन चल निकलने पर 'सन्तमत' शब्द का ही प्रयोग, सम्भवत विक्रम सवत्
की १७ त्री शताब्दी के किसी चरण म, विशेष रूप से होने लगा । (पृ० ७
और ८ पाद टिप्पणी)

२ डा० उडधवाल न सन्तों के आत्मा, परमात्मा एवं जगत् सत्त्व धा
सिद्धांतों की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'हम उनम म से कम तीन प्रकार
की दार्शनिक विचार धाराओं के स्पष्ट दर्शन होते हैं । वदांत के पुराने मतों
के नाम से यदि उनका निर्देश करें तो उह अद्वैत, विशिष्ट भेदाभेद और
विशिष्टाद्वैत कह सकते हैं । पहली विचार धारा के मानने वालों म कबीर
प्रधान है । दादू, सुन्दरदास, जगजीवन दास, भावा और मल्लक उनका

अनुगमन करते हैं। नानक और उनके अनुयायी भेत्ताभेदी हैं और शिवदयालजी तथा उनके अनुयायी विशिष्टाद्वैती हैं। प्राणनाथ, दरियाद्वय, दीनदरवेश, उल्लेखाह इत्यादि शिवदयाल की ही श्रेणी में रखे जा सकते हैं। (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भा १५, पृ ११७) परंतु इन सन्तों की रचनाओं का प्वापर सम्बन्ध समझकर उन्हें अध्ययन करने से पता चलेगा कि वे लोग दार्शनिक विद्वान नहीं थे और न इनमें से एकाध को छोड़कर कोई किसी दार्शनिक मतविशेष की ओर अपना ध्यान देना उतना आवश्यक ही समझता था। वे लोग मूलतः साधक थे और इनके द्वारा प्रचलित किये गये पन्नों में यदि कोई अंतर लक्षित होता है तो उसका प्रधान कारण इनके किसी साधन विशेष को अथवा अधिक महत्त्व देने में ही ढूँढा जा सकता है (पृ० ३८७)। आगे चलकर चतुर्वेदी जी ने पञ्च मार्गविशेष (यथा कबीर पन्थ, दादू पन्थ, नानक पन्थ, बाजरी पन्थ आदि) सम्प्रदाय नामविशेष के आधार पर वर्ग (यथा सत्तनामी सम्प्रदाय, निरंजनी सम्प्रदाय, साध सम्प्रदाय आदि) और सत्संग (यथा राधास्वामी) में सूक्ष्म अंतर बताया है। (पाठ टिप्पणी पृ० ३८८)

३ सत परम्परा के क्रम की निश्चित रूपरेखा आज से सात सौ वर्ष पहले कबीर साहब के जीवनकाल में उनके क्रांतिकारी विचारों द्वारा प्रकट हुई। कबीर साहब के लगभग १० वर्ष अनंतर गुरु नानकदेव के समय से सतमत को अधिक सुव्यवस्थित रूप देने का उसे प्रचारित करने की भी आवश्यकता का अनुभव होने लगा और इस ओर विशेष रूप से प्रवृत्त होने वाले सन्तों ने अपने अपने ग्रंथों का सम्प्रदायों का संगठन आरम्भ कर दिया। (पृ० ३९८-६९९)

४ चौथी बात में जो अपरोक्ष रूप से सन्तों पर डरपोक होने का आरोप है, वह गलत है। डा० उद्धवाल अपने 'निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री' ग्रंथ में पृ० १८१-१८२ पर कहते हैं कि 'निर्गुणियों के हिंदू मुस्लिम एकता के प्रयत्नों का आरम्भ में तीव्र विरोध हुआ। कबीर को मिर्कदर लोदी ने उसके उदार मतों के कारण तड़किया। परन्तु इस विरोध से आदोलन को अधिक बल ही मिला और ज्यों-ज्यों समय बीतता गया वे सम्राट् सत्तों का

हिन्दी निर्गुण क्रिया का रहस्यवाद और उसका प्रभाव ३०७

विरोध करने के बदले वह जादू और सम्मान देने लगे। अरुण ने तादू को अपने दरबार में सम्मान जुगाया। अरुण का मानदण्डों का प्रयत्न इमलिष असफत हुआ कि पृथ्वी पर सच्चा इलाहा का राज्य (या रामराज्य) स्थापित करने के बदले उद्यम इस पथ को साधन बनाया, अपनी प्रभुसत्ता को और दृढ़ बनाने में। निर्गुणियों ने कभी जानि या प्रादक्षिकता के द्वाटे नाथरों में नहीं साचा, पत्तिक समुच्च मानवता के नाने सोचा।'

हिंदी निर्गुण क्रिया का रहस्यवाद का प्रभाव उहुत दूर तक पड़ा। गास्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में ना रघुवीर दशरथपुत्र राम है, वे वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म, महाविष्णु और महावापुरुषोत्तम का पररूपता के प्रतीक हैं। डॉ० रितादानारायण नाचित ने अपनी पुस्तक 'सर्व दशन' में पृ० २७९-७७ पर कहा है कि 'ब्रह्म तत्र म निर्गुण ब्रह्म हा राम है और 'राम' ही निर्गुण है'। नांना एम मित्र कुत्र है कि उनमें कोई भेद नहा है। उहीं निर्गुण भी है और वहा ब्रह्म स्वगुण भा है। मानस में स्थान स्थापन पर निर्गुण स्वगुण भावात्मक उगम भी क्रिया है। गास्वामी जा का निम्नलिखित पत्किया में जो ब्रह्मविषयक भाग उपलब्ध हात है उनका श्रीमद्भागवत, गीता आदि के भावों से उहुत सामान्य है

- (क) जय राम रूप अनूप निर्गुन स्वगुन गुन गरक यही ।
 - (ख) जय स्वगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने ॥
 - (ग) सगुण अगुन गुनसदिर सु दर । अमनम प्रपठ प्रताप दिवाकर ॥
 - (घ) निर्गुन स्वगुन विषय स्वरूप, चानगिरा गोतीतरूप ।
- तुलसी की इन पत्कियां क तुल्य हैं श्रीमद्भागवत का यह श्लोक

सर्वमेव स्वगुणो विगुणश्च भूमन्
ना यत् वन्द्यपि मनोवचसा निरुक्तम् ।

(७, ९, ४८)

और गीता का यह श्लोक भी

सर्वैन्द्रियगुणाभाम सर्वैन्द्रियविवर्जितम् ।

असक्त सर्वैश्वर्येव निर्गुण गुणभोवतु च ॥

(१३-१३)

(अनुवाद) सर्वेन्द्रिय गुणाभासी, सर्वेन्द्रियविहीन जो ।

अगुणी गुण भोक्ता भी अलिप्त भय पोषक ॥

(गीता सवाद सियारामशरण गुप्त)

‘तुलसीदास रामायण’ नाम से इउदात्तैर्तस्यो अकादेमी इ नाउख, मस्कूवा से १९४८ म प्रकाशित और वास्तीको वैदैनिया (इन्स्टीट्यूट आफ ओरिएण्टल कालेज), लेनिनग्राद् क अकादेमीशियन (आचार्य) अलेक्जेन्डर पारास्त्रिखोफ द्वारा समरलोकी अनूदित रूमी भाषा के ‘रामचरित मानस’ की भूमिका में तुलसीदास के दार्शनिक मतावली के सम्बन्ध म वे पृ० ७६ पर कहते हैं ‘बालकांड म १६९ वीं चौपाई से तुलसी कविल द्वारा प्रतिपादित सांख्य मतावली म पूरा विश्वास करते हैं ऐसा जान पड़ता ह, परन्तु उत्तरकांड (१८७ वीं चौपाई) के अनुसार व सांख्य के मूल क द्वैतवाद के विरोध में गोलने हैं ऐसा जान पड़ता है । तुलसी मुख्यत एकेश्वरवादी थे । ईश्वरतत्त्व उनकी दृष्टि म ब्रह्म (जो ब्रह्मा से भिन्न है) या सच्चिदानन्द है । सच्चिदानन्द क सत्र गुण वैराग्यमय ह (उत्तरकांड १८७।२।३) ।’ बाद म वारास्त्रिखोफ महोदय ने माया की मानस मे कहीं कहीं चर्चा ह यह उताया है और ईश्वरी तत्व और माया एक ही है यह कैसे है सो समझाया है । पृ० ७८ पर वे कहते हैं ‘ईश्वरी तत्व जिसे तुलसी दास कभी कभी सच्चिदानन्द कहते हैं, कभी अगुन, ओर जिसे वेदों ने नेति कहा है वही इस ससार म साकार बनकर आता है । देवताओं के शब्दों में यही सच्चिदानन्द का रामरूप है ।’

(लकाकांड १३६, ३।४)

और ‘यही ईश्वरी तत्व गुण विरहित या अगुण होकर व्यक्त होता है कि ससार म वही माया से भिन्न नहीं और सच्चा रूप धारण किए हुए भी नहीं है । इस प्रकार वह अगुण से सगुण बन जाता है । यानी उस क्षण से जब से

१ मूल रूपी इस प्रकार से ह बोधैस्तवेनाया मुपस्तासिया, कीतोरूप तुलसादास नाजीवायव तो सच्चिदानन्द, तो अगुन, तू तो रयु वेदा जाग्रदव्यायुत स्लोगीम नेति, ‘ने इमेयूश्रिये पोदोविया’ मोहोद् प्राणिमाच वाप्ली श्रेभिया व ससायै, व मीयै वीवानिया ।

वह गुण धारण करता है अवतार ग्रहण की प्रेरणा वृत्ति का प्रति महाबुद्धि होती है, यद्यपि वे वृत्त वस्तुतः वास्तव नहीं होते। बालकांड के अनुसार (१३९, १४) 'ग्रह इक्षरी तत्त्वं नान्मास्मिन् रूपं स्वयं परिचातितं है।'^१

इस प्रकार से निर्गुण रहस्यवाद की प्रभाव ड़ाया तुलसीदास और परवर्ती सन्तों में भी दूर तक मिलती है। गांधीवाद में भी उसकी झलक है। सुप्त १९४० में अज्ञे हुए गांधी जी के इक्षरविषयक पत्र में इस प्रकार से उस परम तत्त्वं को 'लाक्षा नेचर' और 'इट' कहा गया था।



^१ शोकेस्तत्राद्या तु यन्मासि स्यात् । अस्तत्राद्यासं सामासोऽप्ये । रेस्तात्रायाम् । अशत्रये गुणतोने । काचेस्त्व इ । अत्रो युनात्र, मानेव् । तत्रिमाश्रमागोम, प्रोत्रायत्याम् । मारये नेराज्देहनाये । स्यात् । मारये विज्ञानिये, सं । मेयत्रियेम् । रियाल्लो वो । वातिया । ताकुसं । रचाये इत् । अगुन ओल । स्तानोवि मा । मगुन तयच । । त्रायूत्रियेम् । गुनामि इति । अत्रो युनाम् ।

रूपेण ४

तुलनात्मक अध्ययन

- १—दोनों भाषाओं के निर्गुण सन्तकाव्य में चिन्तनपरक सामान्य गुण दाएँ ।
- २—दोनों भाषाओं के निर्गुण सन्तकाव्य की अभिव्यक्ति में अंतर और उसके कारण ।
- ३—दोनों भाषाओं के निर्गुण सन्तकाव्य के चिन्तन में अंतर और उसके कारण ।
- ४—कवियों और चक्रवर्ती का तुलनात्मक अध्ययन ।
- ५—दोनों भाषाओं के रचनाकार नामदेव ।
- ६—दोनों भाषाओं की निर्गुण गीतिरचना का परीक्षण ।
- ७—दोनों भाषाओं की निर्गुण कविता में प्रयुक्त शब्दावली में समानता और अंतर ।

अध्याय १

दोनों भाषाओं के निर्गुण सन्तकाव्य में चिन्तनपरक सामान्य गुण दोष

अब तक क विवचन में निर्गुण सन्तप्रिया की दार्शनिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और एक ही ताने से निकलने वाली दो शाखाओं के समान मराठी और हिंदी निर्गुण सन्त काव्य की विचार वृत्ति तथा व्यञ्जना विवृत्ति का पता हम चला। अत्र तुलनात्मक अध्ययन का आरम्भ करते समय पुन 'निर्गुण' शब्द को हम एक बार अच्छी तरह से परख लें। आलोचक श्री दि० के बेडेकर को जब मैंने इस सब ध में पूछा तो अपने मराठी पत्र में (१६ जून १९५३) लिखा 'सन्त कवि अपने काव्य में जिस ईश्वर की आर्ति करते हैं वह सगुण (विडल, राम इत्यादि) होता है। तो भी वे उसे निर्गुण कहकर भी पुकारते हैं। नोर्वी शती के आसपास सारे भारत में एक प्रबोधन हुआ। दर्शन और धर्म का दृष्टि से इस प्रबोधन की दिशा एकेश्वरवाद की ओर थी। पर तु उम दिशा में भारतीय सन्तों की सफर हिचकिचाते हुए, मर्यादित थी। बाद में अमरेजा राज्य में ईसाई धर्म के प्रभाव से ब्रह्म समाज या प्रार्थना समाज ने जिस पूर्णता से एकेश्वरवाद स्वीकार किया उस पूर्णता से किं बहुना उसका दशाश में भी तुकारामादि सन्त एकेश्वरवाद को निकट नहीं ला सके। फिर भी इन सन्तों ने नया यदि कुछ दिया तो यह एकेश्वरवाद ही। 'निर्गुण' शब्द का मेरे मत से दो प्रकार का अर्थ है (१) निर्गुण यानी ईसाई या इस्लामी ईश्वर (सगुण मूर्ति रूप, अतार रूप जो नहीं है ऐसे ईश्वर) की भक्ति, (२) 'निर्गुण' अर्थात् प्राचीन भारतीय ऋग्वेद ब्रह्मवाद की निर्गुण पद प्राप्ति की इच्छा, (साधना) और काव्य। सूफी मन एकेश्वरवादोन्मुख है, तो विज्ञान वाद, शैवमत 'शूय', 'ब्रह्म' के सर्वात्मवाद की ओर।'

कबीर तो कहते हैं

गुन में निरगुन, निरगुन में गुन हे, बाट छाड़ि क्यू वहिये ।

अजरा अमर कथै सब कोई भलख न कथणा काई ॥

नानि स्वरूप प्रारण नहि जाक घटि घटि रह्यो समझै ।
 प्यण्ड ब्रह्मण्ड कथे सत्र कोइ, प्रार जादिस अ त न होइ ॥
 प्यण्ड ब्रह्मण्ड झाडि जो कथिये कहे प्रार हरि मोई ।

(प्रार प्र भाषण पद १८०)

और मराठा कवि दासोपन्त ने कहा

आत्मया तुज जाणता मज योगसाधन कासया ?
 पूर्णब्रह्म पुराण तू, तरि भेटु क परमात्मया ?
 सगुण निर्गुण भाग न करा नावडे मज त क्रिया ।

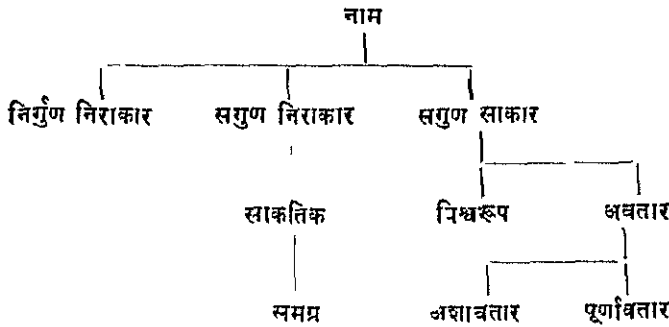
दिगजर ! तज नित्य सेजन आवडे मन माझिया ॥ (दासोपन्त)

जानया वेतयां भा पुसेन वाटुला । दूरदेशां वस्तुमाय माझनी माडली ॥ प्र ॥
 कर्म जाइन माहेरा आपुल्या साजणो । कमलनयनरूप आठव मनी ॥ छ ॥
 कवळीन रूप दोहां कहीं सखिये । दिगवरीं भेटि क होइल गोरिय ॥ २ ॥

(दासोपन्त)

तो क्या सगुण निर्गुण से पर भी कोई स्थिति संभवनीय है ?

इस संबंध में पढ़ते हुए वियांगी हरि सपादित सतसुधासार की भूमिका (पृष्ठ १५) में आचार्य विनोबा भाव कृत एक विभाजन मेरे सामने आया, जो इस प्रकार से है



इस संबंध में विनोबाजी से मेरा जो पत्र पत्रहार हुआ वह स यहाँ मना चाहता हूँ । मेरा मूल पत्र और विनोबाजी का उत्तर इस प्रकार से है

मा विनोबाजी,

श्री त्रियोगी हरि कृत 'सन्त सुधासार' की भूमिका में आपने लिखा है

‘कुछ् ध्यानी नाम के साथ सगुण निराकार का ध्यान करने हे । अक्सर हम जहाँ निर्गुण निराकार को छोड़ते हैं, सगुण साकार में आ जाते हैं । लेकिन दोनों क वाच सगुण निराकार की भी एक भूमिका होती है । इसम भगवान् का निराकार मानते हुए दया, ग्रात्सह्य आदि अनन्तर गुणा के परम आदर्श क तौर पर माना जाता हे । उपनिषद् स निर्गुण निराकार के साथ सगुण निराकार की पुष्टि करने वाले वचन भी पाय जाते हे, जिनको रामानुज आदि भाष्यकार विशय महत्व देते हे । इस्लाम और ईसाई मत इसी को मानते हे । ब्राह्मसमाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज इ यादि आधुनिक समाज सगुण निराकार की भूमिका पर खड् हैं ।

‘कुछ् विचारक और उपासक ऐसे जरूर होते हे जो अपना अपना आग्रह रखत हे, जैसे मुहम्मद पैगम्बर सगुण निराकार माने वाले थे । यद्यपि निर्गुण निराकार का व निषेध नहीं करगे किन्तु सगुण साकार का अन्वय निषेध करत हुए व दीव्य पडत हैं । वसे, कुरान में ‘गहुल्लाह’ याने ‘अल्लाह का चेहरा’ यह शब्द कई जगह आया हे, जिसक आधार पर मूर्तिपूजा की अतिशयता का तो बचाव नहीं होगा, लेकिन सगुण साकार का प्रवेश हो जायगा ।’ (पृष्ठ १५)

मे समझता हूँ कि ईसाई ईश्वर तत्व और इस्लामा ईश्वर तत्व में अन्तर हे । रामानुज की स्थिति और आर्य समाज की स्थिति स तो और भा अधिक अन्तर हे । इन सको एक ही सगुण निराकार शीर्षक क अ तर्गत नहीं सांचा जा सन्ता ।

दूसरा बात, जहाँ तरु ‘गहुल्लाह’ का तात्लुक हे, कुरान में तो ‘गदुल्लाह’ यानी अल्लाह का हाथ भी आया हे । पर तु यह चेहरा या हाथ का प्रयोग एकदम लाल्णिक, आलकारिक अर्थ में हे । एक मुस्लिम ईश्वर शास्त्रज्ञ (थियालाजीशियन) से मैने पूछा तो उनके शब्दों में ‘इन्सान को समझाने के लिए ये इन्सानी अटफाज काम में लाये गये हैं ।’ इसका अर्थ मुहम्मद क निकट कहीं भी, किञ्चित् मात्र भी साकारोपासना मान्य थी, यह कहना गलत होगा । साकारोपासना से मुहम्मद का सीधा विरोध हे । बल्कि आगे आप जो ‘वही’ वगैरह के उदाहरण देते हे, वे तसब्बुफ के हे । यानी सूफी लोगा का मतभेद ही सनातन (आर्थडॉक्स) मुस्लिमा से इसी

वात पर हुआ। उर्दू कविता में 'काबे को बुनयाना' बनाने का सारा विद्योह इसी विना पर रखा है।

मौ० मुहम्मद अली कुरान के अंग्रेजी अनुवात् (स० १९२८) का भूमिका में पृष्ठ ४८ पर स्पष्ट रूप से कहते हैं

'कुरान में इश्वर के सब व स चिन विशेषणों का प्रयोग हुआ है, उसकी चर्चा करने के लिये इश्वर सम्य गी एक गलतफहमी के तरे में पाठकों को सचेत करना जरूरी है। कुरान में इश्वर को देवने वाला, मनुने वाला, गाने वाला, बनाने वाला, दया दिवाने वाला, अप्रमत्त, कृपालु, स्नेहाई आदि कहा गया है। लेकिन इन शर्तों में यह नहा समक्षता चाहिय कि इश्वर मानव रूप धारण करता है, क्योंकि साफ तौर से उसका भौतिकता के पर माना गया है। हम उसको देव नहा मकने, मगर वह मय निगाहों का मयता है। न सिर्फ यह भौतिकता के पर है, बकि 'उसके समाग काइ चीज नहा, जा तुम्हारे खयाल में आ सक, यह जा उसके सम्बन्ध में कहा गया है, उसमें भा वह परे है। इश्वर तत्त्व को यह समये अत्युत्तम करपना है।'

(डिवाइन अट्रिब्यूट्स)

इश्वर के सगुण तत्त्वों का भी जहाँ तक सम्य व है, कुरान में इश्वर (अल्लाह) के जो भी विशेषण हैं वे सब अमूर्तताका, अतान्द्रिय (अंसिस्टेंट) हैं, यथा, अल्लाहिम् अहद, अरहम्य, अलफयुम्, अल् गनी, अल् अज़ल, अल् आसिर, कुहम्, अक्षमद, अल् हक, अल् आलिक, अल् जारी, अल् मुसविर, अल् अदी, अर्रलफ आदि। ये सब गुण एम्मे है, जा निर्गुण ब्रह्म का निर्गुणिय लगाते रहे हैं। ज्ञानेश्वर ने मृतानुभव और अभगा में तया कतीर, दादू, सु दरदास ने ये सब व्यक्त किये हैं। इनलिय में आपक 'सगुण निराकार' भेद को ठीक तरह से नहीं समझ पाया। कृपया स्पष्ट करें।

कालिम्पोड में डाक्टर जार्ज रोरिक से मुझे पता चला कि तिब्बती भाषा के ईसा की छठी सदी के व्याकरण के आरम्भ में नम शिवाय मत्र है और तिब्बत में शन्य ही अद्वैत (अद्वय) का रूप ले लता है और वह नकारात्मक नहीं है। तिब्बती में उसे 'तोम्यानी' कहते हैं। ग्राह्य ग्राहक भेद में परे तुडपा (नागार्जुन) ने उसे व्यक्त किया। अद्वय का तिब्बती में 'जिमेय' कहते हैं

आर निर्गुण को 'य ते तेववा'। यह निर्गुण परमेश्वरवादी है। चौथी शती के गौड़ नाशिक अस्मग ने इसको स्पष्ट किया था। सवीचक तत्र आदि से पता चलता है कि मृत्युपूजा, शव साधना आदि जो तांत्रिक पद्धतियाँ जादू में आतीं, वे सेमटिक प्रभाव के ही कारण।

इस ऐतिहासिक को छोड़ भी द तो भा सुझे लगता है, आपर इस विभाजन म इस्लाम को 'सगुण निराकार' म डालने म कुठ गलती हुई है।

मे यह प्रश्न दर्शन तथा साहित्य क जिज्ञासु विद्यार्थी क गाते पूछ रहा हूँ। आशा है, अपने व्यस्त कार्यक्रम म से कुछ समय निकाल कर आप मेरा समाधान करने का यत्न करेंगे।

५ अगस्त, १९५३

विनीत

प्रभाकर माचवे

मेरे पत्र का आचार्य विनोबाजी द्वारा दिया उत्तर इस प्रकार से था
श्री प्रभाकर माचवे,

परमेश्वरों के गुणों का स्मरण कराने वाला आप का चिंतनीय पत्र मिला। जो हम परमेश्वर की थाद दिखाता है, उससे बढ़ कर उपकारकर्ता और कौन हो सकता है ?

सगुण निर्गुण भेद का मर्म जान सकना याने ईश्वर में प्रवेश ही पाना है। ईश्वरत्व कवल अचिंत्य है, शब्द से परे है। तिस पर भी उसके वर्णन के लिये शब्दों का उपयोग किया जाता है, तो ईश्वर वह सहन कर लेता है। विष्णु सहस्र नाम म ईश्वर के दो नाम ही यों दिये हैं।

'शब्दातिग शब्दसह'

अवसर लोक निराकार याने निर्गुण और सगुण याने साकार, ऐसा ही मान लेते हैं। पर निर्गुण निराकार और सगुण साकार से भिन्न सगुण निराकार भूमिका है। पेंगवर की यही भूमिका में समझा हूँ। मैंने यह नहीं कहा कि वे सगुणसाकार को मानते हैं। लेकिन 'बहुब्रह्माह' आदि शब्दों के आशय पर अगर कोई समन्वय करना चाहे, तो सगुण साकार के साथ सम वय हो सकेगा, इतना ही मैंने सूचित किया था। आपने परमेश्वर के जो विशेषण कुरान के दिये हैं, वे बहुत सारे निराकार होते हुए भी सगुण हैं। जैसे 'अर्जुनाक' याने

रोजी बन वाला। निगुण किसी को रोनी नहा ले सकता। निर्गुण का वर्णन ना नकार से ही हो सकता।

सगुण निराकार मानने वाले जिनके हात हैं, उनकी अभिका मचका एक होती है, सा बात नहीं है। उनमें से कोई साकार का निषेध करते हैं। काह साकार का निषेध करते हुए भा, इ मान को समझाने के लिए ही क्यों न हो, साकार वाची शब्द सहन करते हैं। कोई साकार को मानसिक आधार बन है। कोई उसका भौतिक रूप देते हैं। कोई उसकी उपासना के लिए मूर्ति भा, अज्ञान दशा के लिए मान्य कर लेते हैं। ऐसे सब भेद हाते हुए भा ये साकार सगुण निराकारवादी होते हैं। इस्लाम, ईसाई, रामानुज, ब्राह्मण, प्रार्थना समाजी आदि ये सारे जिनके भी उपासनापत्र हैं, सब सगुण भूमिका पर खड़े हैं, ऐसा ही से समझता हूँ।

राम, कृष्ण ये शब्द भी मूलतः असूक्तवादी सगुण शब्द हैं। याने सगुण निराकार हैं। उम पर आकार का आरोपण पाछे से किया गया है। राम याने रमने वाला। कृष्ण याने आर्पण करने वाला 'हर हर महादेव' याने अक्षरशः 'अह्लाहु अक्बर'। महादेव और अक्षर एक तमरे के सगुण समझिये।

जहाँ तक चानचैन का तात्पर्य है, निर्गुण, सगुण और साकार तीनों में यह कोई फरक नहा करता है। अक्षर के आकार में सुवर्ण रहता है और सुवर्ण में सुवर्णत्व है। हम अक्षर की आकृतियाँ देखते हैं। उन आकृतियों में हम अक्षर पढ़ते हैं और उन अक्षरों से हम अर्थ ग्रहण करते हैं। अक्षर निर्गुण है। अक्षर आकृति साकार है। राजा या पद्म हम फाड़ डालते हैं, तो राजा का अपमान होता है।

कुरान में एक जगह सुहम्मद ने अपने अनुयायियों से कहा कि मूर्ति पूजकों के देवताओं की तुम निन्दा मत करो, नहीं तो वे तुम्हारे अक्लाने की निन्दा करेंगे। कोई भा नहीं कहता कि व्यभिचारियों के व्यभिचार की निन्दा मत करो, नहीं तो वे तुम्हारे सदाचार की निन्दा करेंगे। जाहिर है कि इसमें सुहम्मद ने मूर्ति पूजा को अधर्म नहीं माना है, बल्कि पर धर्म माना है। यह सारी मेरा समझने का दृष्टि है। गीता में भी तत्सत् इत्य महामन्त्र में निर्गुण, सगुण और साकार का उत्तम तम वय किया है। उसकी कुछ चर्चा मेरे 'स्थितप्रज्ञदर्शन' में देने की है। सगुण निर्गुण की उपासना की एकता,

जैसी मैं समझता हूँ, 'गीता प्रवचन' में प्रकट की है। मैं नहीं जानता कि इतने से आपत्ता समाधान हो सकेगा या नहीं। आखिर यह अनुभव का विषय है और शब्द शक्ति की एक सीमा है।'

त्रिनोबाजी ने ईसाई मत और आर्यसमाज के सम्बन्ध में भी 'सगुण निराकार' की जो बात कही है, वह पूर्णतः तर्कसंगत नहीं है। ईसाइयों में रोमन कैथोलिक भी तीन ईश्वरीत्व मानते हैं दि फादर, दि होली घोस्ट तथा सन आफ गाड। जीसस में इस त्रयी का एकीकरण है। जब वह मानव रूप ग्रहण कर लेता है तो वह सगुण है निराकार नहीं है। परन्तु जो परम ईश्वरीत्व है वह तो निराकरण है और उसमें सासारिक अर्थों में गुण नहीं है। वह तो शुभ्र प्रकाश है, उसमें रंग छगएँ कहीं? आर्यसमाज की स्थिति तो और भी पिचित्र है। श्रीमद् दयानन्द सरस्वती के 'सत्यार्थ प्रकाश' में ७वें समुहलास (पृष्ठ १२३-१२४) में 'ईश्वरस्य सगुणनिर्गुण कथनम्' नामक प्रकरण में प्रश्न है, 'परमेश्वर सगुण है वा निर्गुण।' उत्तर है, 'दोनों प्रकार है। फिर प्रश्न हुआ भला एक म्यान में दो तलवार कभी रह सकती हैं? एक पदार्थ में सगुणता और निर्गुणता कैसे रह सकती है? उत्तर मिला, जैसे जड़ के रूपादि गुण हैं और चेतन के ज्ञानादि गुण जड़ में नहीं हैं, वैसे चेतन में इच्छादि गुण हैं और रूपादि जड़ के गुण नहीं हैं, इसलिये 'यद् गुणैस्मह वर्तमान तत्सगुणम्', 'गुणेभ्यो यन्निर्गल पृथग्भूते तन्निर्गुणम्।'

वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान, बलादि गुणों से सहित होने से सगुण और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक् होने से निर्गुण कहाता है।'

जहाँ तक हिन्दी और मराठी सन्तकवियों का सम्बन्ध है, यह स्पष्ट है कि परमतत्त्व के निर्गुण सगुण स्वरूप के विषय में दोनों भाषाओं के सन्तकवियों में काफी अस्पष्टता है। मराठी में वैसे पूर्णतः निर्गुण कवि किसी को कहना कठिन है। वैसे चक्रधर र्म, ज्ञानेश्वर के 'अमृतानुभव' में, नामदेव में निर्गुण विषयक उल्लेख अवश्य मिलते हैं। परन्तु समूचे वारकरी सम्प्रदाय में पढरपुर के विठ्ठल की उपासना ही अधिक प्रचलित थी। श्री परशुराम चतुर्वर्दी 'उत्तरी भारत की सत्परम्परा' ग्रन्थ (पृष्ठ ९०) पर लिखते हैं 'वारकरी सम्प्रदाय एक प्रकार का स्मार्त सम्प्रदाय है, जिसमें पंच देवों की पूजा का

विधान है, किन्तु इनके प्रधान इष्टत्व विद्वल भगवान् है। परमात्मा को निर्गुण ब्रह्म जतलाने हुए तत्रा अद्वैतवाद के समर्पक ज्ञान हुए भा इससे साधक भक्ति साधना का सर्वात्म ठहराते हैं। इनका यह भक्ति अद्वैतवक्ति वा अभेदभक्ति है, जिसका कवल अनुभव मात्र किया जा सकता है, वणन नहीं हो सकता। अपने 'अमृतानुभव' में प्रकरण ९ में (४१वीं ओंठी में) कहा है 'देव देवल परिचारू । काजे करुनि डांगरू । तैमा भक्तिचा वस्त्रारू । का न व्हावा ॥' अर्थात्, जिस प्रकार एक ही पहान के भीतर रूवना, नेवाल्य एव भक्त परिवार का निमाण खोदकर किया जा सकता है, उसी प्रकार भक्ति का व्यवहार भी पत्ररू रहते हुए सर्वाथा सम्भव है, इसमें सदेह नहीं। तभा तो अन्त में जाकर देव देव धर्म घनाभूत हो जाता है, भक्त भक्ति में विलीन हो जाता है, ओर दोनों का हा अत हा जाने पर अभेद का स्वरूप अनंत होकर प्रकटना है। निर्गुण भक्ति के साधन रूप स्वगुण को महाराष्ट्र के मत मानते हैं। इस प्रकार स्व निर्गुण स्वगुण के सम्बन्ध में स्पष्ट सीमारेखा न होना दोनों भाषाओं के सन्तकवियों का सामान्य लक्षण है।

उसी प्रकार से दूसरा दोष है—नारी के प्रति कठोर भावना। यह नारी निन्दा की परम्परा मिडों से चली आता है। गोरख नाथ ने भी कामिनी रूप की निन्दा की है (गोरखवानी, पृष्ठ ७ और ५१)। कपीर, तादू, मल्लू, धरनीदाम, दरिया साहब (बिहारवाले), चरननाम, पलटूमाहव आदि ने नारी के भोग प्रधान स्वरूप की घोर निन्दा की है। यहाँ तक कि इय काल की कवित्रियों में सीरा, सहजोवाई या दयाआई में नारा की सामाजिक स्थिति का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। सन्तों के अनुसार नारा त्रयागुण विनाशिनी, ठगिनी, माया, अविद्या का प्रतीक, त्रिष की कोमरा, सपिणी, घानरू छुरी है। सुन्दरदाम के शब्दों में 'कामिनी की देह मातौ कहिये सपन जन, कहाँ कौज जाह सु तो भूलि क परतु है।' नारी को नरक का द्वार कहना का प्रथा यहाँ तक थी कि कपीर का कहना पड़ा 'नारी नि दा ना करो, नारी नर की रान।' जैसे जहाँ सच्ची ईश्वरमेवा की ज्ञान की जानी है, पतिघना का दृष्टान्त अवश्य दिया जाता है।

सन्त काव्य का तीसरा सामान्य दोष है—काव्य पत्र की ओर उपेक्षा। भाषा, छन्द, अलंकार आदि की ओर उनका बिल्कुल ध्यान नहीं था। हिंदी के

य तकवि सन्त ज्ञानेश्वर की तुलना में कम अधीन और इस कारण इस बात में अधिक दोषी कहे जा सकते हैं परन्तु वस्तुतः वह उनका लिए प्रधान विषय ही नहीं था, जैसा कि अन्यत्र आरम्भ में काव्य की कसौटियों के सम्बन्ध में कहा जा चुका है। सन्तकाव्य को सामान्य काव्य की कसौटियाँ लगाना अन्यायमूलक होगा। उनके और एक दोष हुआ खवाद या निराशावाद की विस्तृत चर्चा आगे एक अध्याय में है।

हिन्दी मराठी सन्तों के सामान्य गुणों की चर्चा पूर्व के अध्याय में इतनी विस्तार से हुई है कि उनका मानवतावाद, उनकी निर्भक्तिता, फकड़पन, समाज की खरी खरी आलोचना, जीवजगत् के सम्बन्ध में एक सुधारक और दृष्टा का दृष्टिकोण, उनकी उदारता और असहिष्णुता, धर्म के मारतत्व का ग्रहण और बाह्याहम्बरों का विरोध आदि का यहाँ मात्र उल्लेख पयाप्त होगा। यह ऐसी शानदार परम्पराएँ सन्तों ने ही महाराष्ट्र में और उत्तर भारत में स्थापित की हैं कि वह युगों तक प्रकाश और प्रलम्ब देती रहें।

अध्याय २

दोनों भाषाओं के निर्गुण संतकाव्य की अभिव्यजना में अन्तर और उसके कारण

संतकाव्य की अभिव्यजना में जो अंतर दिखाई देता है, उसका कारण मुख्यतः दोनों प्रदेशों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अंतर है। यद्यपि शंकराचार्य से जयदेव तक स्तोत्र साहित्य में और भक्तिकाव्य प्रस्था में संत काव्य की परम्परा मानी जाती है, परन्तु वह संस्कृत में होने से सच्चे अर्थों में संत कविता नहीं है। उसकी विशेष अभिव्यक्ति प्रायः शिक भाषाओं में हुई। देववाणी छोड़कर संतों ने लोकवाणी अपनायी। मराठी संत कविता आरम्भ में अधिक संस्कृत-प्रभुता है, बाद में वह अधिक जनभाषा के सन्निकट होती जाती है। हिन्दा में सिद्धा, नाथा और संतों में तुलना तक पहुँचते हुए क्रम उलटा है। कबीर की भाषा अधिक संयुक्त है, परवर्ती संतों की अधिक संस्कृत-प्रचुर।

संतों का अर्थ हिन्दा में निर्गुणियों तक माना सीमित है। हिन्दी की आध्यात्मिक कविता में संत, सूफी और भक्त ये तीन भेद स्पष्ट हैं। गोस्वामी तुलसीदास (रामचरितमानसकार) को मराठी पुस्तकों में संत कहा गया है। संतलीलामृत में कबीर और मीरा को संत माना गया है। कई संतों का सगुणविरोध शुद्ध निर्गुणवाद न होकर अद्वैतनिष्ठा का ही एक रूप है ऐसा भी कुछ लोग मानते हैं। एक बात स्पष्ट है कि रहस्यवाद के प्रति दोनों भाषाओं के संतों का एक सा प्रेम है। यह रहस्य जब शब्दों में वे प्रकट करना चाहते हैं तो अभिव्यजना में अवश्य अन्तर लक्षित होता है।

इस अन्तर का एक प्रधान कारण यह है कि मराठी संत परम्परा में अनेके चक्रधर और उसके महानुभाव पथ को छोड़ दें तो सामान्यत एक ही विचारधारा तेरहवीं शती तक चलती रही। तेरहवीं शती की ज्ञानेश्वरों का संस्करण पन्द्रहवीं शती के एकनाथ ने किया। सत्रहवीं सदी के तुकाराम को भी तेरहवीं शती में हुए नामदेव का अधूरा कार्य पूरा करने की इच्छा

हुई। सब सन्तों की अंतिम श्रद्धा विट्ठल के प्रति ही थी। विष्णु, कृष्ण, हरि सब उसी के नाम थे। विट्ठल की बाल लीला कृष्ण के समान ही थी। शिव, दत्त और राम को भी इन सन्त कवियों ने अपने ससो लिया और अपना वैष्णवपन कायम रखा। पर तु हिंदी सन्तों में उपास्यभेद के साथ उपासना भेद भी बढ़ा। कबीर ने मूर्तिपूजा का विरोध करके दैविक समानता निर्माण करने का जो यत्न किया था, वह अधिक काल तक नहीं चल सका। कबीरोत्तर सन्तों में पथ और उपपथ बढ़ते गये। पाँच छह सौ सहस्र वर्षों में अकेले निर्गुण पंथ में ही कबीर, दादू, नानक, निरजनी, साध, सत्नामी और राधास्वामी शाखाएँ पैदा हुईं। एक मराठी लेखक के अनुसार^१ हिन्दी सन्तों ने 'देव्हारा' (देवता का स्थान) तोड़ कर उसके स्थान पर गद्दी स्थापित की, देव तोड़कर गद्दी पर गुरु को बैठाया। मराठी सन्तों ने 'देव्हारा' कभी नहीं तोड़ा, न गद्दी ही कभी स्थापित की। इसलिए आपस में लड़ने का अवसर उन पर कभी नहीं आया।

उसी लेखक के अनुसार 'कुछ हिन्दी सन्तों की रचनाएँ कठिन छंदों में हैं। सिक्खों के ग्रन्थ साहब में बहुत से भजन राग ताल सहित दिये हुए हैं। यानी ताल सुर पर भजन रचने और गाने की प्रथा हिन्दी सन्त परंपरा में बहुत पहले से चली आ रही है। रागदारी में भजन रचना करना या गाना लोकजीवन से थोड़ा दूर जाने के समान है। कबीर, तुलसीदास जैसे महान् सन्तों ने साखी, रमैनी, दोहे, चौपाई आदि सीधे छन्दों पर जोर दिया, क्योंकि वे लोकजीवन से समरस थे। पर तु अन्य बहुत से हिन्दी सन्तों ने कठिन छंद और सगीत अपनाया। मराठी सन्त लोकवाणी की कक्षा के बाहर कभी नहीं गये। उनका सारा साहित्य 'ओवी' और 'अभंग' इन दो छन्दों में है। एकनाथ ने कुछ और छंदों का प्रयोग किया है, परन्तु वह भी 'गोधळी' 'पागुळ' आदि लोकगीतों की धुना के समान ही है। उनके 'गोळणी' जैसे गीत भी लोकगीत की कक्षा पार करके सगीत कक्षा में नहीं गये। इस बात का साक्ष्य यह भी है कि सिक्खों के ग्रन्थ साहब में सगृहीत नामदेव के अभंगों में उनके अन्य भजनों की तरह राग ताल नहीं दिये हैं। मराठी सन्तों की रचना जनमन से अधिक निकट की है।'

^१ मराठी आणि हिंदी सन्त मा कृ पारधी (सत्यकथा माच १९५३)

दोनों भाषाओं के अभिव्यंजना में अन्तर और उसके कारण ३२३

लोकजीवन के दृष्टान्तों के बहुत निकटतम थे कवीर । तभी चक्की का दृष्टान्त देकर उन्होंने कहा

चलती चक्की देखि क दिया कधीरा रोय ।

दोड पाटन के बीच में सावित बचा न कोय ॥

या—

लोगा ऐमे बावरे पाहन पूजन जाय ।

घर की चकिया ना पुर्ज चेहि का पीसा ग्याय ॥

मराठी सन्तकवि एकनाथ की चक्की और अधिक आध्यात्मिक है ।

उनके शब्दों में—

वराग्य जातें मांडुनि । विवेक खुटा धापटुनि ।

अनुहतदण मांडुनि । त्रिगुण वैरणा घातल ॥

यड पो क हाड । एरुलीं दळिता शिणल हात लावी बहिल्ल ॥

—(एकनाथ)

“वैराग्यरूपा चक्का मने सामन रगा है। विवेक की खूँटी पक्की तरह लगायी है। अनहद नाद का पीसना चल रहा है। त्रिगुणों को मैंने बीच-बीच में उस चक्की में डाला है। जो क‘हाड (परमेश्वर), अकली पीसते हुए मेरे हाथ बिलकुल धर गये हैं। मेरी मदद करो।”

बाद में जन गीतों में निर्गुन गाने का एक प्रघात सा चल पड़ा, जैसे निर्गुन कजरी, कलगीतुर के शिवभक्ति सम्बन्धी गान और निर्गुन हारी भी गायी जाने लगी ।

हिन्दी और मराठी सन्त कविता में अभिव्यंजना में अन्तर का एक प्रधान कारण यह है कि जहाँ हिन्दी सिद्ध सन्तों पर बौद्धमत का प्रभाव था, और बाद में सूफीमत की भक्त की आर्तता का भी प्रभाव पड़ा, मराठी सन्तों पर बौद्ध और सूफी प्रभाव कम क्या, प्रायः नहीं के बराबर है। हिन्दी सन्तों में तो बराबर दुःखवाद की परम्परा सी मिलती है।

‘पाहुडदोहा’ में पालि थैरीगाथा की भिष्णुणियों की गीतमाला जैसी आर्तता है। मुनि रामसिंह की अपभ्रंश में एक जैन रचना के अनुसार ‘जब तक आत्मा का बोध नहीं पाता, वह पुत्र कलत्रादि में उलझा हुआ रहता है। साधना से च्युत होकर कई तरह के दुःख सहता है। इस तरह के व्यक्ति के लिए दुःख

का भोग किसी प्रकार कम नहीं है। जीव मोह के वश में पड़कर मोक्ष से वंचित रह जाता है और यही दुःख है। विषयसुख दो दिन के है और फिर वही दुःखा की परिपाटी प्रारम्भ हो जाती है। मानव जान बूझकर अपनी ही कुतहादी से अपने कंधे पर प्रहार करता फिरता है।^१

डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित के ग्रन्थ सत दर्शन (पृष्ठ २६१-२६३) में यह चर्चा है

'करीर की दृष्टि में सुख दुःख दोनों एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं। सन्तों ने बराबर इस बात को दुहराया है कि बिना दुःख के सुख हेय, घृणित और निःसार है। वह जीवन भार है, जिसका आधार आसू न हो। सन्तों ने दुःख ही को सुख माना है। सुन्दरदास दुःख को सुख और सुख को ही दुःख मानते हैं।' कवि के शब्दों में—

सु दर पतिव्रत राम सों, सदा रहै इकतार ।

सुख देवै तो अति दुखी, दुख तो सुखी अपार ॥

इसीलिये मल्लकदास ससार भर के दुःख को आलिङ्गन करने के हेतु प्रस्तुत हैं

जे दुखिया ससार में, खोवो तिनका दुःख ।

दलिहर सौंपि मलूक को, लोगन दीजे सुकख ॥

सन्त पलट्ट के मतानुसार दुःख के भीतर ही वास्तविक सुख और मुक्ति का बीज निहित है। इसके विपरीत सुख नरक का आगार है। इसीलिये

१ जोगिहिं लकखहिं परि भमइ अप्पा दुकखु सहतु ।

पुत्र कलत्रहँ मोहियउ जाम ण बोहि लह तु ॥ ८ ॥

ज दुकखु वित सुकखु फिउ ज सहु त पि य दुकस ।

पह जिय मोहहिं वसि गयहँ लेण ण पायउ सुकखु ॥ १० ॥

मोकखु पावहिं जीव तुहु घणु परिणु चि ततु ।

तो ह विचिंतहि तउ जि तउ पावहि सुकखु महतु ॥ ११ ॥

विसयसुहा दुइ दिवहडा पुणु दुकखह परिवाडि ।

भुलड जीव य वाहि तुहु अप्पा खधि कुहाडि ॥ १७ ॥

अण्णुजि जीउ म चिंति तुहुँ जइ बीहउ दुकसस ।

तिलुसुस मिशुवि सल्लडा वेयण करइ अवसस ॥ ७८ ॥

दोनों भाषाओं के अभिव्यंजना में अन्तर और उसके कारण ३२५

कवि इन दोनों की तुलना में दुःख ग्रहण करने का मल्लूकदास की भांति पक्षपाती प्रतीत होता है—

सुनि लो पलटू भेद यह, हसि बोले भगवान ।

दुःख के भीतर मुक्ति है, सुख म नरक निदान ॥

नानक के मतानुसार दुःख सुख दोनों ही ईश्वर का प्रसार हैं, अत इन्हें मस्तक पर आदरपूर्वक धारण करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है—

मन मूरख काहे विछावै, पृथं लिखे का लेखा पावे ।

दुःख सुख प्रव देवन हार, भवर त्यागि तू तिसै चिमार ॥

जो कटु करै सोई सुख मान, भूला काहे फिरे अधान ।

जगजीवन साहब ने तीन लोकों में किसी का भी सुखी न देखा—

पपिह जाय पुकारेऊ, पछिन भागे रोय ।

तीन लोक फिरि आयऊ, बिनु दुख लख्यौ न कोय ॥

दादू को ता आश्चर्य इस बात पर है कि दुःख से स्वतः होते हुए भी ससार चेतता नहीं है। इस ससार की गति बड़ी विचित्र है। इसने झूठ को सत्य, विष को अमृत और दुःख को सुख मान लिया है। सच्चमुच जगत दीवाना हो गया है—

झूठा साचा करि लिया, विष अमृत जाना ।

दुःख का सुख सबको कहै, ऐसा जगत दिवाना ॥

दुःख का मूल कारण आत्मा का अज्ञान है। अपने आपको भूलना तथा निमित्त कारण उस अज्ञान की शास्त्रारूप मोह, वृष्णा, कामना विषयासक्ति तथा आभ्यन्तरिक दौर्बल्य है। सन्त कवि चरणदास के मतानुसार नारी में विषयासक्ति^१, ससार से अत्यधिक माह^२ जग के आकर्षक रूप^३, काम, क्रोध, लोभ^४, इन्द्रियाँ^५, भजताप^६, जावागमन^७, तथा मानव के अपने दुष्टदृष्टि^८ दुःख के उद्भेक के कारण हैं। धरनादाम के मत से ब्रह्म का विरह ही दुःख का मूल कारण है। अ यथा उमक दर्शन से ससार के समस्त ताप, स^१ताप और

१ चरण० का वाना, ७।८ तथा २९।१ ।

२ चरण० की वा० ३०।९४ ।

५ चरण० की वा०, ३६।१ ।

७ चरण० की वा०, ७७।६ ।

२ चरण० का वाना, ३०।८० ।

४ चरण० की वा० ३३।१०२ ।

६ चरण० की वा०, ५७।३ ।

८ चरण० की वा०, २१।८६ ।

दुःख विलीन हो जाते हैं।^१ भीखा साहब के अनुसार कपट जाशा^२, कपट कुचाल^३, आवागमन^४, तथा भक्ति भावना का अभाव ही दुःख का मुख्य कारण है।^५ दयाबाई ने दुःख का मूल कारण प्रियतम परमात्मा से विरह^६ और आवागमन^७ को माना है।

दुःख का मूल कारण सामान्यतया अज्ञान है। अतएव अज्ञान के निवृत्त करने का उपाय ही दुःख की निवृत्ति का मूल साधन है। अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है यथा अधकार की निवृत्ति प्रकाश से होती है। चरणदास के मत से दुःख की निवृत्ति गुरु द्वारा प्रदत्त अ तर्हटि^८, हरिभक्ति^९, सयम^{१०}, नाम जप^{११}, अनहद नाद^{१२}, साधु सेवा^{१३}, और चित्तन से सम्भव है।^{१४} दयाबाई के अनुसार भजन^{१५} और गिय रूप दर्शन^{१६} दुःख का विनाशक है।

धरनीदास के शब्दों में ऐसा दुःख धर्य है जो मानस को समदृष्टिमान बना देता है।

जाहि परो दुख आपनो, सो जानै पर पीर ।

धरनी कहत सुन्यो नहीं, बौझ की छाती छीर ॥

दादू में विरह का वर्णन बहुत विस्तार से है।

(अथ विरह को अग ३)

दादू नमो नमो निरञ्जनम् नमस्कार गुरु देवत ।

वदन सर्व साधवा प्रणाम पारङ्गत ॥ १ ॥

रतिवति भारत करे राम सनेही आव ।

दादू औसर अन्न मिलै यहु विरहनि का भाव ॥ २ ॥

१ धरनीदास की बानी ५१।२३

३ भीखा सा० की बा० १२।१

५ भीखा सा० की बा० ५८।६

७ दयाबाई की बा० १६।५१

९ चरण० की बा० १४।१ तथा ८४।९

११ चरण० की बा० ४।२

१३ चरण० की बा० ९१।५

१५ दयाबाई की बा० ३।२

२ भीखा सा० की बा० २।३

४ भीखा सा० की० बा० ५७।४

६ दयाबाई की बा० ६।२

८ चरण० की बा० १।२, ८

१० चरण० की बा० २४।४८

१२ चरण० की बा० ५१।२

१४ चरण० की बा० १२।३

१६ दयाबाई की बानी १२।१९

दोनों भाषाओं के अभिव्यंजना में अन्तर और उसके कारण ३२७

पीव पुकारे विरहनी निशिदिन रह उदास ।
 राम राम दादू कह ताला गौली प्याम ॥ ३ ॥
 मन चिन चातग उयूँ रटै पिव पिव लागो प्याम ।
 दादू दरशन कारने पुरवहु मेरी आम ॥ ४ ॥
 दादू विरहिन दुग्व कामिन कहै कासिन देह स्पेश ।
 पन्न निहारन पात्र का विररिन पलटे वेग ॥ ५ ॥
 तान विरहनि दुग्व कामनि कहै चान है जगदीश ।
 दादू निशिदिन विरहि ह विरहा फरण नीश ॥ ६ ॥
 शब्द तुम्हारा ऊजला चिरिया नयो फारा ।
 तुहा तुही निशिदिन करौ, विरहा जी चारी ॥ ७ ॥

(विरह विलाप)

विरहनि रोवै रात दिन, झग मन हा मोहि ।
 दान औसर चलि गया, प्रातम पाथ नाहि ॥ ८ ॥
 दादू विरहनि कुलकुल उयूँ निशिदिन तल्पत जाहि ।
 राम मनही कारण, मैं रोवन रन रिहाइ ॥ ९ ॥
 पाम पैग सब सुण, हम काँ जवाव न दई ।
 दाह तेरे सिरि चद, जीत हमारा रह ॥ १० ॥
 मनको सुखिया देखिय, दुखिया नाही कोई ।
 दुखिया दादूदास ह, ऐन परस नहि होई ॥ ११ ॥
 साहिव मुख बोले नहीं सेवक फिर उदास ।
 यही वेदना जिय सं रहे दुखिया दादूदास ॥ १२ ॥
 पिव बिन पणपण भया कठिन दिवस क्यों जाइ ।
 दादू दुखिया राम बिन काल रूप सब खाइ ॥ १३ ॥
 दादू इस समार में मुझ सा दुखी न कोई ।
 पीव मिलन के कारणो मैं जल भरिया रोई ॥ १४ ॥
 ना बहु मिले न मैं सुखी, कहूँ क्या जीवन होई ।
 जिन मुझको घायल किया, मेरी दारू सोई ॥ १५ ॥

हिन्दी सतों की ऐसी विरह व्यञ्जना, जिसमें वीरों की 'सव्वम दुखखम्' वाली दुखवादी छटा और सूफी दर्द का अंश काफी मात्रा में है, यदि एक ओर

रती जाए तो उसकी तुलना में मराठी सन्तों का विरह विषयक वर्णन उहुत थोडा मिलता है। कुछ वैसी भावुकतापूर्ण आर्तता हमारे विवेच्य काल के बाद के कवि तुकाराम में मिलती है। जैसे कुछ पद इस प्रकार से हैं

मोरया गोसावी का एक विरह व्याकुलता वाला पद है

तुजविण कोण आम्हा आहे रे मोरया ॥ ध्रु ॥

तुझिया भेटीची बहु आस रे मोरया

देखिता तुज बहु दिवस जाले

रात्रदिवस बाट तुझी पाहे

जन्मीजन्मीचा तुझा दास

आणिक कुणाची चाड नाही

एक वेळ कृपा दृष्टि पाही

वेगें गेई तू लवलाही

आवागमन तू निवारी रे मोरया ॥

यह विरहिणीभाव कवयित्रियों में अधिक तीव्रता से व्यक्त होता है, जैसे सगुण भक्त मीरा में। उसी प्रकार की कुछ अभिव्यक्ति मराठी की एक कवयित्री में मिलती है—

कान्होपात्रा (लगभग ईस्वी १३८०) मगलवेदे की श्यामा नर्तकी की पुत्री थी। विट्ठल से विवाह किया, मीरा की भाँति। उसके पदों में आर्त विरहव्यञ्जना है

नको देवराया अत पाहूँ आतां। प्राण हा सर्वथा फुटों पाहे ॥ १ ॥

हरणीचें पाडस ब्याघ्रे धरियेल। मजलागीं जाहलें तैसे देवा ॥ २ ॥

तुजवीण ठाव न दिसे त्रिभुवनीं। धावे वो जननीं विठाबाई ॥ ३ ॥

मोकलोनी आस जाले भी उदास। घेई कान्होपात्रेस हृदयाआँत ॥ ४ ॥

यह अन्तर एक और उदाहरण से स्पष्ट होगा कि मराठी सन्तों ने अपने आराध्य को 'विठाई साउली' आदि शब्दों में माता के समान माना है। हिन्दी भक्तों में सन्तों में परमशक्ति को सखा, पिता, दूल्हा, स्वामी, नाथ मानने की भावना अवश्य ही है, परन्तु माता शायद ही कहीं माना हो। मराठी भक्तों का भगवान राही रखुमाई जैसे दो पत्नियों का पति गृहस्थ विट्ठल है। हिन्दी सन्तों का परमसाध्य सूचन से सूचनतर सा हो जाता है, अत मल्लकदास

दोनों भाषाओं के अभिव्यंजना में अन्तर और उसके कारण ३२६

आदि में जाकर ऐहिक कर्म की ओर से मुँह मोड़ने और वराय का सतत उपदेश है। जगत मिथ्या है, काल उली है। ससार क्षणभंगुर है। प्रेम बन्धन निरसार है, ससार सराय है, ससार झूठा सपना और बुदबुदा है, यह बात बार बार उन्होंने कही है। भकेला ब्रह्म काल से बचा सकता है। परन्तु मराठी सन्तों में यह बात नहीं है। ज्ञानेश्वर न एकाध स्थान पर कहा है—

जे चालणं वेगावत जाये । तो वेगु वैसाक्याचि होये ।

तैसा कर्मातिशयो आहे । नैष्कर्म्यालार्गी ॥ (ज्ञा० १८११-१४)

(जो चलना बग से बढ़ता जाए तो वेग ब्रेगने जैसा हो जाता है । उसी प्रकार से कर्मातिशय नैष्कर्म्य के लिए है ।) पर तु यह बहुत कम बार होता है । अथवा सर्वदा—

अवधियांपुरतें दोसडल पात्र । अधिकार सर्वत्र आहे वेथें ॥ (तुकाराम)

तुकाराम के शब्दों में सबके लिए पात्र उमड़ रहा है, सबको यहाँ अधिकार है । या ज्ञानेश्वर में—

जातां गृहादिक आघवे । तें काहीं नलगे त्यजावे ॥ (ज्ञा० ५१२२)

(अब गृहादिक सब कुछ छोड़ना नहीं पड़ता ।)

मार्गाधारें वर्तावें । विश्व ह मोहरे लावाव ।

अलौकिक नोहावे । लोकाप्रति ॥ (२१७१)

(मार्गाधार से चलना चाहिए । विश्व को मोहरा (शतरंज का) समझ कर दौंव पर लगाना चाहिए । लोगों के प्रति अलौकिक नहीं होना चाहिए ।)

मराठी सन्तों में इस प्रकार से यह ससार और परमार्थ दोनों को एकसाथ साधने की बात बहुत चलती है। हिन्दी सन्तों में उम पार की बात ज्यादा है। इस ससार को कभी कभी रूपक की भाषा में याद कर लिया जाता है। दादू के कथनों में बहुत कुछ परस्पर विरोध भी मिलता है।

दादू ने 'निराकार तेरी नारती, बलि जाऊँ अनन्त भवन के राह' (पद ४४४) गाया है। और साथ ही उस निराकार के बाद वही दादू अपने यानी भक्त के शरीर के अन्दर सब कुछ ही समय पर देखता है

काया माँहे खुले कपाट । काया माँहे निरञ्जन हाट ॥ ७६ ॥

काया माँहे हे दीदार । काया माहं देखणहार ॥ ७४ ॥
 ज्ञानेश्वर के ग्रन्थ 'भक्तराज' मं २२४ ओर २२५वीं ओवियाँ हैं
 'मी निराकार आकारिलो । मी अमूर्त मूर्ति जाहर्ला । मी सगुण होवोनि डेलों ।
 निर्गुणचा ॥ चहूँ खाणी मीच अलें । परि अज्ञानिया केंधि दिसे । हा प्रपुत्रु
 माझेनि असे । राच जाहला ॥"

(अनेककविकृत भक्तिपरमार्थपर कविता, पृष्ठ ७३)

अ त मं, शब्द के विषय में हिन्दी मराठी सन्तों म विचार भेद ह ।
 जैसे—

आम्हा घरीं घन शब्दांचींच ररने ।

शब्दांचींच शस्त्रे यत्न करू ॥

शब्दोच आमच्या जीवाचें जीवन ।

शब्दें वाटू धन जन लोका ॥

तुका म्हणे पाहा शब्दचि हा देव ।

शब्देंचि गोरव पूजा करें ॥ (तुकाराम)

मराठी स तों की ह्य शब्द महति की तुलना में हिन्दी सन्तों की शब्द
 निन्दा देखिये

शब्द साखी सखी नहीं प्रीति ।

जमपुर जाहि दुखा की रीति ॥ (प्राण सगली, पृष्ठ २४) (नाचक)

मलकदासी स त दु खहरनदास ने यहां तरु कह दिया कि—

अमर सो जाकर जग साखा । कै कहु अमर शब्द जो भाषा ॥

तेहिते शब्द कहै अब लीन्हा । मकुराही धाय जगत मह चीन्हा ॥

(पुहुपावती)

अध्याय ३

दोनों भाषाओं के निर्गुण मन्तकाव्य के चिन्तन में अन्तर और उसके कारण

वम तो वेदमंत्रों में 'अकायम, अन्नगम, अस्नाविरम्, अपापत्रिद्वम्', आदि शब्द परमतत्त्व का निर्गुण प्रतीक है। उपनिषद् में भा अस्मत्, अमर, अमर, अभय, इन्द्रियानीत निर्गुण की ओर संकेत करते हैं परन्तु भक्तिकाव्य में आकर निर्गुण से निराकार और सगुण से साकार अर्थात् बोध ग्रहण करने लगा। भागवत धर्म प्रभु के निर्गुण और सगुण दोनों के मूल और परिवर्तित रूपों को ग्रहण करता है। एक सिद्धांत हम प्रकार का भी है कि जैन दर्शन का आर्य चिन्तन पर जो अपरोक्ष प्रभाव पड़ा, वह हम रूप में फूट निकला। सांख्य का पुरुष प्रकृतिवाद, जैन धर्म के जात्र जड़वाद के समान ही है। सांख्य अपने मूलरूप में ईश्वरवादी था, परंतु बाद में ईश्वर का अगिद्धि मानकर निरीश्वरवादी बन गया। जैन दर्शन भी आत्मा से यतिरिक्त ईश्वर का सत्ता नहीं मानता। इस मत में जीवात्मा ही वीतराग होकर ईश्वर बन जाता है। वैष्णवों के आचार्यों ने सृष्टि रचयिता को ईश्वर तो माना, पर भवतारवाद द्वारा यह भी सिद्ध कर दिया कि ईश्वर की जीवात्मा के व्यतिरिक्त सत्ता नहीं है।

इस प्रकार से गीता से लेकर सूर तक निर्गुण भक्ति भी भक्ति का अङ्ग मानी जाती रही। पर उसे कष्टदायक, बलेशकारक समझा गया। गीता में कहा है— 'बलेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्' और सूरदास का पद है— 'अविगत गत कहु कहुन न आवै।' मराठी सन्तकवि ज्ञानेश्वर ही अन्य सत्तों की अपेक्षा, सापेक्ष दृष्टि से अधिक निर्गुण समर्थक, अद्वैतवादी हैं। ज्ञानेश्वर के चिन्तन के विषय में विभिन्न मत इस प्रकार से हैं। स्वर्गीय भारदे उर्फ भारद्वाज ने

'सुधारक' के १८९८, ९९ के अर्कों में 'ज्ञानदेव व ज्ञानेश्वर' शीर्षक से ग्रंथ लिखा और कहा कि ये दोनों भिन्न कवि थे। ज्ञानेश्वर आदिनाथपंथी था और ज्ञानदेव रामानंद सम्प्रदायी। पृष्ठ ४६ पर उन्होंने लिखा है कि ज्ञानदेव के मन का झुकाव अद्वैत की अपेक्षा द्वैत की ओर अधिक था। उसी ग्रंथ में (पृष्ठ १२३) वे लिखते हैं, 'ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ ज्ञानेश्वर ने सब पंथों के लोगों के लिये लिखा और परोपकारी भावना से लिखा। अमृतानुभव उसने अपने नाथसाम्प्रदायिकों के लिये लिखा। अधिकारसापेक्ष सगुणोपासना चाहे व्यक्त हो फिर भी ज्ञानेश्वर स्वयम् निर्गुणोपासक थे।' परन्तु रा० द० रानडे इस मत के विरुद्ध हैं। 'मिरिदलितम इन महाराष्ट्र' में इसकी पृष्ठ ३८-४४ तक चर्चा की है। वारकरी समाज में प्रचलित विश्वास यह है कि ज्ञानेश्वरी का खण्डन ज्ञानेश्वर ने अमृतानुभव में किया है (मिंगारकर, पृष्ठ ८०)। बालशास्त्री हुपरीकर ने १९०३ में 'ग्रन्थमाला' में लिख किया कि ज्ञानेश्वर शंकर के अनुयायी नहीं हैं। १९२१ में पांडुरंग शर्मा ने इस विषय पर और चर्चा की और कहा १ ज्ञानेश्वरी में ज्ञानेश्वर टीकाकार हैं, स्वतंत्र ग्रन्थकार नहीं। २ ज्ञानेश्वर का दर्शन विष्णु स्वामी परम्परा में वल्लभ साम्प्रदायिक है। ३ 'भाष्यकारात् वाट पूस्त' जब वे कहते हैं तो अकेले शंकर से उनका मतलब नहीं है। ४ विद्वल्लभ तयानी ज्ञानेश्वर के पिता सन्यासी होकर गृहस्थाश्रमी यानी पतित थे, इसलिए रामानुज की ओर मुड़े। रामानन्द के वे शिष्य थे, अतः रामानुज सत्कार ज्ञानेश्वर पर है। गीता के द्वितीय अध्याय, ४६ वें श्लोक का अर्थ उन्होंने रामानुजीय ढंग से किया। ५ शंकराचार्य से भिन्न गीता के कई विभाग ज्ञानेश्वर ने किये। ६ अमृतानुभव शंकर मतप्रतिपादक नहीं है। ७ द्विचन्द्र 'ज्ञान सांख्याति है, अज्ञान नहीं, यह रामानुजीय प्रतिपादन का 'नाना चाहु एक अर्से' (अमृतानुभव ७-४५, ९०) से साम्य शब्द अर्थ दोनों में है। ८ आठ तरह से ज्ञान की अनुपपत्ति रामानुज की भाँति ज्ञानेश्वर ने भी दिखायी है।

डा० श० गो० पेंडसे ने अपने ग्रन्थ 'श्री ज्ञानेश्वरार्चं तत्त्वज्ञान' में शंकराचार्य और ज्ञानेश्वर के बीच में जो और सूक्ष्म भेद हैं, उनका विवरण दिया है—

दोनों भाषाओं के चिन्तन में अन्तर और उसके कारण ३३३

शंकराचार्य

ज्ञानेश्वर

१ पुरुष सोपाधिक और प्रकृति
उपाधि ।

१ 'बोहरे' निरुपाधिक ।

२ दोनों तत्त्व भिन्न ।

२ दोनों तत्त्व एक ।

३ पुरुष विषयी प्रकृति विषय ।

३ दोनों एक दूसरे के विषय ।

४ जगदाद्य पुरुष प्रकृति ।

४ कहीं भी पुरुष प्रकृति समाकरण नहीं
कहते । कवल अनुभवामृत म
(१ २०) 'पुरुष' शब्द है ।

५ शक्ति अनादि है ।

५ शक्ति 'शिव घडिली'
(शिवनिमित्त) है ।

६ ईश्वर को माया के बिना कर्तृत्व
नहीं है ।

६ ईश्वर को मायाविराहत स्वतंत्र
कर्तृत्व है ।

७ जगदाद्य प्रपञ्चोपक है ।

७ जगदाद्यदागम्य प्रपञ्चवृत्त के बैरी हैं ।

८ अध्यात्मवाद ।

८ समीर गति, सुवर्ण कान्ति, कस्तूरी
परिमल, अग्नि उष्णता का दृष्टान्त
देकर अध्यात्मवाद को टाला ।

९ ज्ञान को मोक्षकारक मानते हैं ।
त्रिपुटी से अद्वैत नष्ट होता है ।

९ ज्ञान और योग को साथ साथ मोक्ष-
कारक और त्रिपुटी अद्वैत में ही
है, ऐसा मानते हैं ।

इस प्रकार डा० पेंडसे के अनुसार ज्ञानेश्वर पाचरात्र सिद्धान्त के निकट हैं । पाचरात्र और रामानुज का वल्लभ से भी अधिक उपकार्यापकारक भाव है । ज्ञानामृतसहिता, वल्लभ के अणुभाष्य और अमृतानुभव म साध्य है । देवोदेवी, प्रिय प्राणेश्वरी, सवित आदि शब्द ज्ञानामृतसार म आये हैं । ज्ञानेश्वर ने शिव और ब्रह्म शब्द आचार्य से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त किये हैं । डा० लॉडे के अनुसार ज्ञानेश्वर द्वैताद्वैती थे ।

इस प्रकार से सूक्ष्म दार्शनिक चिन्तन और तदनुकूल काव्य सौष्टव, दृष्टान्त वैयर्थ्य मराठी सन्तों में मिलता है । जनी जनार्दन (समाधि, १६०१ ईस्वी) के 'निविकल्प ग्रन्थ' या 'उद्धवबोध' की पाथी 'भुवनदासपठनार्थ

दशरथशेठ चावडकर' ने १७७४ ईस्वी में लिखी। उसमें परमात्मा सृष्टि से अलिप्त और यापक कैसे है, इस पर उल्लेखाएँ दर्शनीय हैं—

जैसे अग्निविना। लोहो न पिटवे जाणा।

परतु लोखडासि अग्नि जाना। अलिप्त असे ॥ २४६ ॥

कि फुलाचा परिमळु जेसा। फुली सामावली आपैसा।

अलिप्तरूपे जैसा। फुली असे ॥ २४७ ॥

अक्षरामाक्षारी। अर्थ जैसा निर्धारि।

ऐसा असे भी मुरारि। व्यापकपण ॥ २४९ ॥

अक्षर पुसिता काहीं। अर्थ जैसा गेला नाहीं।

ऐसा मी सर्वदेही। व्यापक असे ॥ २५१ ॥

(अर्थ 'जैसे अग्नि के बिना लोह पीटा नहीं जा सकता। पर तु लौह से अग्नि अलिप्त होता है। अथवा फूलों का परिमल जैसे फूलों में सहज सब्याप्त होता है, पर तु फिर भी फूलों से अलिप्त होता है। अक्षरों के बीच में अर्थ जैसे निश्चित है, ऐसा ही मैं मुरारी सर्वयाप्त हूँ। अक्षरों को पोक देने से अर्थ तो नहीं चला जाता। उसी प्रकार से मैं भी सर्वदेह में व्यापक हूँ।')

मराठी सतों में इस प्रकार से वेदान्त की भी बहुत सी छटाएँ, बौद्धिक विवेचना, तर्कपूर्ण खण्डन तक मिलता है। हिंदी सन्तों में अधीत कोई नहीं थे, शास्त्रवचना से उनका परिचय केवल सुनी सुनायां बातों के आधार पर था। बहिक ग्रन्थ प्रामाण्य का तो वे घोर विरोध करते थे कबीर ने 'आंख देखी' कही, और लोग तो 'किताब की लेखी' कहते थे, और नानक ने तो यहाँ तक कह दिया कि 'सुसज्जा फोड़, तसबीह तोड़, किताबें डाल पानी में।'।

इस पहले बड़े अंतर के बाद दूसरा जो बड़ा अन्तर मराठी और हिन्दी सतों के चिन्तन में मिलता है, वह है अनार्थ प्रभाव और आर्थप्रभाव की परम्परा के कारण। जैसे कि पहले हम कह आये हैं 'भक्ति द्वाविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द' के अनुसार वस्तुतः यह निर्गुण सम्प्रदाय मूलतः दक्षिण की उपज है। धीरे धीरे वह उत्तर की ओर आया। उसमें नाथपन्थी, बौद्ध शून्यवादी और तसबुफ के ताने बाने घुलने मिलने लगे और यह सन्तों का बड़ा सा विचार पट बुना गया। कबीर से लेकर मलकदास तक जो चिन्तन हम मिलता है, उसमें इसी कारण से शाक्त उपासना के सूत्र कम मिलते हैं।

देहातिर्या की अन्ध विश्वास वाली बात कम मिलती है। दृष्टान्तों में भी ग्रामदेवताओं का उल्लेख प्रायः नहीं के बराबर है। उत्तर भारत के मन्त्रों का चिन्तन प्रायः एक से स्तर पर रहा है। क्वार, द्वाद, सुन्दरदाम, जगजीवन राम, दरिया साहब, पठरू प्रायः एक ही सी शब्दावली की पुनरावृत्ति करते हैं। उनके लिए सत्कार महाजाल है, मोक्ष का मार्ग भी प्रायः एक सा है। परन्तु महाराष्ट्र के सन्त चिन्तन में यह बात नहीं है। उनका मोक्ष सम्बन्धों उद्गार भिन्न प्रकार के हैं। उनमें इतनी अधिक पुनरावृत्ति नहीं मिलेगी। ज्ञानेश्वर और नामदेव, एकनाथ और तुकाराम के तर्क, त्रिवचन पद्धति और उसके लिए जो उदाहरण वे चुनते हैं, सब भिन्न भिन्न व्यक्तित्वों की छाप लिये हुए हैं। विख्यात नृशास्त्रविशेषज्ञा डा० इरावती कर्न की पुस्तक 'मराठी लोकार्थी संस्कृति' की आलोचना करते हुए दुर्गा भागवत कहता है 'हमारे रीति रिवाज और देवताओं पर दक्षिण का बहुत अधिक प्रभाव है। महाराष्ट्र, कर्नाटक और तैलंगन भाषा से भिन्न हों तो भी अंतर से एकरूप है। ग्रामदेवताओं का इतिहास यह सिद्ध करता है। महाराष्ट्र, कर्नाटक, तैलंगन की स्त्रियों का साड़ी पहनने की पद्धति एक सी है। चोला, कसादा एकसा है। कुकू लगाने की, भगलसूत्र पहनने की वही रीति है। स्नानपान एकसा है। चटनी और पकवान परोसने की पद्धति एकसी है। महाराष्ट्र का खडोबा दक्षिणात्य देवता है, ऐसा डा० केतकर कहते हैं। हमारी देवीपूजा दक्षिणात्य पद्धति की है। बंगाली पद्धति की शाक्त नहीं है। धर्म के मामले में शैव और वैष्णव पथ का एकीकरण ज्ञानेश्वर के कारण हुआ। महाराष्ट्र भाषा के उच्चारण पर भी गुजराती कन्नड का असर है, विशेषतः 'चवर्ग' के उच्चारण पर।' (सत्यकथा जुलाई १९५२)

ज्ञानेश्वर अन्तर परमावस्था या ज्ञान और ध्यान संयोग के विचार के सम्बन्ध में है। मराठी सन्तों में निर्गुण सगुण एकाकारिता का संकेत है। 'ज्ञानेश्वर महाराजकृत्या अभंगांची गाथा' में पृष्ठ ५६ पर एक अभंग है, जिसे योगपर कहा गया है 'निर्गुणाचें रगी रगल हें मन। सावळे सगुण ब्रह्म तेंची ॥ १ ॥ मताभिमानी ऐसा विश्वास न धरिती वचनीं। निर्गुण सगुण दोन्हीं भिन्न असती ॥ २ ॥ और पृष्ठ २४३ पर अद्वैतपर अभंग में वही ज्ञानेश्वर कहते हैं 'निर्गुणीची छाया सगुणीं विबलीं। तत्वीं तत्वें गेलीं

अनुठाया ॥ १ ॥ निश्चलीं निश्चले लगे बल्लुमाल । तत्त्वता भाढळ तें वेगळेंची' निर्गुण को ही सगुण में देखने की बात हिन्दी सन्तों में नहीं है । वहाँ इस प्रकार की परस्पर विसंगत जान पड़नेवाली खाई सन्तों ने विचार द्वारा पाट दी है । डा० पीताम्बरदत्त बडधवाल के मरणोपरांत प्रकाशित ग्रन्थ 'मकरद' म पृष्ठ २५ २६ पर हिन्दी निर्गुण सन्तों की उन्मन दशा का अर्थ दिया गया है ।

जिस उन्मन दशा तक पहुँचने का प्रयत्न निर्गुणी सन्त करता है, यह एकान्त मनोनिग्रह पूर्वक प्रेमपुष्ट स्थिर विचार और ध्यान का परिणाम है । यह बात ठीक है कि इसके लिए योग की क्रियाओं का भी सहारा लिया जाता है, परन्तु गुलाल ने स्पष्ट शब्दों में कहा है

अर्ध उर्ध को खेल कोऊ नर पावई ।
चाँद सूर को बाँध गरान से जावई ॥
इगल पिंगल दोउ बाँधि सहज तब आवई ।
कह गुलाल हर रोज आनन्द तब आवई ॥^१

परन्तु साथ ही ध्यान और विचार की भी सहायता ली जाती है, वे त्याग नहीं दिये जाते । 'ज्ञान' शब्द, जो सहजानुभूति के पर्याय के रूप में ग्रहण किया गया है, उसकी विचारानुसारिता की ओर संकेत करता है । अपनी आलंकारिक वैकुण्ठ यान्त्रा के लिए कवीर हाथ में प्रेम का कोड़ा लिये सहज हो रकाब पर पाँव रखकर विचार तुरग पर सवार होते हैं ।^२ कवीर ने स्पष्ट शब्दों में ही कहा है—'रामरतन पाया करत विचारा'^३ और 'प्रगटे विश्वनाथ जग जीवन में पाये करत विचारा'^४ एक और पद में कहा गया है 'आप विचारे ज्ञानी होई'^५ सहज भाव की प्राप्ति मानसिक व्यापारों को काम में लाकर

१ बानी, पृष्ठ ६७, १७ ।

२ अपने विचारों अवतारि कोजे, सहज के पावड पाव जब दीजे ।

चलि बैकुण्ठ तोदि ले तारौ, अकहि त प्रेम ताजने भारौ ॥

(कवीर अ थावली, पृष्ठ ६९, २५)

३ वही, पृष्ठ ३१५, १६१ ।

४ वही, पृष्ठ १७९, २६७ ।

५ कवीर अ थावली, पृष्ठ १०२, ४२ ।

आदि ग्रंथ में यह पूरा पद नानक (प्रथम गुरु) नाम से दिया हुआ है, आदि ग्रंथ, पृष्ठ ८१ (वैद्य का तरनतारन सत्करण) ।

उनसे ऊपर उठने से ही हो सकती है, उसका सर्वथा ग्रहण करने से नहीं। दान्त १ इस्लिये विचार को सत्य-याधियों का एकमात्र औषधि कहा है। उनका सम्मति में करोड़ों आचारी भी एक विचारों की राबरा नहा कर सकते। आचार का पालन तो सारा जगत कर लेता है, पर विचारों का विरता ही हा सकता है।^१ पर तु महजानुभूति के क्षेत्र में विचार नहा पहुँच पाता। उसका ग्रहण नहा किया जाता, वह नीचे हा रह जाता है। क्योंकि वह व्यावहारिक है। इसी में करीर ने कहा है, सत्य ब्रह्म का साक्षात् हा गया तब विचार का क्या काम? प्रवहार तो सत्य को हा रह हा नहा गया। और इसी को ध्यान में रखकर सम्भवतः शिवदयान्त जा न भी कहा है कि परमपद में कल सत्य नाम है, वहाँ विचार का को हा नाम नहीं। विचार का काम माया के क्षेत्र तक है जहाँ वेद सिधु में अलग है। इस्लिये विचारि हाँने यह समझा कि विचार को लेकर हम परमपद रूप सागर में पहुँच जाणेंगे व धोने में जा गये और वेद ही के क्षेत्र में रह गये। जीव दशा में दुःकारा न पा सकते।^२

महजानुभूति को जगाकर जो सत्य ब्रह्म समाधि में लाने हो जाना है, वह समार में अलग पहचाना जाता है। उसके सत्य धर्म को हाँ गलती नहा हो सकती। उसका प्रेमोउवल परमार्थ रूप छिपा हाँ रह सकता

अनुभव प्रम उल्लसल परमारथ रूप अलग दरमाव।

कह भीपा वह जागरत जोगी सहज समाधि लगाव ॥

१ दान्त सबही याधि की औषधि एक विचार।

समझे ते सुल पाण, को हाँ कुल कल गमार ॥

कोटि आचारी एक विचारों तऊ न सरमरि हाँ।

आचारी सव नग भरया, विचारों विरला होइ ॥

२ अतः क्या कीजै नान विचारों, निज निरसत गत पाहारा ॥

(कवार प्रयावला, पृष्ठ १०४, २१)

३ हमरे देश सत्य नाम, वहाँ विचार का कुल नहाँ काम।

कर विचार इत योग्या लावा, बुल माहि यह नाय भमावा ॥

(सार वचन, २ य, पृष्ठ ७९)

४ वानी, पृष्ठ २५, २।

२२ हि० म०

उसके प्रत्येक सांसारिक कृत्य में यह सहजानुभूति परिलक्षित होती है।

अतः दोनों भाषाओं के निर्गुण सन्त काव्य के चित्त में एक प्रधान अन्तर श्रद्धासम्बन्धी विश्वास का जान पड़ता है। हिन्दो सन्त कबीर की श्रद्धा भक्ति में प्रेमस्वरूप प्रधान है। नारदीय भक्तिसूत्रों में १८वें सूत्र 'आत्म में तीव्र रति होना ही भक्ति है' कबीर में मिलता है। उनकी भक्ति पर सूफ़ी 'इरक' और 'खुमार' के असरात भी हैं। जैसे 'हरिरस पीया जानिये जे कबहूँ न जाय खुमार' (कबीर प्रथावली, पृष्ठ-१६)। कबीर तो यहाँ तक कहते हैं कि 'कबीर जो तुइ साथ पिरम की सीस काटि कर गोइ।' कबीर की निर्गुण भक्ति को इसीलिए पराभक्ति के समान अहैतुकी और अव्यक्तहित माना गया है। वह भक्ति निष्काम और त्रिगुणातीत है। प्रायः सभी निर्गुणियों की श्रद्धा यों श्रद्धास्थान की अपेक्षा विरहित आत्मनिष्ठ है।

मराठी सन्तों की बात ऐसी नहीं है। यहाँ श्रद्धा विषय की अपेक्षा से कम अधिक हो सकती है। वह औचित्य भी देखती है, स्थल काल का।

उदाहरणार्थ मराठी सन्त एकनाथ ने कहा है

नवलश्रद्धेचे लक्षण । ब्रह्मा भुगी समसमान ।
 तरी यथोचित विधान । सर्वथा जाण सुकेना ॥
 एका अज्ञ आच्छादन । एकारी ते कोरबे कण ।
 एका तृण आणि जीवन । एका पयपान यथोचित ॥
 जेणे ज्यासी मुख सम्पूर्ण । तें उचित श्रद्धे जाण ।
 अनुचित श्रद्धेचें विदान । हु खकारी पूर्ण स्वार्थी ॥
 जेवी ब्राह्मणा वाडिलें तृण । गाईस वाडिलें मिष्टान्न ।
 श्वानासि वेसका सिंहासन । साधूसि आसन थारोळा ॥
 याप्रासि पडित्या लघन । त्यासि अपूर्ण नये गोदान ।
 गाये गांवत्या सम्पूर्ण । तैलाभ्यगन करू नये ॥
 करिता यथोचित अर्पण । जरी क्रिया हो भिन्न भिन्न ।
 तरी अन्तरश्रद्धा अभिन्न । हैं मुख्य लक्षण भागवतधर्मों ॥

(एकनाथी भागवत, ३, ३७०,, ३७२-५, ३७७)

अर्थात् श्रद्धा का लक्षण अज्ञान है। ब्रह्म और चाटा का समसमान है। तो भी यथोचित विधान सर्वथा गलत नहीं होता। एक का अन्न और प्रावरण होता है, तो एक को सूये ऋण होते हैं। एक को नृण और जायन होता है तो एक को यथोचित पशुपान मिलता है। जिससे जिसका सुख सम्पूर्ण हो वही उचित श्रद्धा जानिये। अनुचित श्रद्धा का उपयोग दुःखकारा पूर्णसर्वार्था है। जिस प्रकार से ब्राह्मणों को चारा दिया जाए और गाय का मिष्टान्न परोस दिया जाए या श्वान को मिष्टान्न पर बैठाया जाए और साधु को आसन घूरे में दे दिया जाए। व्याघ्र को लघन हाने में उस गादान नहीं दिया जाता। गौं पूरा तरह गदा हाने पर उस तेल मालिश करके नहीं नहलाते। भागवत धर्म का मुख्य लक्षण है यहाँ है कि यथोचित अर्पण में भी क्रिया भिन्न भिन्न हाने पर अन्तर श्रद्धा अभिन्न रहता है।'



अध्याय ४

कबीर और चक्रधर का तुलनात्मक अध्ययन

प्रस्तुत लेखक के मन में बहुत उर्षीं पूर्ण 'सरस्वती' में छुपे ओर अब 'मकरद' में सप्रहीत डा० बडधवाल के 'कबीर और गाँधी' नामक निबन्ध की गहरी छाप है। और सन् ४६-४७ में वैसा ही एक निबन्ध 'मौज' के विशेषांक में श्री अ० का० प्रियोलकर का पढ़ा—'चक्रधर और गाँधी।' तब से दोनों सत्ता के तुलनात्मक अध्ययन की बात मेरे मन में उहुत दिना से थी। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'कबीर' और प्रि० मि० कोलते के 'चक्रधर चरित्र' तथा हरिभाऊ नेने के 'सूत्रपाठ' आदि ग्रंथों के अध्ययन से यह कार्य आगे बढ़ा। अब यहाँ सत्तेप में दोनों के जीवन और कृतिरवक साम्यस्थल और अन्तर की चर्चा करूँगा।

पहला बडा भेद तो यह है, कबीर थे निर्गुणिये, चक्रधर थे सगुणो पासक, यानी यहाँ तक कि उनके शिष्य और जनता उन्हें श्रीकृष्ण का अवतार मानती थी। कबीर ने 'मसि कागद नहीं छुआ' तो चक्रधर वेदोपनिषदाधीत थे। कबीर जात के जुलाहे थे, चक्रधर या हरपालदेव गुजरात के भरवस गाँव के मन्त्री विशालदेव और महाइसा के पुत्र थे। तास्स्वाय की तरह चक्रधर जीवन में 'काउट' थे। कबीर का किसी राजघराने का कोई सम्बन्ध नहीं रहा। परन्तु भिन्न उरसों से, मूलबिन्दुओं से शुरू होकर कबीर पन्थ और महाजुभावों के आचारधर्म में विलक्षण समानता है। चक्रधर के पथ में सर्वसग परिन्त्याग, विकारशून्यता, विकल्पशून्यता, स्वभावमात्रा, अटन विजन, नाम माहात्म्य, विरह का माहात्म्य पाया जाता है, कबीर और उनके अनुयायियों में भी इन्हीं सत्त बातों की वैसी ही महत्ता है। चक्रधर ईश्वर स्वरूप को अव्यक्त, अनादि, अच्युत, अतिक्रिय, अनन्त, अमूर्त, आनन्दमय,

केवल निरर्थक, निरभिमानी, निर्गुण तक मानते हैं। कवीर ने जिस तरह से 'गुण स निर्गुण, निर्गुण स गुण, राट छोटि क्या त्रिण' (कवीर प्र०, पृ०-१४९, पद-१८०) कहा उमा प्रसार से महानुभावा प्रथ 'ज्ञानप्रवाह' में सूत्र है 'प्रव्रतिमाजी अमोनि न मेळ, गुणधर्मा तियचा' (ज्ञा० प्र०, ५५८)।

कवीर आर चक्रधर की चि तनपद्धति में इतना ग्राह्य है कि दृष्टान्त तक दोनों एक से हैं। कवीर ने कहा है 'अवगति की गति का कहूँ, जिस का गौं न गौं। गुरु त्रिहुँन का पत्तिये काफ धरिण नाँव ॥'

(क० प्र०, पृ०-२३९)

और श्वेताश्वतरांपनिपदक 'अपाणिपातै रजनी प्रहीता' का भौति कवीर का निर्गुण वर्णन विभावनात्मक या नकारात्मक है। यथा (१) 'त्रिन मुर खाइ चरन त्रिन चात्र बिन जिह्वा गुण गावै' (क० प्र०, पृ० १५०) (२) 'ना तिम सपद न स्वाद न मोहा। ना तिहि मातपिता नहि मोहा ॥'

(क० प्र० पृ० २४३)

इसकी तुलना में चक्रधर का एक दृष्टान्त देखिये—

१ कवहणी एक दुधाचे गुण वामेय अन्मोदीत होते तेथ जास्यघु आला होता। तेण पुसिल हा गा दूध तें कैसे दूध तें पाढर पांढरे ते कसे पाढरें त वळहेसारीलें वळहे ते केली वळहे तें रुमण या सारीखी रुमणे तें कैसे रुमणे त ऐसे मणोपि हातु वाकुडा करुनि माहाल। एक दासु तेण रुभण कोटा देखीलें तथा अगणी देखीलें हातु वाकुडा करुनि पाहिला दूध तें हैं मणोनि पेवा लागला हीरडीया फुटति रगत नीगे। आरे हैं काई करीतासि ना दूध पीताये। आरे साडि सगडी हैं रुमणें, हीरड्या फुटति ना माक्षेनि वापें सागितल दूर होय परि न सडी ॥'

इस दृष्टान्त पर कशिराज ने यह दार्ष्टान्तिक दिया है

२ जैसे कवहणी एक इशराचे गुण विशेषु अमोदांत हाते तेथ कठीया वसला होता। तेण पुसिलें हा गा परमेश्वरु तो कैसा जैसा कलाम बेकुर्माचा ब्रह्मा विष्णु महादेवो। ब्रह्मा तो कैसा जैसा आयुध्येचा रासु। रासु तो कैसा मग द्वीभुज चतुर्भुज मणोनि प्रतिमा दाखवी। मग तेथ तो राहै

झाड़ी सबा समाजर्जन करी पाला तोडी तेण अधिका नरकचि होति ।
मणौनि हेतुगर्भित हींसा ॥'

(दृष्टांतपाठ, पृष्ठ-२०)

अर्थ १ कोई एक दूध के गुणों की विशेष प्रशंसा कर रहा था । वहाँ एक ज माध आया उसने पूछा दूध कैसा है ? तो उत्तर मिला, दूध सफेद है । दूध सफेद कैसे है ? सफेद बगुले जैसा । बगुला कैसा होता है ? 'रूभणे' (लकड़ी के हाथेवाले छोटे बकखर) जैसा । रूभणा कैसा ? तो हाथ टेढ़ा करके उसने बताया । एक बार उसने वह टेढ़ा बकखर आँगन में देखा । दूध समझ कर वही पीने लगा । उसके मसूड़े सृज गये, खून निकलने लगा । लोगों ने पूछा अरे, यह क्या कर रहे हो ? उत्तर मिला, दूध पी रहा हूँ । अरे छोड़ दे, छोड़ दे यह बकखर । मसूड़े फूट जाएँगे । उत्तर मिला, नहीं मेरे बाप ने कहा है । जब तक दूध नहीं निकलेगा, मैं नहीं छोड़ूँगा ।

२ उसी प्रकार से कोई ईश्वर के गुणों का विशेष बखान कर रहा था । तो वहाँ पुजारी बैठा था । उसने पूछा यह परमेश्वर कैसा है ? जैसे कलास बेकुठ का ब्रह्मा विष्णु महादेव । ब्रह्मा कैसा ? जैसा अयोध्या का राम । राम कैसा ? तो द्विभुज, वाद म चतुर्भुज प्रतिमा दिखलायी । तब वह वहीं रहने लगा । झाड़ू लगाने लगा । गोबर से लीपकर आँगन बनाया । कद मूल फल तोड़े । इस तरह से और नरक बढ़ गया । इसलिए हिंसा हेतुगर्भित है ।

कबीर और चक्रधर के तुलनात्मक अध्ययन के पूर्व दोनों के समय कौनसी सामाजिक राजनैतिक परिस्थितियाँ थीं, इसका विचार करें । दोनों के जन्म काल के विषय में विद्वानों में ऐक्यमत नहीं है । परन्तु डा० फोल्ते चक्रधर का समय शके ११८९ से ११९६ तक मानते हैं । और डा० गोविंद त्रिगुणा यत सवल १४५५ से १५७५ मानते हैं । तात्पर्य दोनों के बीच में प्रायः १२४ वर्षों का व्यवधान मात्र है । परन्तु दोनों के समय जो राजनैतिक असुरक्षितता और पस्तहिम्मती पायी जाती है, और जैसी सामाजिक असमानता, विशेषतः शूद्रों के प्रति जैसा अत्याय मिलता है उसमें बड़ी समानता है । मैं कुछ उदाहरणों से अपनी बात स्पष्ट करता हूँ ।

कबीर

चक्रधर

१ राजनैतिक स्थिति

१ राजनैतिक स्थिति

मुहम्मद तुग़लक (१३२५-५३) क बाद तमूरलगा का आक्रमण (१२९८) और उसके बाद बहलोल लादी द्वारा दश को एकसूत्र में बाँधने का यत्न। सिफ़ादर लोदी क धमान्तर क प्रिषय में अत्याचार कबीर क शिष्य बोधन (इलियट एन् डाउमन लोधन कहते हैं) को मरण स्वीकार करना पडा। इस सारे आक्रमण के फल स्वरूप एक ओर हिन्दू मुस्लिम सामजस्य का आवश्यकता बढी। 'निरुसाह क फलस्वरूप धर्म की ओर हिन्दू समाज की अभिरुचि बढी। धर्म भी सगुणोपासना में असमर्थ होने से निर्गुणोपासना का ओर झुका।' (कवार की विचारधारा, पृष्ठ ७९)

डा० तुम्पुल् क अनुसार १२७८ क करीब रच गय 'लीलाचरित्र' और 'गोविंठ प्रभु चरित्र' ग्रंथों स पता चलता है कि यादवकालीन महाराष्ट्र कृषि प्रचान था। किसान कर्ज करक अपनी खेती किया करत थ। किसान या गँवार क अर्थ में 'तुतकार' एक हाननाघातक शब्द था। उस समय गगतीर से गुजरात और उर्झन की ओर कपडे का व्यापार करनवाले 'चाट' थे, छोटी छोटी दुकानें चलानवाले 'दुमा' थे, जेलों पर अनाज बेचने ले जान वाले 'भुसारी' थे, किरानियाँ को 'बम्बू बेसरू' कहत थे, घोड़े बचने वालों का 'हेडाऊ'। सर्राफा का भी वर्णन मिलता है। सामाजिक सुरक्षिता बहुत कम थी। बटमार (चोर पेकार) थ। 'राज्यातर' हुआ करते थे, आमणदेव की आँखें निकालकर रामदेवराय गहा पर बैठता था। रात की गरत करने वाले 'तराके' थ। महाजनों की ओर न्याय देने का अधिकार था। स्मातों को बुला कर, 'निबध' (शान्नाधार) निकलवाकर एक चमार को चून के डेर पर बैठकर ऊपर पानी की मखाल छोड़ी गया। अपराधियाँ को कडा दंड दिया जाता था।

२ सामाजिक स्थिति

डा० कुरैशी के 'एडमिनिस्ट्रेशन आफ सुलतानेत आफ वेहली' ग्रन्थ के अनुसार हिंदू धर्म की वर्ण व्यवस्था और जात पॉत इतनी बढ गयी थी कि द्विज भलेच्छा की छायामात्र से घृणा करते थे (पृ० २२७) । और डा० ताराचद के 'भारतीय सस्कृति पर इस्लाम के प्रभाव' ग्रन्थ में पृ० १०४ पर 'शूद्र के ब्राह्मण भी शिष्य होने लगे थे' ऐसा कहा गया है । सुसलमानों की भी विलासिता बढ रही थी । फीरोज तुगलक के मंत्री खाने जहाँ और हरम और मुद्रा विभाग के प्रमुख कादरशाह का प्रपच करके धनार्जन इसके प्रमाण हैं । इसी कारण से सुधारक सत्तों को समाज में बहुत सा सघर्ष मोल लेना पडता था, हिंदू और मुस्लिम दोनों ही ओर ।

२ सामाजिक स्थिति

यादवकालीन महाराष्ट्र में जाति भेद तीव्र था ब्राह्मण की स्त्रियाँ कुनरी के घर में खा नहीं सकती थीं । उनिसे के घर जीमने के वाद भी चक्रघर के पैरों का तीर्थ 'पेट पवित्र करने के लिये' पिया जाता था । एक मंदिर का पुजारी गूजर था । लुहार अट्टन थे, परन्तु उनकी स्त्रियाँ के साथ सवर्ण विवाह करते थे । श्मशानवस्त्र के अधिकारी महार (डोम) थे । मातंग या 'माग' देवालय के कलश को दूर से जोहार करते थे । मागों के लिए अलग प्याऊ थी, कही वे पानी के बिना तिलमिलाते थे । 'शूद्र सुखानु वाद' लीलासे जान पडता है कि शूद्र अल्पमतुष्ट थे । शूद्र शैवपथी थे, सोरटी सोमनाथ, आवढे का नागनाथ, परली के बंजनाथ का आराधन करते रहते थे । कोली, भ्वाला, तेली और कुम्हार के उल्लेख मिलते हैं । आध्र न्श के 'शिलमारा' तेली लिंगोपासक थे । कोली स्त्री से 'घरवात' या विवाह निंदास्वद माना जाता था । ठूआळूत भी बहुत थी ।

३ धार्मिक स्थिति

३ धार्मिक स्थिति

जनसाधारण में महजयान, वज्रयान, निरजनपथ, बाउल संप्रदाय आदि कई नास्तिक मत चल रहे थे। वाममार्ग भी जोरों पर था। उधर शकर और परवर्ता आचार्यों ने अपने अपने मतवाद प्रचारित करना आरंभ कर लिया था। शकर ने विवक या ज्ञानयोग पर बल दिया, जय सभी आचार्य भक्तिमार्ग थे।

गारहर्वा शनी के मत तक शैव मतों का ही प्रभाव था। वसे अधवि श्वास भी थ और ग्राम दवताओं की भी पूजा होता थी। पर तु गौड प्रभाव कम। नामिकता की ओर दुमात्र प्राय तहां क प्रसार था। डा० कोलते के अनुसार महाराष्ट्र में जन, लिंगायत, नाथपंथी, आगमिक, सिद्ध, वैदिक, पयोगता, साम्यापवास्विना, मत्र हो थे।

(चक्रधर चरित्र, पृष्ठ २४२)

चक्रधर और कबीर के जीवन में जो दो चार साम्य स्थल मिलते हैं, वे हैं, दोनों के सम्बन्ध में चरितविषय सामग्री का उहुत कम मिलना दो विवाह, वैराग्य ग्रहण, पर्यटन, गुरु परपरा मानना, और चमत्कार दिखाना।

दोनों के जीवन में स्पष्ट अन्तर के स्थल इस प्रकार से हैं कबीर निरक्षर थे, उनका ज्ञान सब श्रुतज्ञान था। चक्रधर ने उहुत सा प्रथाध्ययन किया। कबीर ने जाति पाति का कड़ा विरोध किया, चक्रधर ने लुतलुत का थोड़ा सा विरोध किया है, परन्तु अधिकतर वे लीक लीक हों चलते हैं।

हाँ, दोनों की स्वभाव वृत्ति में बड़ा साम्य मिलता है अहिंसा के प्रति प्रेम दोनों में उहुत था। भतमात्र पर अत्याज प्रेम, पशुपक्षियों के प्रति प्रेम कबीर और चक्रधर दोनों में मिलता है। दोनों में बेलाग फक्कड़पन खूब था।

कबीर और चक्रधर के दार्शनिक विश्वासों में जो साम्य या अन्तर है वह इस प्रकार से है

कवीर

‘सर्गभूतै एके कर जान्या चूके
वाद विवादा’ (क प्र पृ० २९४)
‘लोगा भरमि न भूलहु भाई । खालिकु
खलक खलकु महि खालिक पूर रख्यो
सब ठाई ।’ (पृ० २६८) ‘जोगी गोरख
गोरख करै, हिंदू रामनाम उच्चरै ।
मुसलमान कहै एक खुदाई, कवीर का
स्वामी घट घट रहा समाई (२००)
ब्रह्म निराकार है । ‘अलख निरजन
लखे न कोई निरभय निराकार हे
सोई’ (२३०) वेद विवर्जित, भेद
विवर्जित, विवर्जित पाप र पुन्य ।
ज्ञान विवर्जित, भेद विवर्जित विवर्जित
अस्यूल सून्य । भेप विवर्जित, भीख
विवर्जित, विवर्जित ह्यमक रूप । कहै
कवीर तिहु लोक विवर्जित ऐसा तत्व
अनूप ॥’ (१६३)

ब्रह्म का अव्यक्त रूप कभी कभी
शब्द है, कभी शून्य है, कभी अनिर्घ
चनीय तत्व है ।

कवीर द्वैत के घोर विरोधी थे ।
जो द्वैत को मानते हैं वे उनके अनुसार
स्यूल बुद्धि है । जीव की अनेकता नहीं
मानते । जीव ब्रह्म का ही अंश है ।

कवीर के मोक्ष सबधी सिद्धांतों
पर जोधों के निर्वाण का प्रभाव है ।
कवीर का आग्रह अतमुंख साधना पर
अधिक है, बाह्याचारों पर कम ।

अंतिम बातों में वे चक्रधर के
समान ही हैं उहोंने निरी अधी
पाहनपूजा का विरोध किया है । जात
पात वे नहीं मानते थे । स्त्री के प्रति
वे चक्रधर से अधिक कठोर हैं । इसी
से उनकी कोई भक्तिन नहीं ।

चक्रधर

मूल पदार्थ चार जीव, देवता,
प्रपच, परमेश्वर । ईश्वर ब्रह्म है, जीव
अनंत होने पर भी एक है । ये चारों
पदार्थ अव्यक्त हैं । देवता कर्मभूमि
की १३ कोटि हैं, अष्टी देवयोनी १३
कोटि है अतराल स्वर्ग, सत्य कौलास
वैकुण्ठ, क्षीरा धी, अष्टभैरव । विश्व,
माया के अलग अलग देवता हैं ।
माया की देवता एक है । ईश्वर स्वरूप
में विरुद्ध धार्मिकत्व है । वह अविक्रिय
होकर भी सर्वकर्तृत्वमय है, निर्गुण
होकर भी माया सबध से सगुण है ।
ब्रह्मस्वरूप यथार्थत अविक्रिय, निर्गुण
और सर्वधर्मशून्य है । ईश्वर स्वरूप
में दो तरह के गुणधर्म हैं ।

१ स्वरूपाग, २ शक्तिरूप ।
सृष्टि रचना जीव को आनन्द देने के
लिये है । यह रचना ‘प्रपच’ के आधार
पर होती है । चक्रधर का दर्शन गीता
के समान है । उसमें पूर्ण द्वैत और
भक्ति का मिलन है । शक्र का ‘माया’
वाद उन्हें मान्य नहीं है । उन पर
बौद्ध और जैन दर्शनों का भी प्रभाव
है ‘दुख रूपता’ पापमूलता,
अनिश्चयता इये तीनही नवहेति तरि
ससारावाचौनि आणीक काहीं गोमटे
असे’ (विचार १९१) ‘सघात’ शब्द
का उपयोग भी उन्होंने किया है ।

देवताओं की उपासना त्याज्य ।
स्त्रीशुद्धा को मोक्ष प्राप्ति का समाना
धिकार । चातुर्वर्ण्य न मानना ।

चक्रधर की अनेक भक्तिन हुईं ।
नागांजा, हसाबा और कई ।

दोनों की भाषा जनसाधारण के अनुरूप, सूत्रात्मक, गटा हुई, पनी, दृष्टान्त बहुल और उपदेशपूर्ण है। कवीर ने अहिंसा क समर्थन सं कहा

‘जकरी पाता रगत है, ताकी माढ़ी राल ।
जो बकरी को खान है ताको कहा हवाल ॥’

चक्रधर ने अपने अनुयायियों से कहा ‘पूजित तुम्ही ऐसैथा होजावे का हा जनु तुम्हे डोहये डोहये मारील परि तुम्हा डोईचि ओडवाकी की’ या ‘तुम्ही मारीता पूजिता समानधि होजावा का मा’ (आचार ६३-६४)

श्री जानेश्वर की भी अहिंसा पर नानेश्वरी अध्याय १६ सं १५४वां ओवी है।

चक्रधर की ‘असति परी’ भक्ति के आचारधर्म में स्पष्ट कहा है, आहार पर नियंत्रण रखा जाय और अपना व्यवसाय नित्य का भौति किया जाय। कवीर ने भी कहा है

अझे वाहर ज नर हावहि, तीन लोक महिं अपनो खोवहि ।
अझे विना न होय सुकाल, तजिय अन्न, न मिले गापाल ॥

और एक जगह कहा है कि जो आत्मा अपने धधे में चिपटा रहा वह धूल हुआ और विना धधे क पाप युलत भी नहा

‘जो धध तो धूलि, निनु धध धूल नहीं ।

अध्याय ५

दोनों भाषाओं के रचनाकार : नामदेव

इसके पहले कि हम नामदेव पर विस्तृत विचार कर यहाँ यह बतलाना उपयुक्त होगा कि मराठी और गुजराती के कई मतां ने हिन्दी में भी बहुत अच्छी पद रचना की है। श्री फार्वस गुजराती सभा महोत्सव ग्रन्थ (प्रकाशन मार्च १९४०) में श्री कचराखाल शवजीभाई सोनी का लेख 'गुजरातना प्राचीन अने भर्वाचीन साहित्यकारों' (एमनु हिन्दी साहित्य प्रसिद्ध अने अप्रसिद्ध) नामक लेख है। इसमें तेरसु सेकु (१३वीं शती) के श्री हेमच द्राचार्य से शुरू करके एक दम सोलहवीं शती के भारण (१५००-७४वि), भीरा (१५५५-१६०६ वि), सन्त समर्थदास, जिनदास, रिखदास, नेमी ग्यानसार, सुलुकचद आदि जैन कवि, सत्रहवीं सदी में दादूदयाल, पुहकर सत सोभाराम, पयूखदास, मस्ताराम, नागर शिवानन्द आदि का उल्लेख है। आखो (१६१५-१६७५ वि) ने भी हिन्दी पद लिखे हैं।

प्रो० विनयमोहन शर्मा ने 'महाराष्ट्र सन्तों की हिन्दी सेवा' लेख में लिखा है

“चक्रधर ये महानुभाव पथ के प्रथम प्रचारक माने जाते हैं। इनकी हिन्दी वाणी का एक उदाहरण देखिए

सुती वधी स्थिर होई जेणे तुन्ही जाई।

सो परो मोरो वैरी आणता काई ॥”

“उमास्वा यह महानुभाव पथी नागदेवाचार्य की वहिन थी। नागदेवाचार्य चक्रधर के शिष्य माने जाते हैं। उमास्वा का काल भी चक्रधर का काल समझा जाना चाहिए। उमास्वा ने भी हिन्दी में चौपदी लिखने का प्रयास किया है

नगर द्वार हां भिच्छा करो हो वापुरे मोरी भवस्था लो।

जिहा जावां तिहाभाप सरिसा कोऊ न करी मोरी चिंता लो।

हाट चौहाटा पड रहूँ मॉँग पच घर भिच्छा ।

वापुड लोक मोरी अवस्था फोऊ न करां सोरी चिता लो ॥”

“ऋणमुनि य महाबुभाव पथा स त हैं । इनक द्वारा ही पजाय स इय पय ना प्रचार हुआ हे । इनकी कविता का नमूना

जड मूल तिन देखा एक दरखत गूलर का ।

उमको अनत अपार गूलर लागे शुमार नहीं फूला का ।

जमीन आममान बराबर देख दो सूरज चन्दा देख नौ लग्यता स ।

चौदह भुवन माता दूरयाय मे परवत नदी नाले रुइ हजार ॥”

“ज्ञानेश्वर य महाराष्ट्र के प्रसिद्ध स त हैं । इनका ज म म० १२३२ विक्रम म गादावरा के निकट आपेगाँव में हुआ था । नाम सम्प्रदाय म ज्ञानेश्वर की उड़ी महिमा हे । उन्होंने अपने उपदेशों में गुरु भक्ति, इश्वर भक्ति और लोकव्यवहार पर अधिक आग्रह प्रकट किया हे । इनका ‘ज्ञानेश्वरी’ की यही विचारधारा हे । आध्यात्मिक उन्नति के लिए जप तप, सयम जानि से भी अधिक गुरु के अनुग्रह को उन्होंने महत्त्व दिया हे । ज्ञानेश्वर न भी महाराष्ट्र से बाहर उत्तर की यात्रा की थी । मराठा के अतिरिक्त हिन्दा म भी इनकी वाणी मिलता हे, जिसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता

सोई कच्चा ने, नहाँ गुरु का वच्चा ।

दुनिया तज कर खाक रमाई, जाकर वैठा वन मां ।

खेचरि मुद्रा वज्रासन मों, ध्यान धरत हे मन मां ।

तीरथ करके उमर खोइ, जागे जुगति मां सारी ।

कुकुम निवृत्ति का ज्ञानेश्वर को नितके ऊपर जाना ।

सद्गुरु की कृपा भइ जब, आपहि आप पिछाना ।”

“मुक्तावाई ये ज्ञानेश्वर की उहिन र्था और अपने भाइ के साहचर्य से सन्त मार्ग में प्रविष्ट हुई र्थीं । इसी से ये अपने भाई को गुरु भी मानती र्थीं । इनकी वाणी में स्त्री सुलभ माधुर्य पाया जाता हे । भक्ति, ज्ञान, योग, वैराग्य पर इनके मराठी म सु दर पद मिलत हैं । हिन्दी में भी इनकी रचना पायी गयी हे

वाह वाह साहबजी सदगुरु लाल गुसाई जी ।
 लाल पीच मों उदला काला बांग पीठ सों काला ।
 पीत उ मनी भ्रमर गुफा रस झुलने वाला ।
 सदगुरु चले दोनों बराबर एक दस्त मों भाई ।
 एक से ऐसे दर्शन पाये महाराज मुक्ताबाई ।”

नामदेव ये स० १३२७ विक्रम में सतारा जिले के नरसी बमनी गाँव में उत्पन्न हुए थे । यद्यपि नामदेव की भक्ति पठरपुर के विट्ठलदेव से प्रारम्भ होती है तो भी उसका परिपाक निर्गुण रूप में हुआ । पठरपुर के सगुण रूप ‘विट्ठल’ नामदेव के हृदय में निर्गुण ब्रह्म बन कर छा गए । नामदेव उत्तर भारत में कबीर के पूर्व निर्गुण मत का बीज बो चुके थे । इन्होंने पञ्जाब तक धार्मिक अभियान किया था, जहाँ इनके अनुयायियों को पर्याप्त सख्खा आज भी विद्यमान है । सिक्खों के ग्रंथ साहब में इनके अनेक पद मगृहीत हैं । मराठी में तो इनके अभंगा की धूम है ही । इनके हिंदी पदों का एक उदाहरण दिया जाता है

ऐसे रामराइ अतरजामी, जैसे दरपन माहि बदन पखानी ।
 बढे घटावट लोभ न छीपे, वधन मुक्ता जातु न पीसे ।
 पानी माहि देखु मुखु जैसा, नामे को सुभामी बीठळु ऐसा ॥

कबीर के समान नामदेव ने ‘पाहन पूजन’ का भी निषेध किया है

एकै पत्थर कीजै भाऊर
 दूजे पाऊर धरिए पाऊँ
 जे जोहु देव त जोहु भी देवा
 कहि नामदेव हम हरि की सेवा ॥

कबीर कहते हैं

पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजै पहार ।
 ताते यह चाकी भली, पीम खाय ससार ॥

अबीर के समान गुरु महिमा पर भी नामदेव कहते हैं

बलिहारी गुरु आपणे उया हाडी के बार ।
 जिनि मानष तें देवता, करत न लागी तार ॥

भानुदास ये महाराष्ट्र के प्रसिद्ध मन्त एकनाथ महाराज के प्रतितामह थे। इनका काल स० १५-१५ वि निश्चित है। इनकी मधुर प्रभावा का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है

उठहु लाल मात कहे, रजनी को निमिर गयो,
मिलत वार सकल ग्वाल, सुन्दर क-हाई,
जागहु गोपाल लाल, जागहु गोपि व लाल जननि पलि चाड।
मगी सप फिरन प्रथन, तुम गिन नहिं दुग्न धेनु,
नजहु सयन कमल नयन, सुन्दर सुग्नदाई।
मुख ते पट दूर कीजो, जननी को दरम दाजा,
दधि गीर माँग लीजो, गौड और मिठाई।
क्षमल क्षमल श्याम राम, सुन्दर मुग्ग तव ललाम,
वाली की जून कट्ट 'भानुदास' भाई।

दोनों भाषाओं में लिखने वाले सन्तों में नामदेव प्रमुख हैं। नाभादास ने अपने भक्तमाल में नामदेव के बारे में यह छप्पय लिखा है

नामदेव प्रतिज्ञा निर्वही ज्यों तता नरहरिदास की ॥
तातदशा 'धीठल' पानी जाऊ पै पायी
मृतक गऊ जिवाय परची असुरनकरे दीयो
सेज सलिल ते काढि पहिल जसी ही होता
देवल उल्लस्यो देखि सकुचि रहै सजही सोती
पङ्कुरनाथ कृत अनुग ज्यों छानि सुकर छाई घाम की
नामदेव प्रतिज्ञा निर्वही ज्यों नरहरिदास की ॥

इस छप्पय में नामदेव के किये हुए चमत्कारों का उल्लेख है। नामदेव ज्ञानदेव के शिष्य थे और दोनों ने साथ साथ महाराष्ट्र की यात्रा की, ऐसा नाभादास का मत है।

नामदेव ने कुल मिलाकर १००-१२१ पद लिखे, जिनमें से ६१ गुरुग्रन्थ साहय या आदिग्रन्थ में मिलते हैं। मोहनसिंग ३२ पद बतलाते हैं। रामडे के अनुसार ज्ञानदेव और नामदेव मराठी सतों के बौद्धिक और भावात्मक पक्षों के प्रतिनिधि हैं इनमें नामदेव ने तो भक्ति की लोकताम्रिक धारा बहा दी।

कवीर ने नामदेव के बारे में लिखा है

जागो सुकदेउ अरु अकरु । हणवतु जागैधरी लगरु ॥

सकटि जाग चरणसेव । कलि जागो नामा जैदेव ॥

यही बात कवीर ने 'गुरपरसादी जेदेउ नामा ।' 'जदउ नामा विप्र सुदामा ।' आदि रूपों में कही है । नरसी मेहता ने लिखा है

'नामा हाथ से दूध पीला ।

रामानु नाथ नामदेव लीधु तेनी मोक जिवाडी गाय ।'

धन्ना जाट ने, रजिदास ने और गुरु नानक ने नामदेव का अपने पदां में उल्लेख किया है । मराठी स तां में गोराकुम्भार, परसा भागवत, जनाजाई न नामदेव का उल्लेख अपने पदां में किया है ।

नामदेव एक थे या तीन ओर उनका निश्चित समय क्या था इसके सत्य ध में शोधकां में मतभेद है । अभग लिपिने वाला भक्त नामदेव ज्ञानेश्वर के सो वर्ष पश्चात् के परसभक्त का था उनके समकालीन का, जो बाद में उत्तर भारत में पजाब में भी गया, यह एक रूप है, दूसरा रूप है विष्णुदास नामा महाभारत कार महाजुभावपथो लेखक का, तीसरा रूप है विष्णुदासनापा नाम का पौराणिक कथाएँ यथा कपोताख्यान, उपम युक्तया आदि लिखने वाले का । नामदेव का पूरा नाम नामदेव दामा शैटी था, उपनाम रेलेकर था । उसी को नामा क्षिपी, नामावशी, छीपा अर्थात् चिंचा कहते हैं । पजाबी नामदेव का जन्मकाल मृत्युकाल और है । मैकालिफ ने और कोई सवत दिया है, ज्ञानी खजान सिंह ने और । नामदेव दरबान कमेटी, घोसार द्वारा प्रकाशित दो पुस्तिकाओं में और है । बसीधर शास्त्री की पुस्तक में और । प्रो० मुडी इन सब तिथियां के तुलनात्मक अध्ययन के बाद इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि नामदेव की सच्ची तिथि है १२७० से १३५० ईस्वी । वे कर्हाड के पास जन्मे । इनके वंश के मूलपुरुष दामू सेठ थे जो कृष्णा नदी के तट पर परभणी जिले में श्री विठ्ठल के भक्त थे ।

नामदेव का वैयक्तिक, पारिवारिक जीवन कैसा था इसके सम्बन्ध में भी मतभेद है । कपड़े के व्यापारी गोविन्द सेठ सदावर्तकी कन्या राजई उनकी पत्नी थी । गोणाई नामदेव की माता थी । गाथा १२-१३ के अनुसार

लोग्गडाचा त्रिणा, परिमी लागला
मागिलिया माला मागू नय ॥
दामी होता परी रायसा रतली
वश्या होती लचि पतिव्रता झाला ॥

निवृत्तिज्ञानेश्वर से मठ के द्वार में भा निश्चिन्त ऐरुम य त्रिद्वानाम नहीं है । फगुहर ने ज्ञानेश्वर से नामदेव को ३० साठ छाटा माना है । नामदेव के नाम पर चमत्कार भी बहुत प्रनाथ गये हैं जैसे भगवान के साथ प्रानालाप करने जो अथ मर्ता को नमाय नहा हुआ (जनायाह, अमय २८१), चद्रभागा की याद रोकना (वही, २८३), दापावली के अवसर पर भगवान को निमंत्रण (वही, २८७), भगवान ने नामदेव का छुपर मंत्रा (वही, २८८), राजाई के व्रत नम उपासना के लिए न य परमात्मा ने लाकर दिया, सब धन ब्राह्मणों से मांगा (वही, १२७) । और अहिंसा का तो ऐसा कमाल कि पड़ की छाल उतारते समय पेड़ से रक्त निकला तो अपन ऊपर नामदेव ने कुल्हाड़ी मार ली । पर इन चमत्कारों से कितने सचमुच म नामदेव के हैं और कितने बोरों के यह कहना कठिन है ।

डा० कनकर के अनुसार (१) कइ और स तों के पत्र नामदेव के नाम पर दे दिये गये हैं । (२) सप्रदायशुद्ध गाथा की भाषा नामदेवकालीन नहीं है, विष्णुदासकालीन नहीं है तो वर्तमानकालीन है । (३) नामदेव के याद के स्त्रीपुरुषों के चरित्र नामदेवकृत कहे गये हैं (भानुदास, मारायाड, ऊवीर, सताजी पवार, राजणगावकर, पोधलेबुवा वामणगावकर) । नामदेव का जन्म काल ११९२ बाके १२७० से) प्रतलाया गया है । उनके हिस्से से वह ज्ञानेश्वर का समकालीन जान पड़ता है । परन्तु ज्ञानेश्वर की भाषा निविदाद पुरानी है नामदेव के अर्भागों की भाषा नयी है । नामदेव के हिन्दी अर्भागों की भाषा भी १३ वीं सदी की हिन्दी से बहुत आधुनिक है । विष्णुस्वामी के अनुयायियों में नामाजी ने ज्ञानदेव का नामोल्लेख किया है । नामदेव की मराठी हिन्दी भाषा देखते हुए उसका काल करीब करीब एक शताब्द पर खींचना चाहिये ।

विशोपा खेचर ने मूर्तिपूजा की व्यर्थता जोरदार शब्दों में कही है ऐसा नामदेव का मत है । रामानुजादि पूर्वग्रन्थकारों ने और बादवालों ने मूर्तिपूजा

का किसी न किन्ही रूप में समर्थन किया है। खेचर और उसके शिष्य नामदेव मुसलमानी सत्ता की स्थापना के बाद हुए होंगे। दक्षिण में मुसलमानों की सत्ता १४ वीं ईस्वी सदी में शुरू हुई। नामदेव के समय मुसलमानों का मूर्ति पूजाद्वेष हिंदुओं में घुसा, उसे १०० वर्ष बीत चुके होंगे। नामदेव ने अपने एक अभंग में तुरकों ने मूर्तिध्वंस किया ऐसा कहा है। (तुकारामतात्या प्रत, अभंग ३६४)। 'नामदेव बहुधा १४ वीं शती के आस पास हो गये होंगे' ऐसा डा० भाडारकर सिद्ध करते हैं। (वैष्णविउम, शैविउम एड अदर माइनर रिलिजस सिस्टिम्स)। नामदेव के सारे परिवार ने पडरपुर के विठोबा के देव द्वारपर समाधि ग्रहण की। वहाँ नामदेव की समाधि की 'पायरी' बनाते हैं। सिंपी इसे पवित्र मानते हैं।

विष्णुदास नामा पर पागारकर ने लिखा है कि 'नामदेव के अभंगों को जो गाथा पूता के आवण ने इदिरा छापाखाने से छापी है उसमें २५०० अभंग नामदेव के नाम के कहे गये हैं। परंतु ज्ञानेश्वरकालीन नामदेव के इसमें शायद ४-५ सौ ही होंगे। बाकी दूसरे नामदेव के हैं। क्योंकि गाथा में ऐसे कई आधुनिक सर्ता की कथाएँ हैं जो नामदेव के काल में नहीं हुए, जैसे नरसी मेहता (१४१३ ईस्वी), भानुदास (१४९८ ईस्वी), जन जसवत (समाधि १६१७ ईस्वी) आदि। इस दूसरे नामदेव की एक 'जुधबावनी' राजवाडे ने छापी है। उसमें पहले नामदेव को नमन भी है 'नामदेवाचे पवित्र नाम उच्चारी अखडित। नाम होय हरिहरभक्त। नाम प्रिय गोविदा।'।

विष्णुदास नामा विट्ठलीं मिलाळा।

सिंपी सिंपी त्याला म्हणू नये ॥

इस प्रकार से सन्त नामदेव के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

यहाँ हम उनकी निर्गुण पदावली से प्रयोजन है। ग्रंथसाहब में पद २९, ३२, ५४ में अव्यक्तोपासना का महत्व है। वे कहते हैं

देवा पाहन तारियले। रामकहत जन कस न तरे ॥

तारिले गनिका, विनुरूप कुबिजा विभाधी अजामुल तारिअले।

दासीसुत जन विदरू सुदामा उग्रसैन कऊ राज दिण ॥

चरन बधिक जन तऊ मुकति भण हड प्रलि प्रलि जिन राम कहै ।

जपहोन, तपहीन, कुल्हान, कमहीन नामेक सुजामी तरु तरे ॥

हिन्दू अना तुरकू काणा इहा त शिआना सिआणा ।

हिन्दू पुज देहुरा मुमलमाणु ममीत ।

नामं सोई सेविआ जह देहुरा न ममात ॥

माई न होती, त्रापु न होता करमु न हाता काइजा ।

हम नहीं होते तुम नहा होते कवनु कहात आइजा ॥

राम भाई न किसहि करा ।

जेसे तन्पर पति प्रमेरा ॥

चदु न होता सूरु न होता पानी पत्रनु मिलाइ-ना ।

सामत न होता वेदु न होता करमु कहात आइजा ॥

खेचर भूचर तुलसी माता गुरपरमादी पाइआ ।

राम नामा प्रणवै परमननु ई मतिगुर हाइ लखानिआ ॥

पद २८ में बहुदेवोपामना का वे मजाक उद्धाते ई

भैरव भूत सीतला धारै ।

गैर वाहन ऊहु, छार उदाव ॥

हऊ तऊ एक रमइआ लँहऊ ।

आन देव बदलाचनि देहऊ ॥

सिव सिव करनेजो नरु धिआवै ।

वरइ चढे डमरु डभकावै ॥

महा माई की पूजा कर ।

नरसै नारि होइ अडतरै ॥

तु लहिअत ही धादि भवानी ।

मुकति की वरिआ कहा छुपानी ॥

गुरमिति रामनाम गहुमीता ।

प्रणवै नामा इहु कहे गीता ॥

और पद २९ में भी

अजु नामें विग्लु देखिआ । सुरखु को समझाऊ रे ॥

पाठे तुमरी गायत्री लोथेका खेतु खाती थी

लेकरी टेंगा टगरी तोरी लगत लगत जाती थी ॥

पाढे तुमारा महादेऊ धऊले बलद् चढिभा जाउन देखिआ था ।

मोदी के घर खाणा पाका वाका लडिका मारिआ था ॥

पाढे तुमरा रामचन्द्र सो भी आवतु देखिआ था ।

रावत सेती सरवर होई घर की जोरू गराई थी ॥

विश्व-यापक रूप का वर्णन घे यों करते हैं

आड कलदूर केसवा । करि अवदाती भेसवा

जिनि आकास कुलह सिरिकीनी कहसै सपत पयाला

परम पोसका मदरू तेरा

छपन कोटि का पेहनु तेरा सोला सहज इजारा

भार अठारह सुगदरू तेरा सहनक सभ ससारा

दैही महजिदि मनु मडलान सहज निजाज गुजारे

बीबी कऊला सऊ काइनु तेरा निरकार आकारे

इह विधि बने गुपाला ॥ ४९ ॥

और ईश्वरतत्व की सर्व-यापकता

अकुल पुरख इकु चलितु उपाइआ ।

घटि घटि अतरि ब्रह्म लुकाइआ ॥

जीअकी ज्योति न जाने कोई ।

तै भै किया सु मालूमु होई ॥ ६१ व २६ ॥

भादि जुगादि जुगादि जुगो जुकु ताका अन न जानिआ ।

सरष निरतरि रामु रहिआ रचि ऐसा रूपु बखाविआ ॥ ६० ॥

ईभै बीठलु, उभै बीठलु, बीठल बिनु ससार नही ।

थान थनतरि नामा प्रणवै पूरि रीहउ तू सरन मही ॥ ३ ॥

आत्मा परमात्मा, भक्त और परमेश्वर की एकरूपता के विषय में पद ५४ है

ठाकुरू ते जानु जनते ठाकुरू खेलु परिड है तोसऊ ।

आपन देऊ देहुरा आपन आप लगावै पूजा ।

जल ते तरग तरग ते है जलु कहन सुनन कऊ दूजा ।

आपहि गावे आपहि नाचे आप उजावे तुरा ।

कहत नामदेऊ तू मेरो गुरु जनु ऊरा तू पूरा ॥

यों नामदेव की रचना सं, हिन्दी पदा में विशेष रूप से, बहुत सा निर्गुण परक कथन मिलता है। हिन्दी और मराठी निर्गुण सत ऋषियाँ क रीच नामदेव बहुत महत्वपूर्ण कड़ी में। परशुराम चतुर्दश अपने उत्तरी भारत की सतपरम्परा में पृ० १२२ पर कहते हैं कि 'सत नामदेव सर्वोत्साह और अद्वैतवाद, दाना के हाँ अनुसार विचार रखते हुए जान पड़ने हैं, और उनकी भक्ति का स्वरूप भी शुद्ध निर्गुण भक्ति का है।'

नामदेव का परवर्ती हिन्दी सन्तों पर प्रभाव भी बहुत पड़ा। प्रा० विनय मोहन शर्मा के अनुसार (विश्वभारती पत्रिका, वसन्त आषाढ़ २००४) 'बंगाल का 'महजिया सम्प्रदाय' महाराष्ट्र का 'वारकरा पथ' ही है। मोना का मूल 'नामपथ' प्रतीत होता है। ज्ञानदेव ने वारकरा पथ का महाराष्ट्र से आगे नहीं उड़ाया, नामदेव ने उसका उत्तर भारत में प्रचार कर कबीर, नानक, रैदास आदि सतों के लिये 'निर्गुण पथ' की भूमि तैयार की। पर ज्ञानदेव और नामदेव में जिस मत की जनता में प्रतिष्ठित किया था उसका बीज आठवीं सदी में ही 'सिद्ध' और 'नाथ' से चुक था।

'किन्तु तित्थ तपोवण जाई ।

मोक्ष कि लब्ध पाणी न्हाई ॥':

सरहपाद (७६० ई०)

नामदेव कहते हैं

कोटिज तीरथ करै, अनुज अहिवाले गारै

राम नाम सरि तऊ न पूजे ।

और भी

वेद पुरान सासतर आनन्ता, गीत कवित्त न गावहु गो

सिद्ध भी सहज पन्थ को मानते थे। योग भूमि में ही वे मोक्ष निर्वाण का सुख अनुभव करते थे। उन्हीं 'काया तीर्थ' की प्रतिष्ठा की थी। गुरु महिमा की स्वीकृति भी वारकरा पथ में सिद्ध नाथों से प्रविष्ट हुई थी।

नामदेव का कबीर आदि निरगुनियों पर प्रभाव रूप प्रकार से है कबीर निरगुनियों के सिरमौर कहे जाते हैं। पर उनमें ज्ञानियों जैसी रुचता नहीं है।

वे भक्तों की सहृदयता रखते हैं कभी अपने राम की 'बहुरिया' जनते हैं, कभी उसे नामदेव के समान 'माँ' भी सम्बोधित करते हैं। ऐसा लगता है, वे उसके सगुण रूप पर भी मुग्ध हैं। कबीर कहते हैं

राम मेरा पिउ, मैं राम की बहुरिया ।

नामदेव भी यही कहते हैं

मैं बउरी, मेरा राम भतार ।

महात्मा चरनदास की वाणी है

धीव चहौ के मत चहौ, वह तो पा की दास ।

महात्मा चरनदास ने भी अपना परमात्मा सम्बन्ध नामदेव के समान ही स्थापित किया है 'पिय हमरे हम पिय की पियारी ।'

कबीर में गुरुमहिमा का बड़ा बखान किया गया है। नामदेव ने भी 'सद्गुरु भेटला देवा' और 'ज्ञान अजन मोको गुरु दीना' आदि में गुरु की स्तुति की है। गुरु के ज्ञान से 'नर से सुर होइ जात निमिख मं सति गुरु बुधि सिखाई ।' गुरु के कारण सब कुछ संभव है।

नामदेव ने एक स्थल पर कहा है

कामी पुरुख कामिनी पिआरी ।

ऐसे नामे प्रीति सुरारी ।

तुलसी ने भी इसी भाव की पुनरावृत्ति की है। योग की इडा, पिंगला, सुषुम्ना नाडियों की कबीर ने चर्चा की है। नामदेव में इनका उल्लेख है

इडा पिंगला अउरु सुखमना,

पउने बधि रहाउगौ ।

चदु सूरज हुइ समकरि राखठ

अहम जोति मिलि जाउगौ ।

नाम महिमा भी नामदेव में भरी पड़ी है। उनके बाद के सभी ज्ञानाश्रयी कवियों में इसे पाते हैं।

'गगन मडल' की वर्षा से कबीर का भौंगना प्रसिद्ध है। वे कहते हैं :

गगन गरजि, मध जोइये,

तहाँ दीसै तार अनस रे ।

त्रिपुरी चमकि घा परपि हे,
तहाँ भीजन ह मय सत रे ।

नामदेव कहते हैं

अडमिडया मदलु वाने,
त्रिनु सावण अनहद गाच ।
बादल त्रिनु वरग्या होइ ।
जउ तनु त्रिचार कोइ ।
मो कर मिलियो रामु मनेही ।

कबीर क समान नामदेव को भी 'अनहद गाद' की मयुर ध्वनि का अनुभूति होती थी

धनि धनि ओ राधेनु गाजे ।
मयुर मयुर धुनि अनहन गाजे ।

हिन्दू सुगलमानों की कट्टरता को नामदेव ने कबीर से पहिले कोसा है ।
भगवान् को उ-हाने मंदिर मस्जिद म नहीं, अपने म ही दया हे ।

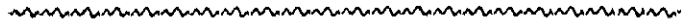
कबीर भी पाडे जी पर टूटत हैं

पाडे कौन कुमति तोहि लागी,
त राम न जषहि अभागी ।
वद् पुरान पढ़त अस पाड,
खर च-दन जैसे भारा ।
राम नाम तन समझत नार्हा,
अग्नि पड सुगि द्वारा ।
काजी सुखा भी नहीं पच पाये ।

काजी कौन कतध वपान ।
पढ़त पढ़त कते दिन जीते, गति पड़े नहा जानै ।
मुला कहाँ पुकारे दूरै, राम रहीम रखा भरपूरै ।

यहु तो अलग गूंगा नार्हीं, देखै गलक हुनी दिल मारहा ।

नामदेव म 'विरह' की पीडा की मात्रा कबार से अधिक तो नहीं है पर
मर्मभेदा अवश्य है



मोहि लागती ताळावेली,
 वळुरे बिनु गाहू अवेली ।
 पानीआ त्रिनु मीनु तळफै,
 ऐसे राम नामा बिनु बापुरो नामा ।
 जैसे तापते निरमळ घामा,
 तेंम राम नामा बिनु बापुरो नामा ।
 पाहन पूजने का भी निषेध नामदेव ने किया है
 एके पत्थर कीजे भाऊ, दूजे पाकर धरिये पाऊ ।
 जे जोह देउ त ओहु भा देवा ।
 कहि नामपूज हम हरि की सेवा ।
 कबीर का यह दोहा प्रसिद्ध है ।
 पाहन पूजे हरि मिलै तौ म पूजा पहार ।
 ताते यह चाकी भली, पीस खाय ससार ।

अध्याय ६

दोनों भाषाओं की निर्गुण गीतिरचना का परीक्षण

'श्री चानेश्वर महाराजाची अभगाची गात्रा' नामक ग्रंथ (प्रकाशन १९०६) में चानेश्वर ने कहे गीत यानी गेय अभग द्विये गय है । उनमें से नमूने के तौर पर म पृष्ठ १६३ और १६६ पर से 'अद्वैत पर अभग' नामक प्रकरण से तीन अभग दे रहा हूँ (४०, ४१, ४२), जिससे पता चलता कि निर्गुण विषय पर भी गीतिरचना हुई है, और बहुत सुन्दर रचना हुई है ।

'आकारां नार्हा त निराकारा पाहा । निराकारां राहीं प्रयाशन्य । नथ श्रुत्यचि मावळल तेथ काय उरल । जचि माग यके जाल सत्पामा ॥ १ ॥ श्रुत्य काम्यापामाव चाल । श्रुत्य ते कवण कल । ह मागिजो जि यक्या जाल गुनराया ॥ २ ॥ आपण श्रु याकार कां आपण निराकार । आकार निराकार सृजित पाउ । आकार निराकार ये दोन्हा नार्हा । तचि त पाही आपणा प ॥ ३ ॥ जय अनुभवचि नार्हीं तेचि त पाहा । स्वानुभवां राहां तुझा तचि ॥ जय चत्रमूर्य^१ णक हाती । तयें केवी दिनराती । ऐस जे जाणती ते योगीश्वर ॥ ४ ॥ कर्माकर्म पाम्पलें देवधर्म लापले । गुरुशिष्य निमाले । जाले चारसिंधु ॥ तय गाढाविण चावण । जि हंविण जालण । नेत्रविण पाहण तचि ग्रहा ॥ ५ ॥ हाता धऊनिया निवडी । लागिजे अधारापाठा । अवार न दखे दृष्टि उजियेहु तो । वाप रखुमादेवीवर विठळु देणणा । दश्य द्रष्टपणा मालावल ॥ ५ ॥

'आपुलिये खुल आपण पें दावी । कां सगुण बुधो चोख पदवी । पेसा सुन्दर गोपवेश कां तत्वमस्यादि^२ सौरसु । जेथ श्रुति नेति नति देव्या पार्था । तो सगुण निर्गुण निजानन्द सहजचि कळे विदेही रया ॥ १ ॥ एक महणता दुजें नार्हीं रे । तेथ श्रुत्य त सागली काई । निश्रुत्य त जाता सगुण तें निराकलें । तेथ ह कल्पना काइ रया ॥ २ ॥ नाम रूप छंद गोडी । ऐमी इद्रियाची आवडी । परतोनि पाहे भ्रष्टिघडां तोचि त ॥ तयें नाठऊ ना विस्तरु परी तोचि गा त योरु । ऐसा निर्धाराचा धीरु धरा । ऐस जाणोनिया जरी साडिमाडि करिसी । तरी पावसी कोण येरझारी रया ॥ ३ ॥ तोचि तू

१ इटा पिंगला, ये वायु के प्रकार ।

२ तत् त्व असि (वह तू है) छानोग्य उपनिषद् का यह महावाक्य है ।

जगदात्मा विसा जग घडि न विसम्बा । वाहाचि होऊनि रहावा प्राण माझा ।
 म्हणौनि धीरु वाप रखमादेवीवरा विट्टला । आता प्रपर्ची न गुते साचे ।
 आम्हा जितचि मरणे । कां मेलिया कल्पकोडि जिणें । धरि या निवृत्तिचि
 अतर रया ॥ ३ ॥

‘अगुणाचिया पा सम्य धा गुणसम्यध करु । नकले हा वेन्हास लोका
 माझी । हा नाटकु विदाणी नकले याची करणी । दादोनि अत करणीं रिधों
 पाहे ॥ १ ॥ सर सर रे परता गुणाचिया गुणा । निजसुखनिधाना तूचि
 एकु ॥ ध्रु० ॥ तुठया गुणागुणी वेधली मुनिवृंद । मानसीचिया छुंदें घर्तसी
 तूचि । आपल निजसांग भुळविलें जयासि । अखड मानसी जवळीं आहे
 ॥ २ ॥ ऐसा हा नचलावो विसमो हा वाटला । मधो हो गळाला काथ
 सागों । रखमादेवीवरु विट्टलु हृदयीं वसे । बाह्य अभ्यन्तरीं केन्हा वेगळा
 नव्हे रया ॥ ३ ॥’

मुक्ता बाई, जनानाई क भी ऐसे ही सुन्दर पद मिलते हैं । मुक्तानाई
 का पद हे ‘उलट उलट माधारा प्राण्या । फिर गोते खासी । भरला पुर
 मायेचा लांढा वाहुनिया जाशी ॥ ध्रुवपद ॥’ और जनानाई का पद है :

‘बाई मे मी लेणे ख्याले सद्गुरुरायापार्शी ।

ब्रह्मीं झाला जो उरलेख । तोचि नादाकार देख ।

पुढ आकाराची रेख । तुर्या म्हणताती तीसी ॥ बाई मे० ॥ १ ॥

माया महत्याचें सुमर । तीन पाचाचा प्रभार ।

पुढे पचविसाचा भार । गणती केली छुतीसी ॥ बाई मे० ॥ २ ॥

जारा सोळा एकविस हजार । आणिक साहाचा उभार ।

माव चाले सोहकार । वळखिन वावन मात्रेंसी ॥ बाई मे० ॥ ३ ॥

चार खोलया चार घरीं । चौथे पुरुष चारी नारी ।

पाहुनि चौघांचे विचारीं । बैसव्यें पाचव्यापार्शीं ॥ बाई मे० ॥ ४ ॥

पाच शाहाणे पाच मूर्त । पांच चाळरु असती देख ।

पाच बखेडखोर आणिक । ओळखिल दोघासी ॥ बाई मे० ॥ ५ ॥

बीजापासून अकुर । होय वृक्षाचा उभार ।

शाखापत्र फळ फुलभार । बीजापोटीं सामात्रे ॥ बाई मे० ॥ ६ ॥

ततुच्या धारें काती काढून । वरी क्रीडा करिती जाण ।

दोनो भाषाओ की निर्गुण गौतिरचना का परीक्षण ३६३

शेतीं तनुमां गीळुन । एकली राहिन जापशी ॥ ग्राहू गे० ॥ ७ ॥

वेदशास्त्र आणि पुराणा । याचा अर्थ जाणिला मना ।

कनका नगाच्या भूषणा । अनुभव आला जावासी ॥ ग्राहू गे० ॥ ८ ॥

जनागई के समय ध म अनेककवितृन पदसग्रह क सभादक लिपित ह कि यह नामदेव की दासी थी । गोदावरी नदी के तीर पर गगावड नामक गाँव में दमा नामक महाभगवद्भक्त शूद्र की कथा थी । इसकी माका नाम था करुड । पांडुरंग के प्रनाप से इन चारकरियाँ को यह कथा मिली । इस त्रेतायुग की मधरा और द्वापर का कुत्रा भा मानते हैं । भगवान जनी के साथ प्यता है, उसका जून ग्रहण करता है, उसका ज्ञापडा म साता है, उसक साथ खेकी पीसता है, उसे साधा पिहाना ह, उसक गाला म रुधा करता है, उसे नहलाता है और इसी प्रकार से उसक और कइ काम करके उसे मनुष्ट करता है । उसने देवा का पदक धार महात्रख सुराया, इसलिप उसे सूली देने का तय किया गया । उसने भगवान् का प्राथना की तो सूला का पानी उन गया । कहा जाता है कि जनी का काय लेवक माछात् रुसिणी रमण था ।

यह गीत परम्परा कई वर्षा तक चलता रहा । नामदेव ने अपनी काव्य रचना में कई सुन्दर गीत गाये ह । यहाँ तक कि भागागर (दक्षिण हैदराबाद) के कशन स्वामी नामक सातु (ज म १५५० शक) के ८०० पद मिलते हैं जिनमें से २५ हिन्दा में हैं । उसक दो पद एक मराठी में और एक हिन्दी में नमूने के तौर पर यहाँ द रहा हूँ (पद ७७१ और ७७४)—

हृदया निर्गुण मूर्ति जाली वा । वाई । उ३पद ॥

नामरूपातीत जान द पिकला ।

सहर्जी सहज भेट झाली वो । ग्राहू ॥ हृदया ॥ १ ॥

पूर्व पुण्यफळे ससाराच्या वळे ।

सकरपाचा कला त्यारा गे । वाई ॥ हृदया ॥ २ ॥

त्याग भोगी दव सापडला पूर्ण ।

सफल झाला ज्ञानयोग गे । वाई ॥ हृदया ॥ ३ ॥

बाहेर अन्तरी सर्व निरन्तरा ।

देवचि दादला पाहीं गे । वाई ॥ हृदया ॥ ४ ॥

केशव ह्यणे आता मोपणालागीं ।

निश्चयेंशीं ठाउ नाहा गे । बाईं ॥ हृदया ॥ ५ ॥

पद ७७४—

काहों को पाप काहा को पून ।

हम तो भये हैं सुनमो खून ॥ श्रुवपद ॥

काहों को काया काहों को साया ।

भावत नहीं निर्गुन मां गुन ॥ काहों ॥ १ ॥

आपही जगमों जगही आपमो ।

कोन लखे उन्मनमां मन ॥ काहों ॥ २ ॥

कहत केशव आप ही आनन्द ।

गगन मगनमों सबही सगन् ॥ काहों ॥ ३ ॥

मराठी सन्ता की रचना से हिन्दी सन्तों की रचना की ओर मुड़ने से पता चलता है कि निर्गुण सन्तों ने अपनी गीतिरचना में कुछ रूपक और दृष्टांत ऐसे प्रचलित कर दिये कि वे लोकगीत की सस्पदा बन गये । इनमें से एक है नैहर से सुसराल जाना और चार कहारों का मिलकर डोला उठाना ।

एक लोकगीत है

मोर नैहरवा से नाता छोड़वाने जाला पियवा

काचे काचे बसवा के डोलवा बनवाने ॥

और दूसरा एक लोकगीत है

नैहर से जियरा फाट रे ॥

नैहर नगरी जिसकी बिगड़ी उसका क्या घर टाट रे ॥

तनिक जियरवा मोर न लागै तनमन बहुत उचाट रे ॥

इस नगरी में लख दरवाजा, बीच समुन्दर घाट रे ॥

कैसे कै पार उतरिहैं सजनो, अगम पथ का पाट रे ॥

अनवतीह का बना तवूरा, तार लगे मन मात रे ॥

खूटी खूटी तार बिलगाना, कोई न पूछत बात रे ॥

हस हस पूछे मातु पिता सां मोरे सासुर जात रे ॥

जो चाहे सो वो ही करिहै, पतवाही के हाथ रे ॥

न्हाय धोय दुलहिन होय बैठी, जोहै पिया क ब्राट रे ॥

वाले मिश्र आरम्भ से हिन्दी काव्य अभां तक निकल पाया है। हा, अय के नये मुक्त छंदा में उम परम्परा से आगे जाने का आग्रह और विदेशी छंदा की परम्परा में जाने का आग्रह दीखता है।

‘चर्यापद के गीतां स जो रससृष्टि हुई है, वह ‘जाली आधारि’ सध्याभाषा की दुरुहता के कारण कुछ शुष्क पड़ जाती है। फिर भी, उनके अंदर सगीत एवं भावना के स्तर पर प्रकट किये जाने वाले ज्ञान के प्रयोग स्पष्ट मिलने लगे हैं। यहाँ भाषा भी सिद्धों की अ य अ य वाणियों से थोड़ी परिष्कृत है, शायद तब की लोकभाषा है, निरी अपभ्रंश नहीं है। इन पदों की गेयता का परिचय पूर्णतः हुए बिना पूरा रस भी नहीं मिलता और शब्दों के उच्चारण में थोड़ा फर्क आ गया है। कहीं कहीं तो मैथिली में जो विद्यापति के सगीत की गान पड़ति है, उसी पद्धति पर चर्यापदों को गुनगुनाने से रस मिलता है और सूखे लगनेवाले शब्दों में मायुर्य आ जाता है। सगीत की अपेक्षाओं एवं तज्जनित शब्द संगठन के परिवर्तना का ध्यान रखकर यदि चर्यापदों का कोई सरकरण निकले तो चर्यापदों एवं विद्यापति या अन्य वैष्णव कवियों की, बगला एव हिन्दी कवियों में गीतपदों की परम्परा से उनका सम्बन्ध स्थिर हो जा सकता है।’

चर्यापद के गीतों में जो प्रतीक बार बार आये हैं, जैसे काया तरुवर या चित्ततरु, माया के लिए नारी कल्पना उनके बार बार निर्गुण काव्य में दर्शन होते हैं। कहीं कहीं तो उपनिषदों से वे भाषा में उतर आये हैं। रहस्य की परम्परा तो वहीं लोकमभा में प्रकट हो गयी है। और थोड़ी थोड़ी रीति की परम्परा के भी सकेत चहा मिलते हैं।

ईश्वर के सगुण रूप के लिये व्याकुलता की उपलब्धि होने के बाद ही लोक भाषा में सफल गीति काव्य प्रकट हुआ या जब विद्यापति या अन्य वैष्णव कवियों के देखे हुए रूप की सृष्टि, चित्र सृष्टि एवं इन्द्रियानुभूत भावना अभिव्यजन की परम्परा काव्यां में चलायी। लेकिन यह तो दिये हुए उद्घरणों से स्पष्ट है कि (१) दोहा का स्वरूप सिद्धों ने स्थिर कर दिया और तुलसी, कबीर और अन्य सतसईकारों ने उम दोहा के माध्यम से अलग अलग काम किया। किसी ने रूप एवं मनोभाव की वर्णना में मुक्तकों का काम उनसे लिया (हेमचंद्रसूरि, बिहारी)। किसी ने नीति वचनों के अनुष्टुप् छन्दों की परम्परा की जोड़ में उनको रखा (देवसेन, दसवीं सदी, कबीर, तुलसी,

चूद, रहीम) किमी ने महाकाव्य की चौपाइया की गति म विराम का नाम उनसे लिया (जायमा, तुल्मी) या किमी ने उसी म अपना का य लिया (त्रियोगी हरि) या किमी ने जब तब क आये भाषा को, सूक्तिया का, उसी माध्यम से प्रकट किया (भारते दु—भरित नेह नव नार नित, परसन परम अरोर, जयति अपूरन घन काऊ लसि नाचत मन मार) या किमी न तव्य निरूपण क लिये कारिकाओं का काम उनमे लिया (रम मीमाया पर ग्र)। सप्त सतसई कार्या की परम्परा नो हि वा साहित्य म बहुत महत्व का है। (२) सिद्धां ने चौपाइयों की १६ मात्राएँ स्थिर कर डा धार उमा म तुल्मी ने 'रामचरितमानस' का अधिकांश लिखा। कवि जयदेव क 'गीतगोविन्द' म भी ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ १६ मात्राओं की चौपाइया का ही प्रयोग हुआ है और यह शायद सिद्धां की परम्परा थी। यह तो स्पष्ट है कि लोकभाषा के क्षेत्र में किय जाने वाले छंद प्रयोगों और संगीत प्रधान काव्य प्रचष्टाओं को काव्य म स्फुलता पूर्वक प्रतिष्ठित करने का तथा काव्य एव संगीत को आंतगत करने का काम जयदेव ने किया और बाद अथ लोकभाषा के कवियों ने उसे अपनाया। कवि जयदेव सिद्धां के प्रभाव क्षेत्र क समीप हा रहत थे। इस तरह सिद्धां ने भाव नैकमथी भजनावली एव गीतावली, जयदेव, विद्यापति, सूर, तुल्सा मीरा एव निर्गुण भजना की पद्धति भी स्थिर कर दा।'

लेकिन वे सिद्ध काव्य के अदर इतनी पहलिया का प्रयोग करने के कि लगता है, उनका प्रयोग धीरे धीरे जनमानस मे विस्मृत होने लगा। शायद उनके ऐसा करने का कारण था, क्योंकि वे विरोध की परम्परा की कडियां जैसे थे और खुलकर विरोध करने का मौका उनको नहा था। शायद उनके आचरण एव वक्तव्या म फर्क था। शायद सत्य का मुख, हिरण्यमय चमकार के पात्र से ढँका रहे, ऐसी औपनिषदिक परम्परा का वह निर्वाह कर रहे थे। जहाँ गुरु का महत्व हा वहाँ साधारण भाषा का प्रयोग नहीं होता।

पर जो भी हो, न तो बुद्ध का प्रभाव सर्वथा मिट गया, न सिद्धां का। उनका निर्गुण प्रभाव प्रकट होता रहा है। परन्तु विकास मात्र म, क्या भाषा, क्या काव्य, क्या समाज क्षेत्र में सर्वत्र उनका प्रभाव पड़ा है।

अध्याय ७

दोनों भाषाओं की निर्गुण कविता में प्रयुक्त शब्दावली में समानता और अन्तर

दोनों भाषाओं की निर्गुण कविता का यथारा का विवेचन दार्शनिक विषय-वस्तु, ऐतिहासिक, सामाजिक परिस्थितियों का परिपार्श्व और प्रभविष्णुता की दृष्टि से हुआ। जैसे इस विवेचन के आरम्भ में सुझाया गया था, साहित्यिक दृष्टि से उनकी रसवत्ता का भी विचार आवश्यक है। योग सम्बन्धी शब्दावली दोनों भाषाओं के सत कवियों में एकूनी पायी जाती है। डा० बड्ध्याल ने अपने हिंदी निर्गुण काव्य ग्रन्थ के अंत में परिशिष्ट १ में ऐसी शब्द सूची दी है। उसमें जो शब्द और दृष्टान्त मराठी कविता में भी मिलते हैं, उन्हें छोड़ें तो सूची इस प्रकार बनेगी। मराठी पर्याय—

ओंम	शब्द, पवन, सास (श्वास), सुर, उजास (प्रकास), नाद, सूर।
अ त करण	कमल, घट, कलश, गगन, कुंभा।
आत्मा	बादशाह, हस, अवधूत, अर्जुन, प्रजापति, राजा, खग, सती, विरहिणी, बैरागिनी, वियोगिनी, दुलहिनी (नोवरी)
इन्द्रिय	पाडव।
इडा	इला, गंगा।
इच्छा	मनसा, सुरभि, तरंग, मृगाक्षी, देवी, जोगिनी, मालिन, (मालीण), पार्वती, दामिनी, माजारी, मयूरी, बगली।
उ मनी	
गुरु	शिरुहगीर, सोना, चन्दन, चिंतामणी, पारसी, पैद्य, हस, पारखी।
चित	चकोर, चक्रवाक, चक्र, चिमणा।
चंद्रमा	जान, पुरुष, इला नाडी।
जीव	'भारमा' का ही विशेषण।
तेहतीस	कोटि के देवता ३ गुण ५ तत्त्व २५ प्रकृति।

दानों भाषाओं की शब्दावली में समानता और अन्तर ३६९

तेल	स्नेह, परमेश्वर प्रेम, जीवन, विस्तार ।
दीपक	दह, ज्ञान ।
ध्यान	दृष्टि, ताली (किल्ली), समाधि ।
निरति	परमेश्वर साक्षात्कार का आनन्द ।
परचा	परिचय (ओलख) ।
परमात्मा	अनाहद, समुद्र, मूल, प्रियतम, कुभार, करीगर ।
पिगला	यमुना, अमी, सूर्य ।
वन्ता	प्राण, ज्योति ।
मन	मणि, मृग, मडक (बेडूक), मजार (मज्जार), मूसा, (मूषक), मकँट, मोती हार, मोर, गरुड़, हती, पशु, पतंग, कौवा, (कावळा), बाज (बहिरि मसाणा), फटक (स्फटिक) धवल, बकरी, रोह (मासळी) ।

मानव सरोवर शून्यस्थित अमृतकुण्ड ।

माया किंवा ससार मोहनी, डकिणी, शक्तिणी, मणिणा, पापिणी,
जाखिणी, कामिनी, भामिनी, सागर, वन, जजाल, हाट
(बाजार), आवागमनी ।

दोनों भाषाओं में एक शब्द जो एकत्र मिलता है, वह है 'निरजन' । जैन
साधक जोहू-दु ने कहा है

‘देउ ण देवल ण वि सितपु
ण वि लिम्पउ ण वि चित्ति ।

अखउ गिर-नणु णाणमउ
मिउ सठिउ समच्चित्ति ।’

यही शून्य, सहज, निरजन वाद में कधीर, नानरु, दादू में मिलते हैं ।
उड़ीसा के पचसखा भक्तों में यह शब्द मिलता है । नगेन्द्रनाथ वसु के
अनुसार ये बौद्ध थे, वाद में राजभय से वपणव बने । परिणाम यह हुआ कि
श्रीकृष्ण का स्मरण शून्य और निरजन रूप में उ होने किया है । बलरामदास
ने विराट गीता में लिखा है

‘तोहर रूप रेख नाहीं । शून्य पुरुष शून्य देही ।

धोइले शून्य तोर देही । आवर नाम धिव कहीं ॥

तोर शून्य रूप शून्य देह । किना दैत्यारि नाम यूह ॥'

बलरामदास ने अपनी गणेशविभूति टीका में 'अनाकार रूप शून्य शून्य मध्ये निरजन । निराकारमध्ये ज्योति स ज्योतिर्भगवान स्वयम्' कहा है । चैतन्यदास ने उस पुरुष को 'विष्णु गर्भ पुस्तक' में 'शून्य रे आई से शून्य करह विहार' कहा । महादेवदास नामक वैष्णव कवि ने धर्म गीता में बताया कि महाशून्य ने सृष्टि रचना की इच्छा से निरजन, निर्गुण, गुण और स्थूल रूप में अपने पुत्र पैदा किये । र्भाई पंडित ने शून्य पुराण में धर्म को शून्य रूप, निराकार निरजन कहा है । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी निरजनी कविता का एक कबीर वाला रूप मानते हैं । परन्तु डा० पीताम्बरदत्त बडवाल के अनुसार निरजनियों का यह उलटा मार्ग निर्गुणी कबीर के प्रेम और भक्ति से अनुप्राणित योगमार्ग के ही समान है । निर्गुणियों की सारी साधनापद्धति उसमें विद्यमान है । निरजनियों का उद्देश्य है इडा और पिण्डा के मध्यस्थित सुषुम्ना को जागृत कर अनाहत नाद सुनना, निरजन के दर्शन प्राप्त करना तथा चकनालिके द्वारा शून्य मण्डल में अमृत का पान करना । जो साध की डोरी उह परमात्मा से जोड़े रहती है, वह है नामस्मरण । नामस्मरण में प्रेम और योग का समन्वय है । साधक को उसमें अपना सारा अस्तित्व लगा देना होता है । साथ ही त्रिकुटी अभ्यास का भी विधान है, जो गोरखपद्धति तथा गीता की भ्रूमध्यदृष्टि के सद्गा है । इस साधना पद्धति पर जिसमें सुरति अर्थात् अन्तर्मुखी चृत्ति, मन तथा श्वास निश्वास को एक साथ लगाना आवश्यक होता है, निरजनियों ने बार बार जोर दिया है । इसकी अन्तिम अवस्था अजपा जप है, जिसमें श्वास प्रश्वास के साथ स्वतः सतत नामस्मरण होने लगता है ।

निरजनी कविता में प्रेम तत्त्व का महेश्व योग तत्त्व से किसी भी मात्रा में कम नहीं है । इन्द्रियों का दमन नहीं, वरन् शमन आवश्यक है । और शमन में प्रेम तत्त्व ही से सफलता प्राप्त होती है । इस तत्त्व की अवहेलना करने वाले साधकों को हरिदास ने खूब फटकारा है ।^१ प्रेमातिरेक से विह्वल होकर जब जीव (पत्नी की भाँति) अपनी आत्मा को परमात्मा (अपने पति) के चरणों

१ सुमिरण डोरी साँच की सतगुरु दब बताय—सेवादास ।

२ पाँच राधि न पैम पिया दसौ दिसा कू जाहि ।

देवि अवधू अकलि अथा अजहू चेतै नाहि ॥

दोनों भाषाओं की शब्दावली में समानता और अन्तर ३७१

में नि स्वार्थ भाव से अपित कर देता है, तभी (प्रियतम परमात्मा मे) महा मिलन होता है । इन मय निरजनी कवियां ने प्रिय क प्रिरह से दुखी प्रिया की भाति अपने हृदय की "यथा प्रकट की है ।" तुलसीदास के अनुसार यही प्रेम भावना प्रत्येक आध्यात्मिक साधना पत्र की प्राण होनी चाहिए । इसके विद्यमान रहने से प्रत्येक मार्ग सच्चा है, किन्तु इसके अभाव में हर एक पथ निरस्य है ।^३

निरजनियों ने अपरोक्षानुभूति का वर्णन निर्गुणियों की ही मी भाषा में किया है । सफल साधना मार्ग के अन्त में साधक को अनन्त प्रकाश पुञ्ज की वाढ़ सी आती दिखाई देती है, जो 'जरणा' के द्वारा स्थिरता ग्रहण करने पर शीतल, झिलमिल ज्योति के रूप में स्थिर हो जाती है । इस महजानुभूति के हो जाने पर सभी बाहरी विरोध मिट जाते हैं । स्वयम् यह अनुभूति भी उलटी या स्वविरोधी शब्दावली में ही व्यक्त की जा सकती है । हरिदास के कथनानुसार गुरु शिष्य का अन्तर्ज्योति को अनन्त सूर्य के प्रकाश से मिला देता है ।^४ सेवादास झिलमिलती ज्योति का दर्शन त्रिकुटी में करते हैं ।^५ इन्हें

१ मैं जन ज्यों प्राति सँ

निकट प्रसी यारा रहाँ एक मंदिर माहि माधव ।

म मिलिह के तन तना नव मोहि चापण नाह माधव ।

प्राण उधारण तुम मिली

अवला मनि याकुल भइ, तुम क्यों रह निरवाई माधवे ॥—हरिदास ।

सुरति सुहागि सु दरी, बस्यो ब्रह्म भरतार ।

आन दिया चितव नहीं, मोधि नियो करतार ॥ सेवादास ।

२ अनरि चोट विरह की लागी, नप मिय चोम सामण ॥ हरिदास

कोउ बुझी रे बाभना, नामा कहि बव आये भग राम ।

विरहिन झर तरस कु, चिय नाहा प्रिभ्राम ॥

ज्यू चागि घन कू रट पाव पाव कर पुकार ।

यू राम मिलन कैं विरहिना नरफे बारम्बार ॥ तुलसीदास ।

३ प्रेम भक्ति बिन जप लप भयान, रम्य लागै सहच विरयान ।

तुरसी प्रेम भक्ति उर होय, नव सबहा मत साचे चोय तुमदास ।

४ अनन्त सूर निकट नर जाति जोति लामै

५ नैना माही राम जा मिलमिल जाति प्रकार ।

त्रिकुटि छाजा वैठि करि की निरस्य निच दास ॥

के शब्दों में^१ सहजासुभूति बिना घन के चमकने वाली बिजली है, बिना हाथ के बजनेवाली वीणा है, बिना बादलों के होनेवाली अखण्ड वर्षा है। और तुलसी के शब्दों में भाष्यात्मिक अनुभूति वहरे का ऐसी गुप्त बात सुनना है, जिसमें जिह्वा तथा मुह काम में नहीं आते। लगड़े का ऐसे पेड़ पर चढ़ने की भौंति है, जिस पर पैर वाले नहीं चढ़ सकते। वह अंधे के प्रकाश को देखने के समान है।^२

उपर्युक्त सभी बातों में निर्गुणियों और निरजनियों में साम्य है। इसलिए राघोदास ने निरजनियों को कबीर के से भाव का बतलाया है। किन्तु फिर भी उन्होंने उन्हें कबीर, नानक, दादू आदि निर्गुणी सत्तों में नहीं गिनाया है और उनका एक अलग ही सम्प्रदाय माना है। इसका कारण यही हो सकता है कि निर्गुणियों और निरजनियों में इतना साम्य होते हुए भी कुछ भेद अवश्य है।

कबीर ने स्थूल पूजा विधानों का तथा हिन्दुओं की सामाजिक वर्ण-व्यवस्था का एकदम खण्डन किया है। निरजनियों ने भी मूर्तिपूजा, अवतारवाद तथा कर्मकाण्ड का परमार्थ दृष्टि से विरोध किया है अवश्य, किन्तु अपने समान ज्ञान की उच्च अवस्था तक न पहुँच सकनेवाली साधारण श्रेणी के व्यक्तियों के लिए इन बातों की आवश्यकता भी उन्होंने समझी है। इसीलिए हरिदास ने अपने चेलों को मन्दिरों से वरै अथवा प्रीति रखे बिना ही गोविन्द की भक्ति करने का आदेश दिया है।^३ तुलसी मूर्त से अमूर्त की ओर जाने के लिए

१. विन घन चमके बिजली तहाँ रहे मख छाया ।

हरि सरवर तहाँ वेलिए जहाँ बिण कर वाजे वीण ॥

विन बादल वर्षा सदा, तहाँ वारा मास अखण्ट ॥

२. बहरा गुक्षि बानी सुनै सुरता सुनै न कोय ।

तुरसी सो बानी अपट मुखविन उपजै सोय ॥

पग उठि तरवर चटै सपगै चढ़या न जाए ।

तुरसी जोती जगमग अ धे कूँ दरसाय ॥

३. नहिँ देवल स्थू वरैता, नहिँ देवल सुयोँ प्रीति ।

किरतम तजि गोवि द भजौ, यह साधा की रीति ॥

‘अमूरति’ को ‘मूरति’ में देखना बुरा नहीं समझते।^१ और आचार का भी आखिर कुछ महत्व समझते हैं। यद्यपि निरजनी वर्णाश्रम धर्म को, यदि तुलसी क शब्दों में कहें तो, शरीर का ही धर्म मानते हैं, आत्मा का नहीं। फिर भी ऐसा भी नहीं जान पड़ता कि परम्परा से चली आता हुई वर्णाश्रम धर्म की इस व्यवस्था से उन्हें वेर है। यद्यपि वे यह अवश्य चाहते हैं कि समाज एक परिवार की भाँति रहे और वर्ण भेद ऊँच नीच के भेद का भाव आधार न बनाया जाए।^३

निरजनी इस प्रकार की प्रवृत्ति के कारण रामानन्द, नामदेव इत्यादि प्राचीन सन्तों के समकक्ष हो जाते हैं। त्रिठोत्रा की मूर्ति के सम्मुख घुटने टेक कर नामदेव निर्गुण निराकार परमात्मा के भजन गाया करते थे।^४ और कहा जाता है कि रामानन्द ने तीर्थों तथा मूर्तियों को जल पाखन मात्र बतलाते हुए भी शालिग्राम की पूजा का विधान किया था। सम्भवतः यही प्रवृत्ति अन्त में भगवानदास निरजनी कृत ‘कार्तिक माहात्म्य’, ‘जैमिनि अश्वमेध’ सदृश पौराणिक ढंग के ग्रन्थों में प्रतिफलित हुई।

निरजन पथ में प्रेम तथा योग तत्त्व सम्भवतः रामानन्द या उनके ही सदृश किसी सन्त से आये हैं। ये प्रेम तथा योग तत्त्व कबीर, रैदास, और पीपा इत्यादि रामानन्द के प्रायः सब शिष्यों की वानियों में पाये जाते हैं,

१ मूरति में अमूरति बस अमल आनमाराम।

तुरसी भरम बिसराय के ताहा की ल नाम ॥

२ जाके आचारहु नहीं, नहिं विचार अह लम।

उमै माहि एक हू नहा, तौ धृग धृग ताकौ वेस ॥

३ तुरसी वर्णाश्रम सब काया ला सो काया करम का रूप।

करम रहत जे जन भय, त निज परम अनूप ॥

जन्म नीच कहिए नहा, जौ बस उत्तम होय।

तुरसी नाच करम करे, नाच कहाव सोय ॥ (तुरमी)

जन्म ब्रह्मन भय का भयो करत कृत चडार।

बहुरि पिंड पर होयगा, सुदु धरहु अवतार ॥

हि दू तुरक एक कल लार्। राम रहीम गोह नहा भाइ ॥ (हरिदास)

४ फकुहर आउटलाइन आव दि रेलिजस लिटरेचर इन इंडिया। (पृष्ठ-३००)

इसलिए इनका मूल स्रोत गुरु में ढूँढना चाहिए। इस बात का समर्थन रामानन्द कृत कहे जाने वाले 'ज्ञानतिलक' और 'ज्ञानलीला' नाम के छोट्टे ग्रन्थों से तथा 'सिद्धान्तपटल' से भी होता है, जिसके अनुसार, राघवानन्द ने रामानन्द को जो उपदेश दिये हैं, उनमें योग का निश्चय रूप से समावेश है।^१ महाराष्ट्री जनश्रुतियों में रामानन्द का सम्बन्ध ज्ञानदेव के नाथपथी परिवार से जोड़ा जाता है। अपने को नाथपथी बतलानेवाले उद्धव और नयन भी रामानन्द के शिष्य अनन्तानन्द के द्वारा रामानन्द से अपनी परम्परा आरम्भ करते हैं।

दृष्टान्तों के प्रयोग में यह बात बहुत स्पष्ट होती है। नामदेव ने अपनी कविता में जो दृष्टांत प्रयुक्त किये हैं, वे हैं, पानी और बुलबुला, सूत में पिरोयी मणिमाला, कपड़े गिनने का गज, केंची ओर कपड़ा, साँप और कचुल छोड़ने का स्वभाव, बगुला भक्ति, मृगजल, लोह पारस, भ्रमर मधु मक्खी और पुष्प, पर्जन्य और भूमि, चकवा चकवी, अधे की लकड़ी, पतंग उड़ाने वाले, राजकुमारी और दासी, जगल में चरने वाली गोए, धोबिन, बेश्या का शृङ्गार, चन्दन की सुगन्धि, बच्चे को सहलाने वाली माता, मानस और हस इत्यादि।

श्री ज्ञानेश्वर के भक्तराज में ऐसे दृष्टान्तों की मालिका मिलती है 'का काष्ठामाजी अग्नी। प्रत्यक्ष प्रैगदे मथनीं। परी तो काष्ठो असौनी। वेगळा जैसा ॥ ११ ॥ का तरुमाजी बीज जैसं। सर्वाङ्गी व्यापुनि असे। परी वृक्षामाजी न दिसे। वेगळेंचि ते ॥ १२ ॥ च द्रजळीं प्रतिभास। परी मुख्य तो गगनीं असे। तैसा परमात्मा असोनि न दिसे। अलिप्त सकळा ॥ १३ ॥ ना तरी वाद्याचिये ठायी। ध्वनी व्यापुनि असे पाहीं। परि तयामाजी असोनियाही। नदिसे जैसा ॥ १४ ॥

का कण्ठी राग उमदती। परि कण्ठी काय असती।

तैसा परमात्मा सर्वाभूतीं। परि अलिप्त सकळा ॥ १५ ॥

शब्दस्वरूपी श्री गुरु राघवानन्द जी ने श्री रामानन्द जी का सुनाया।

भरे भडार काया बाढे त्रिकुटी स्थान जहाँ बसे श्री साष्टिग्राम ॥

(अमर बीज मंत्र १७)

दोनो भाषाओ की शब्दावली में समानता ओर अन्तर ३५५

अथवा आरिमासुग्य दग्विल । परि त आरिसिया नाहा निघाल ।

आकाशा अंभ्र प्रगटल । आकाश वंगळ ॥ १६ ॥

पेसा मर्वा सर्व तू । व्यापूनिया रहितू ।

भक्तिलागी मूतिरुल । अमूर्त हा ॥ १७ ॥

हा निर्धारिता न निर्धारे । जग जगन्नाथ जगदाकार ।

जग तयामाजी उभार । विश्वभर तू ॥ १८ ॥

तेजी दीप का दीप तेज । बाजी वृक्ष का वृक्षा बीज ।

परमात्मा तो महज जग तया आवू ॥ १९ ॥

वस्त्रा त त्र का त-ता वस्त्र । निरा तरङ्ग कि तरङ्गी नीर ।

कर्पूरी परिमळ की परिमळी कर्पूर । वेधिला सचाङ्गी ॥ २० ॥

हा निर्धारिता नातुड । मन पाहता न सापडे ।

कवणापरि न घडे । एकु का अनकु ॥ २१ ॥

आता ऐसे मानल । हें साभास दिने जितुलें ।

ते आरिसाच उमटल । प्रतिविम्ब जैसे ॥ २२ ॥

की वृक्षा छाया दिसे । त जयाचति प्रकाश ।

तेजा वातुनि अधारा अस । ऐसे नव्ह ॥ २३ ॥

हा माया आकार । मृगजल-याच निस्तार ।

आभास परि साचार । म्हणा नय ॥ २४ ॥

कवपाता सर्गहि सरे । स्वर्गी निजरूप उरे ।

जें वेदाधिया उतरें । बोलवना ॥ २५ ॥

विग्नाधारें प्रतिविम्बल । अन त होउनि आभासल ।

असत्य येव रुढल । अज्ञानिया ॥ २६ ॥

जाडवरिन्हे लणें नयना दिसे माजिरपाण ।

परि तें जगी मिरवण । कैसेनि घडे ॥ २७ ॥

स्वप्नीर्षी कवणा मेदि । चित्रीची काय तालानि उदि ।

दर्पणाचा हार कण्ठी । कवण मिरवा ॥ २८ ॥

मृगजलाच जीवन । तृपाहान्त कैसे मचणें ।

गान्धर्पनगरी वसण । न काय घडे ॥ २९ ॥

नयनीची पुतळी । व्रैशी धरिजे अचळीं ।
 गगनाचिये पोळळी । पागुळ धावे ॥ ३० ॥
 वांक्षेच्या पुत्राचा विवाहो । मशके गिल्लिला ब्रह्मांडकटाहो ।
 हा शब्द जैसा वाचो । विचारिन्ता ॥ ३१ ॥
 आकाशाची साली काढिली । वारियाचि चिंधी फाडिली ।
 अरनीसी लाव मढविली । ऐसैं काय घडे ? ॥ ३२ ॥
 अधारींचे काळें । उण्ण वेडनि वाळविलें ।
 सर्पांचे पाय बांधिले । वाळुवेचेनि वेटी ॥ ३३ ॥
 ज्योतिचेनि रगें । वस्त्रें रगिली चारों ।
 वायोचेनि लागभागें । पागुळ धावे ॥ ३४ ॥
 मोटें बाधिला मळयानिळ । चन्द्रकिरणीं पायपोळ ।
 साच होये एवढा बोल । निर्धारिता मिथ्या ॥ ३५ ॥
 मुक्किया मुकें भेटलें । तरी बोलणें सहजचि खुटलें ।
 आधळिया आधळें झगडलें । तेथें देखावे कोण ॥ ३६ ॥
 मिलाला पागुळा पोहा । तरि मार्ग कवण लघावा ।
 गेले वेडियाच्या गांवा । तरि ज्ञान कवणा नावडे ॥ ३७ ॥
 तैसें झालें जगा सकळा । परि एखादा ज्ञानी तो वेगळा ।
 येरां द्वैतभाव सकळा । पथ केंचा ॥ ३८ ॥
 मोरा सर्वाङ्ग डोले । परि देखावयाचे वेगळे ।
 तारागणींचें तेज आधिले । परि सूर्यांचें नये ॥ ३९ ॥

श्री न० र० फाटक के 'ज्ञानेश्वर वाङ्मय आणि कार्य' ग्रन्थ में छठे अध्याय में 'वाङ्मय चातुर्थ' में विस्तार से ज्ञानेश्वर की शब्द शक्ति का विवेचन है । अमूर्त भावों के लिए विविध प्रकार के शब्द गढ़ना और विचारों को स्पष्ट करना उनके लिये बहुत सहज था । गीता के अर्थार्थों अध्याय के पाँचवें श्लोक की टीका में ज्ञानेश्वर ने अपनी शब्दसम्पन्न कल्पना शक्ति को अनिर्बन्ध छोड़ दिया है । उदाहरणार्थ : कृश स्थूल, ह्रस्व विशाल, चौड़ा ऊँचा, अमात अनावर प्राञ्जल, सन्यापार निश्चल, उदासीन जेहल, तीव्र शान्त, समद स्तब्ध सानन्द, गर्जित नि शब्द, सौम्य धूर्जित, सावधान असलग, अगाध,

उदार अतिवृद्ध क्रूर, माभिलाष विरक्त, उच्चिद्रित निद्रित, परितुष्ट आर्त प्रसन्न, अशस्त्र सशस्त्र, रौद्र अतिमित्र, भयानक विचित्र लयस्थ, जनलीला विलापी, पालनशील, सावेश सहारक, साक्षीभूत (पृ० १७८ वही) । फाटक क अनुसार 'जानश्वर के दृष्टा त उनकी विद्वता और निराक्षण पटुत्व का द्रग्मात है । साथ ही वे सहज, सुबोध, समर्पक और सरम ह । (पृ० १८७, वही) ।

ज्ञानदेव की तरह श्री एकनाथ की 'श्री शुकाष्टकावरील टीका' म भेदा भेदातीत स्थिति का यह वर्णन देखिय यह सारी भाषा निरजनिया की ती ह

समस्त ब्रह्म हे ज्ञाती । सोऽह अभेदवृत्ती ।
 तेही भाषळोनि स्फूति । मग ज उरे ॥ ३७ ॥
 अविद्याभेद सवळ । विद्या अभद सकळ ।
 दान्हीं जाऊनि कवळ । तें भेदाभेदातात ॥ ३८ ॥
 जेव्हा भदाभद नाहार्हा । तेव्हा अभद त कार्या ?
 परा चिन्मात्र ज कार्हा ते उभयातीत ॥ ३९ ॥
 ज्ञानाचिया परिपाटी । सोऽह ह्याणे ज्ञानदृष्टी ।
 तही, गेलियापाठा । अभेदातीत ॥ ४० ॥
 एस गलिया भेदाभेद । केवळ उरे शुद्ध ।
 तच्चि पें विशद । रूप करू ॥ ४१ ॥
 परामात्मा परज्योती । परब्रह्म परम ज्ञप्ती ।
 परास्पर प्रकृती । परावर जो ॥ ४२ ॥
 निर्विकार नित्य । नि प्रपच्च निर्निमित्त्य ।
 निष्कर्म निजसत्य । सत्यमूर्ता ॥ ४३ ॥
 अज अव्यय अचळ । अरूप अक्षय अठळ ।
 अजरामर अमळ । अनादि जें ॥ ४४ ॥
 निःशब्द निष्काम । निर्गुण निरुपम ।
 नि सग निर्व्योम । निजानन्द ॥ ४५ ॥
 स्वात्मा स्वयज्योती । स्वलील स्वशक्ति ।
 स्वकळा स्वास्यप्रतीती । आत्मस्वाची ॥ ४६ ॥
 ऐसा अद्वय एकला । एकमर्ण सचला ।
 यापरी आंगें झाला । भेदाभेदातीत ॥ ४७ ॥

तरी नादतेनि भेद । तो भेद न देखता नादे ।

आपुलेया स्वात्मपद । उल्हासतू ॥ ४८ ॥

तो आकारें नाकारे । आकारनाशीं न खरे ।

अधिष्ठान प्रतिभरें । अखड झाला ॥ ४९ ॥

इस प्रकार से दोनों भाषाओं की निर्गुण सन्त कविता में समानता बहुत अधिक मिलती है। अतः यदि कुछ है तो स्थल काल भेदानुसारी, दृष्टान्तों के चुनने भर का अंतर है। माया के विषय में ज्ञानेश्वर ने कुम्हार ने तैयार किया हुआ घुड़सवार खिलौना का सैय, जादू के अलंकार, आकाश में मेघों की दृश्यावली, बाहर फल नहीं और अन्दर से खोपली साभरसिंग की वृद्धि आदि ॥ अन्तर का एक प्रधान कारण यह है कि महाराष्ट्र के सत विशुद्ध निर्गुणवादी नहीं थे और वे तार्किक भी अधिक हैं। इस कारण से जो आध्यात्मिक शब्दावली वे प्रयुक्त करते हैं, उसमें सगुणोपासना की सूचन छूटा सदा रहती है।

इसके निकष पर इस प्रकार के काव्य को कसना हमेशा ईप्सित फल नहीं देगा। वस्तुतः सतों को जो मिला, वह सहज जान दे, वह गुह्य सन्तोष, वह परम रसानुबोध भिन्न प्रकार का है और उसे लौकिक अर्थों में रस का खौखट म बाँधना उसके साथ अन्याय करना होगा। इस बात की विवेचना हम अब प्रबन्ध के अन्तिम अर्थात् पाँचवें उपसंहार नामक खण्ड में करेंगे, जिसमें तत्कालीन मर्मियाँ या रहस्यवादियों की वृत्ति की व्याख्या, उनके विरह विषयक विचार, उनका परवर्ती कवियों पर प्रभाव और निर्गुण धारा के क्रमशः अप्रचलन की कारण सीमांता प्रस्तुत की जाएगी।

खण्ड ५

उपसंहार

- १—रहस्यवाद की तत्कालीन परिभाषा का परीक्षण ।
- २—रहस्यवाद में विरह व्यजना ।
- ३—इस काल के वाद के कान्य पर इम विचारधारा का प्रभाव ।
- ४—निर्गुण कविता के अप्रचलन के कारण ।
- ५—कुछ निष्कर्ष ।

अध्याय १

रहस्यवाद की तत्कालीन परिभाषा का परीक्षण

जनावाई ने अपने एक पद में लिखा है कि उसके गुरु के समक्ष एक बड़ा चमत्कार घटित हुआ। कपूर जल गया, पर उसमें से कोई धुँआ नहीं निकला। शंकर बो दी गयी और गन्ना बाहर निकल गया (श्रवण नयनमय बन गय) एक बुढ़िया का बालपति से विवाह कर दिया गया। यह सबसे बड़ा चमत्कार हुआ। यह चमत्कार उसने अपनी आँखों से देखा और इसका कोई स्पष्टीकरण वह न दे सकी (२० वां अंश)। जनावाई ने अन्यत्र कहा है, 'परमात्मा का स्वरूप मुझपर एक बाद की तरह आया और उसकी ओर देखते ही मैं अचेतन होकर आँख मूढ़ ली (पद-१७)। चांगदेव ने अपने एक पद में कहा है कि शरीर धूस है और आत्मा वर। ईसाई रहस्यवादियों में सन्त जॉन की 'जागृत उवाला' (लिविंग फ्लेम) में (२,९,१०,११) उल्लेख है कि 'यह बड़ा ही स्वादमय घाव है। वर आत्मा के अन्तरतम गुह्य में प्रवेश करता है। इसी घाव में से उद्योति बाहर निकलती है और जोरों से बाहर उफनती है और एक प्रकाशमय भट्टी के रूप में वह दमकती है। आत्मा भाग का एक विशाल समुद्र बन जाता है।'

तत्कालीन रहस्यवाद की परिभाषा निश्चित करते समय यह प्रश्न बार बार उठा है कि क्या धर्म का मार तत्व यदि अन्तिम रूप में लिया जाए, तो काम अन्य ज्ञान के अन्तिम अवस्था के समान होता है, यह श्रेष्ठ का मत सच है। बृहदारण्यक (४,२-२१) में इस तरह का उल्लेख आया है 'तद्यथा प्रियता स्त्रिया सपरिष्वक्तो न बाह्यम् किञ्चन वेदना तरम्, एवमेवादाय पुरुष प्राज्ञेनात्मना सपरिष्वक्तो न बाह्यम् किञ्चन वेदना तरम्'। अर्थात् 'व्यग्रहारे में जिस प्रकार से इष्ट स्त्री द्वारा आलिंगन प्राप्त हुआ पुरुष अपने से अन्य या बाह्य पदार्थ को अथवा स्वयम् को भी नहा जानता, इसी प्रकार से प्राज्ञ आत्मा से आलिंगित या एकरूप हुआ पुरुष अनात्मवस्तु को नहीं जानता। वही यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकशून्य रूप है।

परन्तु विषयम जेम्स का 'वेराइटीज आफ रिजलिस एक्सपीरियस' में कथन है कि 'धार्मिक' चेतना और काम विषयक चेतना इन दोनों के विषय में हर बात भिन्न है। उसकी आधारवस्तु, मनोदशा, लक्षण और क्रियाएँ भी। डीन इग के लेखा की भूमिका में (पृष्ठ २७) 'पौर्वात्य सर्वात्मवाद के दो खतरे' शीर्षक से कहा है कि दर्शन के वे निकाय जो रहस्यवाद के प्रति सहायुभूति रखते हैं, वे नीति शास्त्र की दृष्टि से दुर्बल होते हैं।' और आगे चलकर वे उन दो खतरों को—(१) 'एटिनामिथानिज़्म' अर्थात् जो आध्यात्मिक तत्व द्वारा परिचालित हैं वे कोई पाप कर ही नहीं सकते ऐसा विश्वास, और (२) क्वाएटिज़्म अर्थात् अकर्मण्यता या कर्मविमुखता। इस बात की और विशद ज्ञानवीन रहस्यवादियों द्वारा प्रयुक्त प्रतीक योजना के आधार पर की जा सकती है। 'मेरे प्रिय को भाता है तम के पर्व में आना' यह महादेवी जी की प्रिय पक्ति रहस्यवादियों के विषय में चर्चा करते समय अवश्य घटित होती है। 'कार्नेलसिरी के आरोहण' नामक प्रबन्ध में सेंट जोन आफ दि क्रॉस ने लिखा है कि 'आत्मा की अधेरी रात' (डार्क नाइट आफ दि सोल) इसलिये कहते हैं कि उस रहस्य यात्रा का आरम्भ बिंदु अधेरा है, अज्ञात है। यानी यह ससार क्षणभंगुर है। फिर जो श्रद्धा की राह मर्मापकड़ता है, वह भी अधियारी होती है। और जो उसका परमलक्ष्य है, वह भी अनन्त यानी अधेरा होता है। इसी अधियारी या उन्मनी अवस्था को अलग अलग तरह से कहा जाता है। प्लातिनस ने कहा कि 'उस परम अवस्था में किसी भी चीज का उस पर असर नहीं हुआ, कोई सुख दुःख नहीं, कोई चीज उसके लिए पराई नहीं थी, बुद्धि भी नहीं बची, विचारणा भी नहीं, वह स्वयम् का ध्यान भूल गया। सौन्दर्य की भी उसके लिए कोई चेतना शेष नहीं रही। क्योंकि वह सौन्दर्य से परे हो गया। उसने पुण्य का परमलास्य जैसे पार कर दिया। कार्लाइल ने यही बात अपने निबन्ध में कही थी, 'जब चिरन्तन ना से चिर-तन हों की ओर हम जाते हैं, तब इस अपेक्षा के केन्द्र में से हमें जाना ही पड़ता है। वह दो पहाड़ी चोटियों के बीच की घाटी है।'

इस अस्पष्टता का सम्बन्ध रहस्यवादियों की अबुद्धिवादिता के साथ बहुत है। बुद्धि या विवेक का बार बार वे खण्डन करते हैं। 'न मेधया। न

बहुना श्रुतेन ।' वाली उपनिषद्भक्ति से लगाकर डायोनाशियस का उस सुन्दर कल्पना तक कि शिशु देवदूतों (चराम) में जा बुद्धिमान है, उन्हें सिर्फ आँखें हैं, परन्तु जो प्रेममय हैं, उन्हें सिर्फ पय ही पय हैं । डाटे क मध्य में 'स्वर्ग' पण्ड (३३-१४३) में यह उक्ति है 'न तर्क, न सामान्यज्ञान, परन्तु किसी और ही नक्षत्र की सूर्य के प्रति जैसी गति होता है, वैसी मनुष्य की आत्मा की गति कोई भिन्न ही गति होती है' (L'amour che move il Sole e la altre stelle) । अरस्तू ने भी कहा था कि 'बुद्धि अपने आप में कुछ नहीं चलाती ।'

यह जो मानवी जीवन और दैवी जीवन का सम्पर्क बिन्दु है, इसे पाश्चात्य मर्मियों ने विभिन्न नाम दिये हैं । डान इग ने अपने 'इसाई रहस्यवाद' में उसे मिनटेरेसिम कहा है और जर्मन रहस्यवादियों ने उसे आत्मा का स्फुलिंग कहा है । यह लोग त्रिकोण कल्पित कर उसका अधिष्ठान नीचे की धरती और उच्च बिन्दु स्वर्ग को छूनेवाला बतलाते हैं । यह जो ऊँचे शिखर की ओर, ऊर्ध्व मूल की ओर ध्यान लगाने की बात है, यह जर्मन विवेकवादी दार्शनिक इमान्युएल कान्ट में पायी जाती थी । वह अपने दर्शन के चिंतन में अच्छी तरह तय लगता जब वह पड़ोसी के गिरजे के शिखर की ओर एकटक देखा, ऐसा स्तारबुक की 'साइकैलौजी आफ रिक्लिजन' ग्रंथ में (पृष्ठ ३८८ पर) साध्य है ।

रहस्यवादी में एक विशेष प्रकार की शक्ति निरन्तर आत्मानुशासन, स्वेच्छया श्रम और वेदना की स्वीकृत, अदम्य सकल्प शक्ति के कारण होती है । यह एक प्रकार की मानवोपरि चेतना है । वही एक जातीय चेतना की भाँति भी है । जब चार पंजा के बल पर चलने वाला पशु मानव बना और उसने रीढ़ की हड्डी सीधी की ऐसी वह अवस्था है । इसी को वौद्यम गिन्म न ('गाड विथ अय' अध्याय-३ में) समीर और कशोर्यावस्था का 'अन्तर्गत कोलाहल' कहा है । अन्य यक्तियों की अपेक्षा रहस्यवाद का आन्तरिक जीवन अधिक सघन और प्रगाढ़ और उत्कट होता है । परन्तु सपसे मजे की बात यह है कि इतने सब आन्तरिक द्वंद्वों के बाद भी मर्मा अधिस्तर दीर्घजीवी व्यक्ति होते हैं कुछ उदाहरण लें तो सत हिस्सेग्राहे ८८ वर्ष, सुमो ७० वर्ष, सत टेरेसा ६७ वर्ष, सत पीटर और कैथेराइन ६३ वर्ष । देलोक्राह

(Delacroix) ने अपने ग्रन्थ (Etudes sur la Mysticisme) में पृष्ठ ३ पर कहा है कि 'बड़े बड़े मर्मां अन्य अपवादात्मक व्यवस्थाओं में पायी जानेवाली नाड़ी सस्थानात्मक कमियां से मुक्त है, इसका अर्थ ही यह है कि उनमें एक जीवित रचनात्मक शक्ति, एक विधायक तर्क, एक आत्मज्ञान की वृद्धित इयत्ता, एक प्रकार की अपूर्ववस्तुत्तम प्रतिभा होती है।' भारतीय रहस्यवादियों की आयु भी छोटी नहीं रही है। उनमें भी ब्रेमा के 'Piere et Poesie' (१२ वाँ अध्याय) में वर्णित स्वस्व का विभाजन स्पष्ट मिलता है। उसके शब्दों में 'एक तो अनिमल होता है जो ऊपर का बौद्धिक ज्ञान होता है, और दूसरा अनिया जो कि रहस्यमय काव्यज्ञान होता है। एक तो मैं हूँ जो शब्दों और सकेतों से चलता है, और एक मत है जो वस्तु यथार्थ से जुड़ा है।'

रहस्यवादियों में सकेतों और प्रतीक योजना की प्रधानता प्राचीनकाल से चली आ रही है। यह प्रतीक बाह्य प्रकृति से जुने जाते हैं। ये प्रतीक श्रव्य या दृश्य होते हैं। उदाहरणार्थ, निष्कलक शुद्धता और शुचितता का प्रतीक श्वेत पद्म है। मूर्ति या प्रतिमा श्रद्धास्थान मात्र होते हैं। आरम्भ में हिरण्यगर्भ, विश्वकर्मा, स्वयम्भू, प्रतिमाएँ थीं बाद में उपनिषदों में प्राण, वायु, ब्रह्म, आकाश के रूप में वही प्रतिमाएँ परिवर्द्धित मिलती हैं। ब्रह्म का सच्चिदानन्द रूप बहुत बाद का है। विभिन्न देवताओं के वाहन और आयुध भी तत्तद्गुणविशिष्ट हैं। ब्रह्मा का हस, विष्णु का गरुड़, शिव का नन्दी, मकर वरुण का। मकराश्व का वाहन है आगे हिरण, पीछे मछली। कार्तिकेय का मोर, वायु का हिरण, यम का भैसा या कुत्ता। वैसे ही कई प्रकार के ग्राम देवता मिलते हैं। विश्वेश्वर या देवाधिदेव शिव यूनान की एरु परमदेव की कल्पना से मिलता है।

यह देवत्व प्राणियों की भाँति वृक्षों, जलचरों, पशु पक्षियों पर और कभी कभी मानवी रूप में भी आरोपित हुआ। यह एक प्रकार का ऐन्द्रजालिक प्रभाव था।

पर तु रहस्यवाद की मनोभूमिका और जादू या इन्द्रजाल की मनोभूमि में मौलिक अन्तर है। वैदिक काल में सोमयज्ञ की विधियों में अथर्ववेद में

ता रुद्र मन्त्र भी वषे मिलते हैं, ऋग्वेद का १०२८ ऋचाओं में से १२ का सम्बन्ध जादूतोन में है। इयापर्व २०० तथा क गुह्यमूत्रा में और तान हजार वर्ष पुरान यज्ञ और विवाह विधियाँ में एम रुद्र जादू में सम्बन्धित स्थान है। जैसे पञ्च देवता को हात्र तुलान ह (त्र्यापस्तोत्र) या मोती पहना हुआ श्याम अश्व। शतपथ ब्राह्मण में जाँ अग्निदेवता का पञ्जा है, उपम कइ ऐम जादू क रूप मिलत हैं 'हम तुझे प्रणमन कर, ताकि तारा आश्वर्याकारी चूड़ स्वर्ग में उवल।'

'ग्रहिया' का मारम फारस की 'बरेस्मान' समिधाना में मित्रता है। इस प्रकार से अग्नि देवता को जो कुछ चढ़ाया जाता था, वह अर्थपूर्ण था। जो बहुत से पशु चाहता था, वह दो उड़वा का गोबर चढ़ाता था (गोमिच्छ गुह्यमूत्र ४-९-३)। कौशिक मूत्र में चींटियों के नाश के लिए विष भी जोड़ा जाता था नैवेद्य में। वाण के मिरे शत्रुनाश के लिए चढ़ाये जाते थे। जिय स्त्री की देवल पुरुष मन्तान परावर जीवित रही हैं, ऐसी स्त्री के पुत्र को बध्या की गोदी में रखने से पुत्र कामना में सहायता होनी थी। 'यातुधान' का अर्थ ही था इन्द्रजाल की कामना करने वाला। यह 'तपस' से सिद्ध होने थे। अधर्व (१९- ६-५) में उल्लेख है कि शुचिता से भरी आत्मा में से स्वप्न जागता है। तत्सिरीय आरण्यक (५-६-७) के अनुसार शुचिता या तप में जगी प्राणी ही देवताओं तक पहुँचती है। इस तप में द्रष्टा भी निमित्त होते हैं (अधर्व, ९-१२६, १८-२, १५-१८)। इस तप में आकाश के तारे भी बनते हैं (शतपथ ब्राह्मण, १०-४, ३-२)। फिर अधर्व में अर्बुद्धि और विरूपाक्षों का उल्लेख है। अरवेद में अन्वा नामक रोग की देवता है जो शत्रुओं पर भेजी जाती है। आधुनिक काल के रोग कोटाणु युद्धों जैसे यह मंत्र है 'अन्वा जाओ उनके मना में गड़बड़ा पैदा कर दो, उसके शरीरों को परुड लो, उनपर हमला करो, उन्हें जला दो, उनके हृदय में आग पैदा करके, तुम्हारा शत्रु कालिमा के गर्न में पड़े।'

फिर 'तनु' को 'पापम्' मानने की बात चली। क्योंकि पशुमात्र क सत्र अवयवाँ में शक्ति है, जैसे वृषभ के चर्म में उहुप्रजा होने का गुण है, कृष्ण मृग के चर्म में पवित्रता, उपजाचर्म में ऋद्धि और व्याघ्रचर्म में सर्वाङ्ग विजय। जादू का अगला रूप था स्वरत्तात्मक या रोगनिवारणात्मक, जैसे

तावीज। हिरण्यकेशिन गृह्यसूत्र (२-३-६८) में 'सूतिकाग्नि' का उल्लेख है। मैत्रेयी संहिता में पानी के राक्षसों का। फिर नाद से राक्षस दूर करने वाले उपाय, अपामार्ग वनस्पतियाँ आर्यीं। रथ में तेजी से घुमान से इंद्र ने अपाला को अच्छा किया। अय्यं में तो बुखार को मढ़क बनाने रु, पीलिया को पीलक पत्ती बनाने के उल्लेख हैं (अथर्व, ७-११६-२, ५०-२२-४)। विभिन्न देवताओं की विभिन्न बोलियों का भी विधान था। पञ्चम्य का कालिका से सयुजन् तैत्तिरीय संहिता (३-८-६) में है। वैसे ही लाल रंग का उपयोग होने लगा। आश्वलायन गृह्यसूत्र में और पारस्करीय गृह्यसूत्रों में 'नङ्गर लगाना', कुदृष्टि आदि के अधप्रिश्वास रूढ़ हो गये थे। यह सब उल्लेख विस्तार से देने का कारण यह है कि सिद्धा और अनपढ़ सन्तों की कविताओं में बहुत सा रहस्यवाद इस आरम्भिक अपरिभाषित, अरूप मन्त्र तंत्र की परम्परा से जुड़ा है। पर तु रहस्यवाद केवल इन्द्रजाल नहीं है।

एवलिन जडरहिल ने अपनी रहस्यवाद पुस्तक में दोनों के बीच में मौलिक अंतर बतलाया है

जादू

- १ जादू प्राप्त करना चाहता है, लेना चाहता है।
- २ जादू में स्वार्थ निहित है।
- ३ जादू चोरी चुपक, घात लगाने के रूप से होता है। यानी उसमें व्यक्तिव का एक भाग ही दिखायी देता है।
- ४ जादू के परिणाम दृश्य हैं।
- ५ जादू छोटी छोटी सफलताओं से सतुष्ट हो जाता है।
- ६ जादू में औरों को मूर्च्छित, अक्रिय बनाने की भावना है।

रहस्यवाद

- १ रहस्यवाद देना चाहता है।
- २ रहस्यवाद निर्वैयक्तिक होता है।
- ३ रहस्यवाद समूचे व्यक्तिव का परिणामन है।
- ४ रहस्यवाद के अमूर्त, अदृश्य।
- ५ रहस्यवाद का साध्य परम मिलन है।
- ६ रहस्यवाद एक प्रकार का दिव्योन्माद है। विलियम जेम्स ने 'वेरायटीज आफ रिलिजस एक्सपीरिअस' में पृष्ठ-३८७ पर कहा है कि मधो-मत्त की दशा और रहस्यानुभूति एकसी है।

७ जादू एक प्रकार की निरी इच्छा ७ रहस्यवाद चिरन्तन अनृषि है ।
पूति का प्रक्रिया है ।

इस विवेचन का उद्देश्य इतना ही है कि हमारे विषय काल में सत्ता की रहस्यभावना बहुत कुछ हम प्रकार के अधविश्वासों से रगी हुई थी । उसमें से विवेक और प्रजावाद के सूत्रों को एकत्रित कर उनपर जल देना, समान की रूढ़ि मायताओं के विकृत प्रभावत करना यह उच्च कार्य सत्ता के कर्मज अपनी अखिग, निर्भाक सफल शक्ति के सहारे किये और उनकी रचनाओं में उस दिव्यता का सुन्दर आभास मिला । जैम नामदेव का यह पद

(गोरोगा मुक्ताबाई भेट वर्णन, गा० ११३-११४-११५)

मातियाचा चूर फकिला अस्वरी ।
विजुचीया परी कीळ झाले ।
जरी पीतास्वरे नमावली नभा
चैनयाचा गाभा नीळ विन्दू ।
तळीपरी परसे शून्याकार झाले
सर्पांची ही पिल नाचू लाग ।
कडकडोनी वीज निमाली तर्फीचे ठायीं
भेटली मुक्ताबाई गोरवाला ।
परस्परें गुह्य करिती भाषण
भ्रूणती महाधान गावा आली ।
रक्तश्वेत पीत नीळ वर्णाकार
नक्षत्राचो चर पूजा कला ।
प्रकाशमय तज उयोतिमय पहाणी
दीप त्रिसुवनी एक झाला ।
निवृत्तिदेव म्हणे कुलाचे चक्र
अंतर बाहर एक झाले ।
निवृत्तिदेव म्हणे चला गुफेमय
अचळ हे आह्मी समाधी असे ।

सद्गुरु प्रसाद बाधिली नेदवी
 गुहे गौप्य ताटी आड केली ।
 दण्ड चक्राकार बाधिली चहकडुन
 आत सन्तजन करिती पास ।
 ऐसे गुफेमध्ये नाही नामदेव
 म्हणून माझा जीव थोडा होता ।
 गेनीचो मिरास, घतली प्रमाण,
 पूर्वभूमि जतन करित आस ॥

यह दि य साक्षात्कार वही था जो उपनिषद्काल से चला आ रहा था । बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते हैं कि 'हे गार्गी ! ब्राह्मण जिसे अक्षर कहते हैं वह अस्थूल, अणु, अहस्, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह, अछ्छाय, अतम, अवायु, अनाकाश, असग, अरस, अगध, अचक्षुष्क, अश्रोत्र, अजाक्, अमन, अतेजस्क, अप्राण, अमुख, अमात्र, अगन्तर, अजाह्य, अनश्नान वा अनश्रीय है । (३, / ८)

इतना लिखकर भी रहस्यवाद का प्रहुत सा अग अनुभवगम्य और शब्दातीत ही रहेगा । वही तो 'रस गगनगुफा में अक्षर क्षरै' कहकर कवीर ने वर्णित किया था । इसलिप् परिभाषा की चौखट में तत्कालीन रहस्यवाद नहीं बँध सकता । वह अत्यन्त वैयक्तिक होकर निर्व्यक्तिक अनुभव था ।

अध्याय २

रहस्यवाद में विरह-व्यंजना

प्रस्तुत परिच्छेद में स अग्रजी, मराठी तथा हिन्दी के कुछ सर्वा अथवा रहस्यवादी (मिस्टिक) कवियों के आर्त विरह वर्णन के नमूने प्रस्तुत करना चाहता हूँ । अन्न स फ्रायड को यह मायता कि प्रत्येक व्यक्ति में एक प्रकार की अपूर्ति अथवा अतृप्ति उत्पन्न रहता है, जिसे वह कठना या स्वप्न द्वारा पूर लेता है, उसी के विराट् रूप में ये सत्र मयियों की उक्तियाँ हैं— यह सिद्ध करने का मैं प्रयत्न करूँगा । वृहदारण्यक, १।७।१-३ का आधार फ्रायड ने अपनी पुस्तक 'सदमत से परे' के आरम्भ में दिया है । यह अंग है—

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषत्रिध

स वे नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते ।

स द्वितीयमैच्छत ।

स हैतानात्स यथा स्त्रीपुमात्मौ सपरिष्वक्तौ ।

स इममेवात्मन द्वेषापातयत्तत पतिश्च पत्नी

चाभवता तस्मादिन्मघघृणालमिव स्व इति ।

सूफी जामी की उक्ति भी बड़ी सामिक है—'जो एक नहीं हुआ है, वही दुई के कारण से दुःख पा रहा है ।' एक में दो बनना दुःख का कारण है । विरह भी इकाई में सम्भव नहीं । दार्शनिक जिसे द्वैतवाद की समस्या मानते हैं, उसी पर यहाँ काव्य की दृष्टि में विचार किया जा रहा है ।

अगरेजी में सत्रहवीं सदी में कई अध्यात्मप्रधान कवि हुए हैं, जिनमें जॉन डौन, कैरिउ, एव्लिंग, केशा, लजलेम, नाथो, एड्यू मार्चल आदि प्रधान हैं । इन आध्यात्मिक कवियों के सम्बन्ध में ग्रीयर्सन अपनी विद्वत्तापूर्ण भूमिका में कहते हैं—'सत्रहवा सता के इन मयियों ने दो चीजों को मिला दिया—जो दोनों चीजे जल्दी ही नष्ट हो गयीं—मध्ययुगीन प्रेम कविता की स्वपना प्रधान द्वाद्वात्मकता और पौराणिक कथाओं का सरल, ऐंद्रियिक स्वर । इस प्रकार आत्मा और शरीर को कविता देवी के रथ में जोड़ दिया

गया, जो खुशी खुशी दौड़े और उड़े भी। यूनानियों में विश्वास है कि पैगोसस नामक सपख अश्व पर काव्य प्रतिमा चलती है। आधुनिक प्रेम कविता ने वे दोनों गुण छोड़ कर हलकी भावुकता में अपने आपको खो दिया है।' (मेटाफिजिकल लिक्विड एंड पोएम्स आक्सफोर्ड प्रकाशन)

एड्यू मार्वेल को यह उक्ति देखिये—'जैसे तिरछी रेखायें हैं वे प्रत्येक कोण में एक दूसरे से मिलती हैं, टेढ़े प्रेम की भी वही स्थिति है।'

'किन्तु हमारा प्रेम इतना समानान्तर है कि वह असीम होकर भी आलिंगन नहीं करता।'

मार्वेल ने आत्मा और शरीर के बीच में एक सवाद लिखा है, जिसमें आत्मा कहती है—

'किस जादू ने मुझे गोंध रखा है कि मैं दूसरे के दुःख से दुःखी होऊँ।

जब कोई शिकायत वह करता है तो मैं ऐसा अनुभव करती हूँ कि मानों मैं दुःख का अनुभव ही नहीं करती।'

अंग्रेजी की इस आध्यात्मिक विशेषणयुक्त कवि परम्परा में जौन डौन अपना विशेष स्थान रखते हैं। वह अनेक विरोधाभासों से युक्त एक विचित्र व्यक्ति थे। उनकी विरह के सम्बन्ध में उक्तिगणों बहुत प्रचारात हैं। उदाहरणार्थ कुछ उपमाएँ देखिये—

हमारी दो आत्माएँ जो असल में एक ही हैं,

विरह सह नहीं सकती, किन्तु चूँकि मुझे जाना ही है,

वे आत्माएँ फँसती चली जायेंगी

जैसे सोना कुट कुटकर कण कण बनकर हवा में उड़ जाता है।

अगर वे दो भी हो जायें तो वे ऐसी दो हाँगी,

जैसे कम्पास के दोनों पैर अपनी अपनी जगह तने हुए दिखाई देते हैं,

तुम्हारी आत्मा, उस केन्द्र में जमे हुए पैर की भँति है जो हिलता नहीं,

परन्तु अगर दूसरा पैर हिले घुमे तो वह भी घूमता है।

यों अंग्रेजी कविता का क्षेत्र विशाल है और बाइबिल के 'साम्स' से लगाकर आधुनिकतम कवियों तक विरहोद्गारों के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। सच्चे में, अंगरेजी धार्मिक कवियों का विरह वर्णन काफी स्थूल और ऐंद्रियिक वासनोद्दामता के सकेत लिखे हुए और मृत्यु के प्रति प्रेम दरसाते हुए हैं।

हमारे यहाँ क म ता का मापना इसमें भिन्न है। मराठा क मन्त करिया में जानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम और उनक शिष्य निठोवा क ही उदाहरण यहाँ दता हैं। मन्त जानेश्वर लिखित 'आलाचे अभंग' 'विरहिण्या' प्रकरण की कुछ चुनी हुई उक्तिया का भावार्थ था है

'मिलने गया तो म उमा का हांकर रहा। ऐसी ठगी गया कि मुझ कुछ पता ही न चला।

लाटते प्रक जप आँप पाड़े मुदकर देखन लगा, तो न काली और न साँवला—कोई मूर्ति ही नहा दिखाई दा।

अन्दर जाहर रुमा एक ही रग भरा हे कि जहाँ म गले भर कर मिलने गयी तो एकाकार हा गयी।

अब तो सभाले नहीं सभल पाती हूँ। माँ, तुझम क्या कहूँ? पूरा जावन ही मै न थोड़ावर कर दिया।

आशा का लालच गया तो उलटी भागती ही रही, निराशा को समय न लगते वह वाञ्छित वस्तु मिल गया।

उस रथ न मुझे खाँच लिया। क्या कहूँ माँ, बुलान जाती हूँ तो वह सब निर्गुण हा हो जाता हे।

मेरा अपनरव नहीं बच रहा। प्रपच (ससार) का कहानी मलमय हो गयी।

दूर देश म पड़ी हूँ। मन म सुधियाँ आती हैं। यह वियोग असह्य है, इसमें जीव कष्ट म है।'

जानेश्वर की विरहिणी मशरन्धा एक और काव्यमय उक्ति भी द्रविय—
'आँगन म कमलिनी हे, जलधर ऊपर झुक आया है। क्यारी साँचने पर सूख सूख जाती हे।

मोती जसा पानी नीले पात्र म बह रहा है। सगुण की पीर जो वह जगा गया है।

आँगन पर भी झुक आया, मोती बरसाये। वह दिन धन्य था। सोने का दिन था।

अरे चोर मरुकर, तूने कमल म अपना निवास किया है। मोता तो राजहस ही चुगते हैं।

म अकेली राह देख रही हूँ, मुझे मदन जला रहा है। मेरी उम्र कम है, यह कहने की बात नहीं।

‘अभी जाता हूँ’ कह कर गया। मगर फिर इतना वक्त क्या लगाया। दुकूल मोतियों से भोग गया।’

ज्ञानधर १३३५ विक्रमी में हुए। परन्तु उनके समकालीन महानुभावीय पद्य के जागपद का यत्ने अधिक सन्निकट प्रायः परेन्द्र कवि की अभी अपूर्ण उपलब्ध ‘रुक्मिणी स्वयम्बर’ नामक लम्बी कविता में विरह वर्णन का अन्त देगिये। यद्यपि इसमें ममियों वाला रहस्यवाद का पर्याच्छादन नहीं है, फिर भी देवी देवता की ओर में काफी यथार्थवादी वर्णन है। इस ग्रन्थ का रचना काल महाराष्ट्र में प्रचलित शालिवाहन शक १२०० से १२१३ के बीच माना जाता है अर्थात् १३३५ विक्रमी, उसमें रुक्मिणी का विरह सपीडन या वणित है —

“सामने चाँदनी जय दृष्टिगोचर हुई, तब उससे लक्ष्मी को भूचम वेदना हुई।

कहने लगी—यह हमारे क्षीर सागर का उड़वानल तो कहा नहीं उलटा—
सब जगह फैल गया।

क्या आश्चर्य है कि बिना बादल के आकाश में चाँद रूपा गोल विद्युल्लता अखण्ड चमक रहा है, जो देवता (स्वामी) के अभाव में मेरे शरीर पर अखण्ड गिर रही है।

अथवा वसन्त ऋतु के समय, नये अनग ने होली जलाया है, उसमें यह चाँदनी धुलैटी के रूप में, सारे अंगों पर छा रही है।

पहिले से ही विरह उबर है। वहाँ चन्द्र करों के झंके और मथ रहे हैं। तब बाँस के पोरों में सहज बाध बज उठे (इसमें क्या अचरज ?)।”

और एक जगह नरेंद्र उग्र अवस्था का वर्णन करते हैं, जब विरहिणी स्वयं अग पुलकों से डर जाती है। इसकी तुलना रीतिकालीन हिन्दा कवि या अतिशयोक्ति प्रिय उदूँ कवियों से ही की जा सकती है —

“उह (विरहिणी रुक्मिणी) कस्तूरी के कमरे में लोटी, कुकुम के मन पर चाँदनी के श्वेत शीतल प्रकाश में सोयी।

चायों हाथ मिरहाने रखा, दाहिना हृदय पर, मानो हृदय मं स्वामी का वाध रखा—इहीं भाग न निकलें ।

इतने में, आम की मजरा तो नहा है—ऐसा समझकर चाका । वह तो उसकी ही अपनी उँगली थी । रक्तोत्पलां से वह डर गयी, अरे, वह नां उसका ही कर कमल ये ।

अपने ही नाद से शक्ति हुई, यह समझकर कि कहा कोयल तो नहा चूक रही है, फिर अपनी ही उसामां पर वितर्क करन लगा कि यह मन्थानिल तो नहां आ गया । ।

सु दरी ने जो 'सेला' पहना था, वह विरहाग्नि से ऊपर हो ऊपर जल गया, जैसे तप हुए तल पर पत्ता फट जाता है ।”

नामदव (१६२७ ई० म १४०७ विक्रम संवत्) ने विरहिणियां क उगन नहीं किया है, पर तु ममियां की मी आत्मलाजना का भान उह बहुत है । एक तो व अपना ओछी समझा जाने वाला जाति दर्जागिरी का उल्लेख करन हैं और फिर कौटुम्बिक दु ख तमा उपेक्षा का भी वर्णन करते हैं —

“ लोह का चाकू पारस स छू गया । अउ उस पुराना कीमत पर नहीं माँगना चाहिये ।

वेश्या थी । वह पतिव्रता बन गया । अब उससे पुरानी बात नहीं करना चाहिये ।

दासीपुत्र का राजपद मिल गया । अउ पहिल की उपमा नहीं देना चाहिये ।

मि शुदास नामदव 'विट्ठल' (विष्णु) म मिल गया । अब उस दर्जा दर्जा कहकर पुकारना नहीं चाहिये ।

पुत्र कलत्र म उ आदि वज्रपाश म रेंध गया । दु ग क पर्वत मुझ पर गिरे है । हे श्रीहरी, पांडुरग (विट्ठल का एक नाम) 'धाय उचाओ ।’

ये सब कुटुम्बा मित्रादि मुझसे सुख की बात नहीं करते । हे चक्रपाणि, म परदर्शी हो गया ।

मयका दास्य किया । उड़ी आम और भरोसा था कि वे अपने हांग । मगर वे सब अपने ही हिन (स्वार्थ) का खन कर रहे हैं—न मेरी चिन्ता करने हैं, न परलोक की ।

अब तो सुख दु ख दोनों हमें एक से हो गये है । मन की यही

प्रतीति मिली है। अतर्बाह्य एक ही ब्रह्म व्यास है। द्वैत भावना सत्र निव्वट गयी।”

नामदेव की इस प्रकार की आर्त आत्मस्वीकृति के पीछे उसके जीवन की जलती हुई उपरति की, पश्चात्ताप की कहानी है। नामदेव की शादी राजाई से हुई थी। शादी के बाद नामदेव खुरी सगत में फँसकर डाकू बन गया और राहगीरां को लूटता था। कई गरीब यात्रियों को मारा, भोले पथियों को लूटा। यह जब बहुत दिनों तक चला तब बड़ा हल्ला मचा और हूँ पकड़ने के लिये वहाँ के अधिकारियों ने अपने 'राउत' (सिपाही) भेजे। 'राउत' और नामदेव के गिरोह में लड़ाई हुई। कई 'राउत' मारे गये। पर तु नामदेव का नियम था कि वह लूटपाट करता था तो ज़रूर, मगर अपने बड़े घोड़े पर चढ़कर अवला गाँव के नागनाथ के दर्शन को अवश्य जाता। नित्य की भौंति इस 'राउत' सग्राम के पश्चात् नामदेव नागनाथ के देवालय में पहुँचा। ब्राह्मण आरती कर रहे थे। नैवेद्य की थाली सजी थी। उस समय एक गरीब शूद्र स्त्री वहाँ देवता के दर्शनों के लिये आयी। नैवेद्य की थाली का अन्न देखकर उस स्त्री की गोद में जो बच्चा था, उसने 'मुझे यह अन्न दे' ऐसा हठ किया। बच्चे का यह "यर्थ" का हठ देखकर माँ ने उसे डोट दिया, परन्तु वह नहीं माना। तब माँ ने उसे पीटना शुरू किया। बच्चा अन्न माँग रहा है और माँ उसे पीट रही है, यह देखकर नामदेव का हृदय उमड़ गया और उसने पूछा—'माँ, तू अपने बच्चे को क्या मार रही है?' उस गरीबिनी ने नामदेव को न पहचानते हुए हिचकियाँ भरते हुए उत्तर दिया—'न मारूँ तो क्या करूँ? मैं इसके लिये ऐसा अन्न कहाँ से लाऊँ? मेरा धनी 'राउत' था, उसे नामा डाकू ने मार डाला। हाथ भगवान्, अब मैं अपने बच्चे की जिद कहाँ से पूरी करूँ? इसे यदि मैं अपनी हड्डियाँ पकाकर दे सकती तो अच्छा होता।' नामदेव यह सुनकर पछतावे से भर आयी। वहीं उसके पास जो कुछ था, वह सब बाँट दिया। अपनी बड़ी घोड़ी भी दे डाली और हाथ में एक छुरा लेकर वह देवता के बिलकुल पास पहुँच गया। शिवलिंग से बोला—'अब मैं यह आघात सहन कर अपने आपको दूषित कर लूँगा, और छुरा अपने सिर में मार लिया। खून का फव्वारा छूटा। उसकी धारा शिवलिंग का अभिषेक करने लगी।

पुजारी दांड आये। नामदेव के हाथों से शस्त्र छान लिया। त्रेवना न उसे पठरपुर (महाराष्ट्र के वणवा का प्रसिद्ध तार्जमान) जान क लिये रुहा। जखम पट्टा से बाँधकर वह पठरी के विठ्ठल के दर्शनार्थ चला। राह में भामा नदी पूर पर थी। वहीं वह भजन करना हुआ सत्याग्रह करता पठ गया। लोग जमा हो गये—सब उसे डाकू नामा, दर्जी नामा कहकर चिढ़ाते। पर तु वह भजन गाता ही रहा। भीड़ खतम हो गयी। उस समय के ये पद हैं, जो ऊपर दिये हैं।

‘महाराष्ट्र सारस्वतकार’ वि० ल० भावे ने नामदेव चरित्र में नामदेव का एक भक्त और भगवान की एकरूपतावाला ‘अभग (छद्मविशेष) दिया है और उसी के नीचे पाद टिप्पणा (फुटनोट) में ‘मीरा की ब्रजभाषा का मीठा पद’ भी दिया है। मैं दोनों नीचे न रहा हूँ, क्योंकि ‘तुम और मैं’ यह समियों का प्रिय विषय है।

नामदेव —

तू आकाश मी भूमिका । तू खिग मी शाळुका ।

तू समुद्र मी चद्रिका । स्वय दो हीं ॥

(तू बृदावन मी चिरी । त तुलसी मा मजरी ।

तू पावा मी मोहरा ॥

तू चाँद मी चादणी । तू नाग मी पक्षिणी ।

तू कृष्ण मी रुक्मिणी ॥

तू नदी मी थड़ी । तू तारु मी सांगडी ।

तू धनुष मी भातडी ॥

नामा रहणे पुरुषत्तमा । स्वय जडलों तुक्षिया प्रेमा ।

मी कुडी तू आत्मा । स्वय दा-र्हा ॥

मीरा —

जो तुम तोड़ो पिया । मैं नहि तोड़ूँ ॥

तोड़ूँ तोरा स्वय कृष्ण कोन हुआ जाडू ? ॥

तुम भये तरुवर, मैं भयी पंखिया ॥

तुम भये सरोवर, मैं भयी मछिया ।

तुम भये गिरिवर, मैं भयी धारा ॥

तुम भये चदा, हम भये चक्रोरा ॥
 तुम भये मोती, हम भये धागा ॥
 तुम भये म्नाना, हम भये सोहागा ॥
 दासी मीरा रहे प्रभु ब्रज के दासी ॥
 तुम मेरे ठाकुर, म तेरी दासी ॥

और रैदास का --

प्रभुजी तम चदन हम पानी ।
 जाकी अग अग वास समानी ॥
 प्रभुजी तुम दीपक हम बाती ।
 जाकी जोति जरै दिन राती ॥

इत्यादि पद तो बहुत प्रसिद्ध ही हैं ।

नामदेव के पश्चात् एकनाथ (१६०५ वि० १६६६ वि०) आते हैं, जिनके 'अभंगों' में विरहिणी का रूप काफी स्पष्ट है। वे कहते हैं—

युग युग की पीड़ित यह विरहिणी है। यह ध्यानपूर्वक मन में चक्रपाणि का स्मरण नहीं करती, इसा से वियोग की यातना है। इतने में सत सगति मिली। विरह गया, अपार सुख हुआ। ज म ज म के आवागमन की डोर टूट गयी।

और एक स्थल पर कहते हैं —

चातक की प्यास ही कितनी है। लेकिन उसे तृप्त करने में पूरी क्षिति भी ज्ञात हो जाती है।

गाय बत्स के लिये दूध देती है मगर उसीम से घर घर दूध दही मक्खन भी पहुँच जाता है।

मिठाई खाना बालक नहीं जानता। माता जनदस्ती उसे मुँह में छूसती है।

एका जनार्दन कहते हैं। मेरा एक पन कर्हा कोई ले गया।

जामी (सूफी फारसी कवि) के इसा एके और दुई के भाव को लेकर फारसी साहित्य के इतिहासकार ब्राउन ने वे दो पक्षों अनुवाद के रूप में दी हैं—

‘ह्रस्वोष्वर हैज नाट वीन वन, आल्पन मफरम विद दि परम आफ सेपरेशन’

मराठी सतमालिका म, मर्मा क्रिया म अन्तिम और महत्वपूर्ण म्त्रि तुकाराम के कुछ छद्म दफ्तर यह परिच्छेद समाप्त करना हैं। तुकाराम की गायत्रि म गौळणी (ग्वालिन, गोपियाँ) और विराण्या’ (विरहिणियाँ) का अलग अभ्यास हैं। गौळणी म दो हि दी क छद्म भा हैं, जो इस प्रकार न्यिे है —

म भूळी घरजानी जाग । गोरस प्रचल जाय हाट ॥ १ ॥
का हा रे मनमोहन लाल । मब हा तिमरू तय गापाल ॥ २ ॥
काहा पग डारू तय आनेरा । दये ता मय वाहिन घरा ॥ ३ ॥
हुँ ताँ यकित भरा तुका । भागारे सत्र मन का धाका ॥ ४ ॥

हरि विन रहियाँ न जाय जिहिरा ।

कयकी याही दख रदा ॥ १ ॥

क्या मरे गल कयत चुको भइ ।

क्या मोहिपासिती पैर रुगाई ॥ २ ॥

कोइ सखी हरि जाये बुलवान ।

चार हि डारू उम पर तान ॥ ३ ॥

तका प्रभु कब दय पाऊ ।

पामी आऊँ फेर न जाऊँ ॥ ४ ॥

य विरहिणियाँ परपुरुष से रत होन क लिए बहुत व्याकुल रहती हैं। कहती हैं—‘परपुरुष का सुख भोगना हो तो सिर काटकर हथेली पर रख लो। अपने ही हाथों में ससार (दापत्य जीवन) को भाग लगा दो और पीछे मुड़कर न देखो। जिस प्रकार दीपक पर पतंग होता है, वैसे वीठ बनो।’ (तु० की० गायत्रि अभंग १९७)।

‘विराण्या’ अक्ष म तो काम और उसकी अतृप्ति क स्पष्ट उल्लेख हैं, राधा कृष्ण सगुण रूप हैं, तीन तान पक्ति की तुकाराम की व कविताएँ अत्यन्त ही उत्कट हैं—

‘पहिले पति से काम पूर्ण नहीं होता था, इसलिए मुझे मजबूरन व्यभिचार का सहारा लेना पड़ा। मुझे वह रात दिन पास चाहिए। एक क्षण न

एक घड़ी उससे अलग नहीं रह सकती। मेरी सुविधा पूर्ण करो। मैं तो अनन्त से रत हो गया—तुका कहता है।'

हिन्दी सन्त कविता से विरह वर्णन के अत्यन्त उदाहरण दिये जा सकते हैं, परन्तु चूँकि मेरा विषय क्षेत्र निर्गुणिए सन्तों तक सीमित है, अतः यहाँ विद्यापति या मीरा या सूर और अन्य अष्टछाप के कवियों की बात जान बूझ कर छोड़ देना चाहता हूँ। निर्गुणियों में भी दादू और कबीर को ही लेता हूँ। दादू की विरहिणी आत्मा के उद्गार देखिये —

- १ दे दरसन देखन तेरा, तो जिय जरू पावे मेरा ॥
पिय तू मेरी वेदन जानै, हौ कहा दुराई छानै ।
मेरा तुम देखे मन मानै ॥ १ ॥
पिय करक कलेजे माहाँ, सो क्या हीं निकसै नाहाँ ।
पिय पकरि हमारी बाँही ॥ २ ॥
पिय रोम रोम दुख सालै, इन पीरुँ पिजर जालै ।
जिय जाता क्यु ही वाले ॥ ३ ॥
पिय सेज अकेली मेरी, मुझ जारति मिलो तेरी ।
घन दादू वारी फेरी ॥ ४ ॥
- २ भाव सलोने देखन दे रे ।
बलि बलि जाऊँ बलिहारी तेरे ॥
आच पिया तू सेज हमारी ।
निसदिन देखो बाट तुम्हारी ॥
- ३ भाव पियारे मीत हमारे ।
निसि दिन देखो भाव तिहारै ॥ टेक ॥
सेज हमारी पीव सँवारी ।
दासि तुम्हारी सो छुण वारी ॥
जे तुझ पाऊँ अगि लगाऊँ ।
क्यूँ समझाऊँ वारण जाऊँ ॥
पथ निहाऊँ, बाट सँवाऊँ ।
दादू ताँऊँ तनमन वाँऊँ ॥

ऐसे भी और अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। मेरा निश्चय कबल हनना ही है कि य सत्र स-त या समा या पहुँचे हुए नहाजाना परु स श्रुतार गमित रूपक या प्रतीक ही क्या उपयोजित करत ह ? वहाँ सज, वहाँ गग मिलन, वहाँ गम प्यास, वहाँ नृपा मिटना, वहाँ त्रिरह ज्वाला, वहाँ प्रिय क सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य की कामना, वहाँ छुटपटाहट, वहाँ प्रतीक्षा, वहाँ अकेला अकेलापन—सभी स ता का वाना म यह एक से वगन क्या ? भाषा, प्रान्त, देश काल भद मे ऊपर यह प्रतीका का समानता क्या यह बात सिद्ध नहीं करती कि जा कुछ 'रहस्यवाद' जसा माना जाना है, वह कहाँ भौतिक वाद का ही उलटा रूप ना नहाँ है, या उसमे छुटकारा पान का प्रयत्न मात्र तो नहीं है ? और कवि भी चूँकि अपनी भौतिक अनुभूतियाँ क घर म अपने भाव और विचार जगत् को अलग नहीं कर सकता, यह सत्र सूक्ष्म क प्रति ओत्सुक्य या आसक्ति, वस्तुत 'खूल' का ही तात्कालिकरण (रेशनलाइजेशन) है। खूल अभाव हा सूक्ष्म विरह बन बैठा है। हमारे पास इन सत्र समियों के व्यक्तिगत जीवन (विशेषत द्वापर्य जीवन) के सम्बन्ध में पर्याप्त शोध योग्य सामग्री नहीं, अथवा मेरे कथन का और पुष्टि मिलती।

प० रामचन्द्र शुक्ल ने रहस्यवादियों की हम लाग लपेट, प्रतीका का आश्रय लेकर बात करने के ढंग को विदेशी प्रभाव कह कर टाल दिया है, जैसे—'भारतीय भक्तिकाव्य को 'रहस्यवाद' का आधार लेकर नहीं चलना पड़ा। यहाँ के भक्त अपने हृदय से उठे हुए सच्चे भाव, भगवान की प्रत्यक्ष विभूति को बिना सकोच और भय के—बिना प्रतिविश्ववाद आदि वेदान्तवादों का सहारा लिये—सीधे अपित करते रहे। मुसलमानी अमलवारी में रहस्यवाद को लेकर जो 'निर्गुण शक्ति' की जानी चली, वह बाहर से—अरब और फारस की ओर से आयी थी। वह देशी वेप में एक विदेशी वस्तु थी। इधर अग्नेर्जा के आने पर ईसाइयों के बीच जो ब्रह्म समाज बंगाल में स्थापित हुआ, उसमें भी 'पौनल्लिकता' का भय कुछ कम न रहा।' (चित्तमणि, दूसरा भाग, पृ० १३६-३७) और इस विदेशी प्रभाव के प्रति उनका पूर्वग्रह है ही—'फारस की शायरी भावपन्न प्रधान है। उसमें विभावपन्न का विधान नहीं था नही के बराबर हुआ है वेदना की विभूति का

चाल फारसी और उर्दू की शायरी में बहुत अधिक है। त्रिभाज और भावक सम्बन्ध का स्पष्टीकरण न होने से—इस बात का ध्यान न होने से कि मन में लक्षण हुए रूप किस प्रकार रस में सहायक या अधिक होत है—वेदना की विवृति कभी कभी उड़े बाभल्य दृश्य सामने लाती है। आपले फूटना, मचाद पहना, कलेजा चीरना, खून के कतरे टपकना, कपास की तरह इधर उधर भुनना—वेदना का इस प्रकार का व्योरा शृंगार का पोषक नहीं हो सकता। (चिन्तामणि दूसरा भाग पृ० ११०)। 'काव्य में रहस्यवाद' नामक विशाल निबंध के ११२ पृष्ठा में केवल उपर्युक्त स्थल पर वेदना का उल्लेख है। मर्म कवियों के इस पक्ष को जैसे वे भूल हा गया, जन्कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्राचीन साहित्य का 'उच्च साहित्य' स्वभाव निश्चय अशुभल से कलरुमोचन करते हैं और स्वाभाविक आनंद से पुण्य का स्वागत करते हैं यह उवाला देकर टास्टराय के लोकादर्शवाद अथवा कर्णामय मानवतावाद की आइ० ए० रिचर्ड्स के महारे उ होने काफ़ी खिल्ली उड़ाया है। खेद से कहना पड़ता है कि शुक्ल जी की तीनों बातें गलत हैं। प० हजारिप्रसाद द्विवेदी की 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि निर्गुण भक्ति धारा केवल वैदिक प्रभाव मात्र नहीं थी। उसके पहले, उसकी जब में कुछ स्वदेशीय संस्कार बीज भी अवश्य थे। सूफ़ी अभिमत ने सिंचन का कार्यमात्र किया। फारसी उर्दू कविता के सम्बन्ध में शुक्ल जी का दृष्टिकोण कैसे एकांगी है, यह पहले सिद्ध कर चुके हैं और वेदनावाद या टास्टरायवादी मानवता का मजाक उड़ाकर और केवल कर्णामय क्रोध या 'प्रचोभ रस' का उल्लेख कर शुक्ल जी ने रहस्यवादियों की, मर्म कवियों की अकथनीय पीर या अनंत वेदना के साथ पूरा न्याय नहीं किया है।

मगर इस प्रसंग में हम कबीर को नहीं भूल सकते। उसकी कविता वैसे रूखी मानी जाती है, परंतु उसमें भी कई साकार प्रतीकां, उपमानों 'साध्यवसान रूपकां' (पल्लौरी) की कमी नहीं है। कबीर के ये शब्द देखिये —

१ तलफे बिन बालम मोर जिया ।

दिन नहीं चैन, रात, नहीं निदिया,

तलफ तलफ के मोर किया ॥

तनमन मोर रहा अस डोल ।

सून सेज पर जनम छिया ॥

नैन थकित भए पथ न सूझै,

साहँ बेदर्दा सुध न लिया ॥

२ कैसे दिन कटिहैं जतन बताते जाहयो ।

अचरा फारि के कागद उनाहन

अपनी सुरतिया हियरे लिखाये जाहयो ।

और यह दोहे

सय रग तात रवाव तन, विरह बजावैं निच ।

और न कोई सुनि सके, क साहँ के चित्त ॥

विरह जान जेहि लागिआ औपध लगत न ताहि ॥

सुसुकि सुसुकि मरि मरि जिये उठै कराहि कराहि ॥

अगरेजा, मराठी और हिन्दी के कुछ निर्गुण सन्तों या 'मर्मियों' की विरह-कविना क उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जितना ही ऊँचा रहस्यवाद का तार टूने का प्रयत्न किया जाता है, उतनी गहरी मीढ़ उसमें से ऐन्द्रियिक प्रेमानुभूति की (स्पष्ट फायडियन शब्दों में काम वृत्ति की अतृप्त लालसा की) निकलती रही है। यह बहुत पुराने ज़माने से होता आ रहा है।

सूफी कवि, मुस्लिम सन्त और उर्दू के कुछ रहस्यवादी कवियों का साधय प्रस्तुत करना चाहता हूँ। मर्मियों में पायी जाने वाली आत्म निपीडक (मैसो-फिस्ट) वृत्ति सूफियों में अत्यधिक प्रमाण में है। बारहवीं सदी का एक सूफी सनाइ कहता है—'खिरमने खुदरा बदस्ते खेरातन सोज़ेम मा' (हम अपने ही हाथों से अपने खिरमन को—सचित शस्य को नष्ट कर डालते हैं) और वह अपनी आँखें फोड़ लेने को कहता है, प्रणय मार्ग पर अपने पाँव ताड़ लेने को कहता है और मौत का आनाहन तो वह हर घड़ी करते रहता है, 'अपने आपको सबसे पहले मिटा डाल, यदि तू उस राज राजेश्वर के दर्शना की अभिलाषा रखता है तो उसके मन्दिर की धूल बन जा और उसके आने के मार्ग में अपनी प्रतिष्ठा का छिड़काव कर दे, प्रेम की पीड़ा का अनुभव प्रेमियों को ही हो सकता है, चलो इस प्रेमी को भार डालने वाली प्रेमिका का

शिकार बन्द पकड़ लें, और मृत्यु का सुखपूर्वक आवाहन करें। वह तो 'ख्याले चेहरये नज़ाजे रङ्ग' पर 'तौफ गह कुरबा कुनैम' अर्थात् सुन्दर मुख के ध्यान में सब कुछ कुर्बान करने को तैयार है। उसके ईश्वर का रूप भी किसी उर्वशी से कम नहीं है। वह कहता है—

हे ईश्वर ! तेरा रूप इस दुनिया की हर चाज से बढ़कर है। वह अतुलनीय है। तेरा कमाल आफत और नुकसान से परे है, यानी शाश्वत है।

मेरी आँख की पुतली तेरे दर्शनों के लिये उरसुक रहती है। मेरे प्रेम भरे रोगी प्राण तेरे प्राणों का एक अंश है।

और एक दो सूफी लीजिये—हाफिज़ (चौदहवीं सदी) और जामी (पन्द्रहवीं सदी) से कुछ उदाहरण अपने कथन की पुष्टि मं तू, हाफिज़ के 'दीवान' से कुछ चुने हुए चित्र देखिये।

'वह मुश्की रङ्ग की अलकें न मालूम किधर छिप गई हैं ? हमारा दिल चुपचाप एक कोने में दुबका बैठा है—प्रियतमा की वे भौहें कहाँ हैं ?'

'आज माशूकों के अभाव में, सन्न्यास एक ही है। मैंने उसी को पान क लिए दोनों जहानों को मिटा डाला। दोनों जहानों का अन्त एक ही है।

'तेरे काले अलकों के जाल में यह हृदय अपने आप ही जाकर फँस गया है। अपनी तिरछी चितवन से, अपने पैने कटाक्षों से तू उसे मार डाल, यही उसका वृण्ड है।'

'प्रणय मार्ग अन त है। उस मार्ग में अपने आपको मिटा डालने के अति रिक्त और कोई चारा नहीं।'

'तेरे मुख के प्रकाश से सभी निगाहें प्रकाशित हो रही हैं। तेरे मुख को बड़े बड़े नजर लड़ाने वाले देखते हैं, और ऐसा कोई नहीं, जिसका दिल तेरे काले अलकों में न उलझा हो। मेरे ये खुगली खाने वाले आँसू क्यों न लाल रङ्ग के होकर निकलें ? दूसरों के रहस्य को खोलने वाली सदा लज्जित होती ही है। ऐ मिठास के सोते, तेरे मीठे ओठों की स्पृश में सभी प्रकार की शक़रें पानी में डूब चुकीं।'

और 'जामी' का भी वही रङ्ग है :

'दिल का अस्तित्व प्रेमी को जलन में ही है। और प्राण का तिर प्रणयी के चरणों पर पड़ा हुआ है। जब तक दिल किसी के अधिकार में नहीं चला

को एक ओर तद्रूप, तद्गभूत माना गया है, दूसरी ओर विश्वात्मा के सम्मुख मानवात्मा अपने अज्ञान का भान करती है (स्पिनोज़ा के 'डाक्ट्रा इण्डीरिटा' की भाँति)। रहस्यवाद का पहला रूप नीत्योपरि (नानपृथिकल) है, तो दूसरा नीतिवद् या नैतिक। भारतीय रहस्यवाद में, श्वाइट्ज़र के कथनानुसार जगज्जीवन स्वीकार तथा जगज्जीवन नकार या प्रवृत्ति और निवृत्ति का संघर्ष है। एक ओर तो ज्ञान को, सांसारिक अनुभवों को त्यागने का उपवेश होता है (मुसल्ला फोड, तसबीह तोड कितारें डाल पानी में—), दूसरी ओर विश्वात्मा को एक प्रकार की सृजनशील प्रवृत्ति माना है, जिसका निरूपण भगवद्गीता, फिख्टे और रवीन्द्रनाथ ठाकुर में एक सा मिलता है। 'सा तपस तपस्व सर्वम् असृजत यद्विदम् किंच' अर्थात् परमेश्वर ने यह सब कुछ जो है, वह अपने ताप (दुःख) के उत्ताप से निमित्त किया। प्रश्न हो सकता है कि परमेश्वर को यह दुःख हुआ क्यों ? इस प्रकार चर्चा कर श्वाइट्ज़र भारतीय रहस्यवाद के कुछ प्रमुख भिद्धान्तों का संक्षेप में निरूपण करता है

१ निवृत्ति २ कर्म से अकर्म की प्रधानता ३ अनन्त आत्मा से सक्रिय संयोग ४ आदिमाया या सृष्टि की आदिशक्ति एक अनचूक्ष पहेली है ५ नीति अनैति से परे रहने की आवश्यकता। श्वाइट्ज़र ने शका उपस्थिति की है कि ज्ञान तथा अनुभूति के क्षेत्र को छोड़कर केवल कर्म या योग द्वारा ही अनन्त आत्मा से महामिलन कैसे सम्भव है ?

इस विषय में महश्चपूर्ण सम्मति है कुमारी एवलिन अडरहिल की, जिसने रहस्यवाद पर एक-स्वतंत्र ग्रंथ ही लिखा है। रहस्यवाद तथा कला का सम्बन्ध बताते हुए यह कहती हैं—'बहुत थोड़े लोग ऐसे हैं, जो इस रहस्यानुभव की झलक अपने जीवन में पाते हैं। जो पुरुष प्रेम का शिकार होता है और यह अनुबोध उसमें जागता है कि इस लड़की नामक सच्चा से अभिवेय व्यक्ति में एक अचर्णनीय, अनिर्वचनीय वास्तविकता निहित है, अथवा वह कवि जो प्रकृति में एक अननुभूत आभा के दर्शन करने लगता है, जो इस धावापृथ्वी पर अलौकिक रूप से फैली है, अथवा वह जो अरूप की चिन्तना करता है और जो सच्चा साक्षात्कार से हृदय परिवर्तन अनुभव करता है, हम सभी ने एक क्षण के लिये क्यों न सही, इस जगद्गुरुरहस्य को जान लिया। कलाओं में यही 'इन्ड्यूशन' (प्रज्ञा) अभिव्यक्त है, बल्कि

कहता था चित्रकला संगीत, काव्य सब इन्हीं अमर भावों में रहते और उ हूँ में रमते हैं। कला आभास और वास्तविकता के बीच की कड़ी है। रहस्यवाद इसी दृष्टि से कलाओं की कला है। प्रतीक वह आवरण है, जो आध्यात्मिक आशय व्यक्त करने के लिये भौतिक सतह से उधार लेना पड़ता है, एक कलाभिव्यंजना है। उसे अक्षरशः न लेते हुए, उसके व्यंग्य और ध्वन्य पर ध्यान देना चाहिये। इस कारण जो व्यक्ति यह समझते हैं कि सतत कैथरिन या सत मेरेसा के 'आध्यात्मिक परिणय' के भीतर एक प्रकार की विकृत यौनलालसा निद्यमान है, या जो पवित्र हृदय के स्वप्न को इस प्रकार का असंभव शारीरिक अनुभव मानते हैं या तो सूफियों के देवी नशे को निरा मतवालापन समझते हैं, या वे कला के तत्र सम्बन्धी अपने अज्ञान का प्रदर्शन करते हैं।

ए० सी० बोके के तुलनात्मक धर्म में ग्यारहवाँ अध्याय रहस्यवाद के सम्बन्ध में है जिसमें ईसाई, मुस्लिम, हिन्दू, बौद्ध सभी रहस्यवादियों की भिन्न प्रवृत्तियाँ प्रधान या सर्वसामान्य मानी गयी हैं—

१ सब विभेद या अलगवाव झूठा है। ससार अमेदात्मक है।

२ पाप झूठा है। पाप ससार के किमी अश विशेष को स्वाधीन मान लेने के कारण है।

३ काल भी झूठा है। सत्य या वास्तविकता शाश्वत है, वह फ़ालातीत है। बोके पेटेटी और अगस्त्यीन के रहस्यवाद को हिन्दू उपनिषद्‌ों से प्रभावित मानता है। प्रावलकने 'स्यूडो डायोनिशियस' ग्रन्थ का आधार ईसाई चिंतकों के क्षेत्र से बाहर का है। उसमें सुषुप्ति तक का उल्लेख है। गज़ाली ने इसी ग्रन्थ के निम्न तत्वों को अपन आपस में मिला लिया है (१) परमात्मा अकेला है। वही सब चीजों में है, सब चीजें उसी में हैं। (२) उसी से सब चीजें निकली हैं। उससे ऊपर उनका मूल्य नहीं। (३) धर्ममात्र व्यर्थ है। वे सिर्फ पथ हैं। (उनमें इस्लाम सबसे लाभदायक और इसमें सूफीमत सच्चा फिरसूफ है।) (४) पाप पुण्य में कोई अन्तर नहीं। क्योंकि परमात्मा ही सबका बनाने वाला है। (५) परमात्मा ही मनुष्य की इच्छा शक्ति का प्रणेता है। अत मनुष्य अपने कर्मों में स्वतंत्र नहीं। (६) आत्मा शरीर से पहले थी। शरीर पिंजरा है, आत्मा उसमें तोते की तरह बद्ध है।

मृत्यु काव्य है, इसी मार्ग से पिंजर द्वार खुल जाते हैं सूफी की आत्मा अपने 'नशोमन' में लौट जाती है। (७) परमात्मा की दया के बिना कोई भी इस आध्यात्मिक महामिलन को प्राप्त नहीं कर सकता, हाँ हादिक प्रार्थना से वह दया प्राप्त की जा सकती है। (८) सूफी का प्रधान कर्तव्य है इस परमात्मा संयोग का चिंतन करना। परमात्मा के विभिन्न रूपों का ध्यान, नामा की स्मृति करना और 'तारिकत' (जीवन यात्रा) में उत्तरोत्तर बढ़ना।

हमारे यहाँ तान्त्रिकों ने भी यह जीवन यात्रा पंचमकार से विभूषित कर डाली थी। महानिर्वाण तन्त्र के दशम पटल में मेथुन के सम्बन्ध में कहा है कि 'जो वह करता है, वह मैं (शिव) ही हूँ।' ध्यान रहे शिव सदाशिव हैं, अर्थात् हमेशा अच्छे, पाप पुण्य से परे।

उपर्युक्त चर्चा से सिद्ध हो गया कि रहस्यवाद की एक तर्कसम्मत निश्चित परिभाषा नहीं है। सभी रहस्यवादी विचार धाराएँ स्थूल का आधार आवश्यक समझती हैं, जैसे तैराक एक फ्लोटबोर्ड का सहारा लेता है। चाहे बाद में वह स्थूल से छोड़ दें, पर तु उस प्रतीक सकेत आदि रूपां में उसी की ओर बार बार ध्यान जाता जरूर है। जलबीच रहकर भी किनारे का ध्यान छूटता नहीं। रहस्यवादी की अवस्था एक प्रणयी के समान है दोनों आतं है, दोनों की शाश्वत टोह चल रही है। कोई दिलवर को अपने अन्दर ढूँढने में मग्न है (नारसिसिअम—स्वरस्यात्मकता), कोई दिलवर को पुरुष रूप मानकर 'हमारे राजा राम भरतार' का गान कर रहा है, कोई सनम को माशूक मानकर स्वयम् मन्सूर और मजनु बन रहा है। कोई परमपिता परमात्मा या आदि जननी के आगे 'हम बालक' कहकर 'यूडिपस कारप्लेक्स' का शिकार बन रहा है। काम के विविध रूपां से भागने की, उसे अवरुद्ध करने की छुटपटाहट सर्वत्र है, और जितना ही उसे निरुद्ध करने की कोशिश की जाती है, उतना ही वह गहरा पैठता है। 'न प्रतीक बिना हि स' प्रतीक के बिना 'वह' नहीं।

रहस्यवाद की चर्चा में कला का प्रसंग भी छिड़ा है। उसी में से आगे अश्लीलता का प्रश्न भी उद्भूत होता है। फ्रायड ने धर्म और कला दोनों को यौन प्रवृत्ति के स्थानान्तरिकरण का एक स्वरूप माना है। डा ई फ्रेड्ज़मेर अपनी 'शरीर और चरित्र' नामक मनोवैज्ञानिक मीमांसा में पृष्ठ ३८४ पर

कहते हैं कि 'श्रिज्ञोफ्रेनिया और डेमेन्शिया प्रीकाक्स (मानसिक विकृतियों) के शरीर को यदि फिर औसत आदमी की हालत में सुधार कर लाना हो तो मझली अवस्था में वह एक अभिनेता या गायक होगा—आत्म प्रदर्शन की लालसा अभी इस अवस्था में भी उसे बहुत प्रोत्साहित करती है। वह एक भविष्यवादी चित्रकार, एक अभिव्यञ्जनावादी कवि, अथवा एक अध्यात्मचिन्ता करने वाला रहस्यवादी भी बन सकता है।' मेरे कथन का यह अर्थ कदापि नहीं कि मैंने जो मर्मी या सन्त कवि ऊपर उद्धृत किये, वे सब के सब मानसिक रुग्णता से पीड़ित थे, परन्तु इतना अवश्य है कि फ्रायड की कलाकृति के निर्माण के पहले की मानसिक अवस्था का विश्लेषण यदि मान्य किया जाय तो उन सत्तों अथवा सन्तों की उच्च कोटि की कलाकृतियों में—विशेषतः विप्रलम्भ शृङ्गार की यज्ञनाओं में—वर्जनाओं का, मानसिक सहर्षों का, अतर्ङ्ग-द्वों का अवश्य गहरा हाथ रहा होगा। 'चल चकई वा देश को जहँ रैन कभी नहि होय' कहने वाला कबीर या 'माधव अतरी नारी, अगना अतरी हरी,' कहकर रासक्रीड़ा वर्णन करने वाला गुजराती सतकवि भीम या मराठी हरिजन चौखोवाराय एक स्थान पर कहते हैं कि आंखों का सुन्दर जिस दृष्टि से देखने गया तो आंख ही उस सुन्दर के भीतर निकली। आंखों का सुन्दर आंखों से देखा, तो वही आप से आप ही आंख क्षिप गयी। (चोखा कहता है कि बड़ा आश्चर्य हुआ कि सुन्दर जो देखने गया तो आंख ही बिलम गयी)। इन उक्तियों के पीछे किसी भी प्रकार की 'कशिश', बासना और प्रेम की रस्साकशी उपस्थित नहीं थी, यह कहना जान बूझकर सत्य को ढाँकने का यत्न करने के समान है।

'कवि तथा दिवास्वप्न' की चर्चा में फ्रायड कवि की चञ्चे के साथ तुलना करता है। दोनों एक प्रकार के धरौंदे की दुनिया में विश्वास करते हैं। कवि एक अघास्तविक जगत की शरण लेता है, जो कि शिशु क्रीडा का ही एक परिवर्द्धित रूपमात्र है। कवि और चञ्चे, दोनों अपने अपने अवचेतन मन में गहरा रस लेते रहते हैं। जागे चलकर फ्रायड कलाकार, मानसिक रोगी तथा आदिम असभ्य मानवों की तुलना करके कहते हैं—'हमारी सभ्यता में अब केवल कला के क्षेत्र में, भावा का सार्वदेशीय आधिपत्य प्रस्तुत है। कला में ही एक व्यक्ति अपनी काव्यनिक हृदयों से उत्प्रेरित हो कर, उसी में तप गल कर, कुछ

ऐसी बात, निमित्त करता है जिससे उसकी इच्छाएँ परिवृत्त होती हैं, और उसी कलात्मक आभास का परिणाम कुछ ऐसा होता है कि मानों वास्तविकता से कल्पना में से यथार्थ जगता है। यह कला का जादू है। वह 'अभाव' में से 'सत्' निमित्त कर देता है।'

फ्रायड जिसे यौन वृत्ति का आस्थि तक निरोध तथा मार्गान्तरीकरण कहता है, उसी को युद्ध ने कहा है, परिणामों का एक साथ विस्फोट, जो कि कलाकारों में कलात्मक अभिव्यञ्जना का स्रोत होता है।

फ्रायड के अनुसार धर्म का मूल असहिष्णुता है। ईसाईमत प्रेम का प्रचार करता है, परन्तु वह प्रेम एक प्रकार की नकारात्मक घृणा ही है। आज यदि यह असहिष्णुता धर्मयुद्धों के जमानों से कम दिखाई देती है तो वह इसलिए नहीं कि मनुष्य स्वभाव बदलकर कोमलतर हो गया है, परन्तु इसलिए कि धर्म के मूल में जो जीवोत्प्लव विषयक बधन थे वे शिथिल हो गये हैं। यदि धार्मिक 'लिविडो' का स्थान समाजवादी 'लिविडो' ने लिया, तो समाजवादी विरोधियों के साथ वही बर्बर असहिष्णुता दिखाई जायगी। फ्रायड ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि प्रेम भावना का जड़ीकरण यौन प्रवृत्ति की वर्जना से उत्पन्न होता है। यही जन्म सामूहिक रूप ग्रहण करता है तो, आदिम मानव का 'टोटैमिज़्म' (धार्मिक रूप से हत्या फूक कर रोग से मुक्त करना आदि) कहा जा सकता है। अविकसित और अपरिपक्व प्रसुप्त इच्छाएँ एक ओर और दूसरी ओर अहम् में सम्मिलित प्रवृत्तियों के बीच जो संघर्ष उत्पन्न होता है, उसी 'यूरोसिस' (मानसिक विजड्डीकरण) में से सैकड़ों आत्म अनात्म संघर्ष उत्पन्न होते हैं। धर्म भी उन्हीं में से एक है। एक स्थान पर फ्रायड ने स्पष्ट कहा है —

“धर्म के मूल में एक प्रकार की मातृ पितृ मूलक प्रेम की शिशु वृत्ति है।” फ्रायड इस प्रेम को भी 'काम' के अन्तर्गत मानता है। आत्मा स्वयं के संघर्ष में जो सोचती है और अपना आदर्श जो उसने कायम कर लिया है, उस उपरि अहम् के और मालिक अहम् के बीच संघर्ष होकर अपने आपको पराजित मानकर, अपनी व्यर्थता मानने लगती है। इसी भावना में धर्म का बीज निहित है। धर्म, नैतिकता और सामाजिक भावना आरम्भ में एक ही

है। एच० जी० वेल्स ने अपने विश्व इतिहास में लिखा है कि पाषाण युग के मनुष्यों की कृतियों में धार्मिक या रहस्यवादी प्रतीक नहीं पाये जाते।

मनुष्य के भारी जीवन में स्वर्ग के उपहार की कामना एक प्रकार के स्वेच्छा से या बलात् सामारिक सुखों के त्याग, वासना के निरोध के कार्पनिक मानसिक प्रक्षेपण मात्र है। धर्मों ने वासनाओं का, सामारिक लृष्णाओं का सम्पूर्ण त्याग कभी नहीं किया—उल्टे उ हैं आगामी जीवन के लिए सुरक्षित रखा—बीमे के विज्ञापनों की तरह (हत्या वा प्राण्यमे स्वर्गम्)। क्या हम सत् कवियों की कलाकृतियों को भी इसी श्रेणी में ला सकते हैं? मित्रा ने अपने 'प्रीहिस्टारिक इण्डिया में एक जगह कहा है कि 'कला सम्भ्रता से पूर्व की वृत्ति है। वह अनुकृति नहीं, न वह सीखा हुआ कौशल है। वह तो धर्म के समान ही प्राथमिक वृत्ति है। कदाचित् भाषा के समान। कला मानव जीवन के अस्तित्व के आरम्भ के साथ ही उपस्थित है। अब उस निरुद्ध काम को आप मार्गांतरीकृत सानते हों या परिशोधित-सन्तों के उदाहरण में यह सिर्फ शब्दों का हेर फेर है। जेन्मवर्ग अपने 'समाज शास्त्र' में कहा है—मूल प्रवृत्तियाँ निरुद्ध होती हैं, या उत्तोलित (सबिलमंटेड) या उन्हें खुलकर खेलने का मोका दिया जाता है, यह बहुत कुछ उस व्यक्ति के कुटुम्ब जीवन, पारिवारिक परिस्थितियाँ और जिस काल में वह हुआ है, उसके सामाजिक संगठन पर निर्भर है।'

निर्गुण सन्तों का आधिभावकाल और ईरान में सूफियों का निर्माणकाल कबीलेवाली स्थिति से सामन्ती स्थिति में परिवर्तन का काल था। सामान्यजनों के जीवन में गत्यवरोध था। वेदान्त या रूखा दर्शन धर्म का गला घोट रहा था, उसकी प्रतिक्रिया भी अवश्यम्भावी थी। सन्तों के या समियों के व्यक्तिगत यौनजीवन भी निवृत्ति पर अत्यधिक आप्रह रखने के कारण अवृत्त, अपरिपूर्ण थे। उन सबका प्रतिबिम्ब उनकी रचनाओं में हुआ है। उनमें काम से भागने का जितना ही चल है, उतनी ही उसमें इन्द्रियानुभूति का अज्ञात, अन्यक्त जकड़न या पीछे खींचनेवाली प्रवृत्ति है।

अतः, अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करना चाहता हूँ। मर्मों कवियों की विरह व्यंजना के प्रसंग में रहस्यवाद, कला तथा धर्म सम्बन्धी फ्रायड के मत की विवेचना ऊपर की जा चुकी है :

- १ मर्मा कवियों को भसाधारण मानव नहीं मानना चाहिये। हमारे आपके समान ही वे हाड़ मांस के जीव हैं। उनमें भी काम वासनाएँ रही होंगी।
- २ रहस्यवाद एक मृग मरीचिका की भाँति शब्द होने से उ-ह रहस्यवादी धार्मिक सन्त कहलाने वालों को भी उन कलाकारों के समकक्ष रखना चाहिए, जो अपने काल्पनिक जगत से स्वप्न परिपूति किया करते हैं।
- ३ उच्च कला, उच्च वासना और उत्कट अनुभूति के बिना निमित्त नहीं होती। वह उत्कट अनुभूति कभी भी निरी मानसिक नहीं होती, उसमें मन, शरीर समूचे प्राण और व्यक्तित्व का योग होता है। अभिव्यञ्जना वहा आत्मदान की पीड़ा से असपृक्त होती है।
- ४ चूँकि मर्मा कवि उच्च कलाकार भी हैं। उनकी रचनाओं का पीछे भी वह उत्कट अभिव्यक्ति की पीड़ा रही है, इसी से उनकी रचनाएँ जनप्रिय हुईं।
- ५ यह पीड़ा जैसे कुछ लोग मानते हैं, कवल 'प्रमा' या इन्ट्रयूशन से नहीं पैदा होती उसके पीछे अतः सचर्प आवश्यक है। प्रबल सामाजिक (या उसीके कारण वैयक्तिक) असन्तोष तथा उससे समाज को बदल डालने की भावना कला सृजन के मूल में काम करती है।
- ६ सत्ता के दर्शन में समस्त कर्म ईश्वर प्रेरित या नियति आश्रित (डिटरमिनिस्टिक) है, यह पीड़ा एक व्यक्ति म धन का रूप लेती है। जैसे पानी चारों ओर से टकराकर एक भवर में पड़ जाय। 'मेरा ही कुछ दोष रहा होगा'—'हाँ पतितन को नाथक,' 'मैं सम कौन कुटिल खल कामी।'
- ७ इस प्रकार के आत्म दोष दर्शन या स्वीकृति ने भी उच्च कोटि का साहित्य विश्व को दिया है (रूसो, बाइबल, टालस्टाय, गांधी)। सन्तों में भी यही आत्म निपीड़क वृत्ति काम करती है।
- ८ इन वृत्तियों में यौन वर्जनाओं, यौन जीवन के अस-तुलन, अपरिपूर्ण काम का भी योगदान है। फ्रायड ने धर्म और कला का मूल भी उसी प्रवृत्ति निरोध को माना है। उस निरोध से मार्गा तरीकरण होता है या उसका उचोहन यह प्रश्न यहाँ विचारणीय नहीं, क्योंकि वह परिणाम से जाँचा जाएगा। वह कमीटी वस्तुनिष्ठ है।

- ९ अतः सभी कवियों में एक विलक्षण आत्मरति और तज्जय स्वयम् से भागने की वृत्ति भी दिखायी देती है। उनका विरह भी उसी आरम्भ पूर्ति का एक विराट् प्रयत्न मात्र है। तब की जनता भी ऐसे विराट् समाधान की खोज में थी, अतः वे कवि और उनकी उक्तियाँ जनप्रिय हुईं।
- १० इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में न मर्मियाँ पर कोई आरोप है, न कोई सन्दर्भ से कटा निरा बौद्धिक विश्लेषण। आवश्यकता यह है कि कला कृति की परख करते समय कलाकर का हम उतना ही निदश करें, जितना आवश्यक है। सन्दर्भ से अधिक स्रष्टा का ध्यान हमें पूर्व ग्रहणित कर देना है।

अध्याय ३

परवर्ती काव्य पर इस विचारधारा का प्रभाव

समर्थ रामदास जैसे भोजरूपी, आशावादी, गवृत्तिपरक कवि पर भी इस निवृत्ति प्रधान निराशावाद का 'सावट' (साया) पड़े बिना नहीं रहा। जैसे कि 'दासबोध' के (३, १, १-५) इस अंश से स्पष्ट है—

ज म हु खाचा अकुर । जन्म शोकाचा सागर ।
ज म भयाचा डोंगर । चलेना ऐसा ॥
जन्म कर्माची आटणी । जन्म पातकाची खाणी ।
ज म काळाची चाचणी । नित्य नयी ॥
जन्म कुविद्येचें फल । जन्म लोभाचें कमल ।
ज म भ्रांतीच पडळ । ज्ञानहीन ॥
ज म सुखाचा विसर । जन्म चिंतेचा आगर ।
जन्म वासना विस्तार । विस्तारला ॥

अर्थात् ज म दु खों का अकुर है, जन्म शोक का सागर है। जन्म भय का पर्वत है। वह अच्छल है। जन्म कर्म का सूख जाना है। ज म पातका की खान है। जन्म काल का अयाय है, नित्य नया। जन्म कुविद्या का फल है। ज म लोभ का कमल है। जन्म भ्रान्ति का पटल है, जो ज्ञानहीन है। ज म सुख की विस्मृति है। ज म चिन्ता का आगर है। जन्म वासना विस्तार है, जो फैला है।

रगनाथ मोगरेकर की चित्सदानन्दलहरी नामक गीता पर ११,००० ओंकी की टीका है और शकराचार्य के सोपान पत्रक पर २,००० ओंकी की टीका है। उसकी रचना का एह अंश इस प्रभाव को स्पष्ट करेगा।—

सकळ जनामध्ये आहे । आणि ब्रह्मावेगळें दुजें न पाहे ।
तो सर्वदा एकातीच आहे । परमानन्द भोगी ॥ १३६१ ॥
शुद्ध वस्तुच्या ठाई । कर्तृत्व भोक्तृत्व कौंचें काई ?
तो सर्वदा अधिकारी पाही । निर्गुणपणें ॥ १४२३ ॥

और उस कवि ने सद्गुरु को 'आराध्यलिंग' कहा है ।

हिंदी निर्गुण सत्ता में यह प्रभाव ज्यादा समय तक टिका हुआ नहीं जान पड़ता । क्योंकि सगुण काव्यधारा का बहुत मीठा और बेगवान प्रवाह उसे पूरी तरह विनष्ट करने में लगे आगे आया । यद्यपि तुलसीदास जैसे कवियों में भी कहीं कहीं यह प्रभाव स्पष्ट है, जैसे हम पहले बता चुके हैं । मीरा ने भी 'सुभ्रमहल में सुरत सेज' की चर्चा की है । परन्तु निर्गुणिय कजरी, रसिया आदि लोकगीतों में पहुँच गये । शिष्ट काव्य अधिक मूर्ति अनुगामी बना ।

मराठी कवियों में सगुणोपासकों में भी निर्गुण का सूक्ष्म प्रतीक निर्वाह बराबर मिलता है । यथा माधवदास ने एक गीता की टीका लिखी, जिममें गीता पर पूरा अध्यात्मपरक रूपक उसने रचा ।

क्रुण नह्ने तो आत्माचि कण्ठ । तत्साधना सहाय सर्प काळ ।

एव हे कौरव पांडव सकल । नाद्वती स्थूलदेहीं हस्तिनापुरी ॥

यानी उसके अनुसार कौरव मोहमन्तति या विकार हे पांडव सत्स्वम तति या सत्साधनभाव । अनराष्ट्र मोह हे । सञ्जय विवक है । याम सद्गुरु । दुर्योधन अहङ्कार । कुरुक्षेत्र लिङ्ग दह है । वराग्यभूमिका पर पांडव और विषय भूमिका पर कौरव रहते हैं । यह सत् आध्यात्मिक अध्यवसित रूपक उसी प्रभाव के द्योतक है । यहाँ तक कि तुकाराम ने भी लिखा

नाहीं रूप, नाही नाव । नाही ठाव धराया ।

जेथे जावें तेथें आहे । विट्ठल मायबहीण ।

नाही आकार विकार । चराचर भरले स ।

नह्ने निर्गुण सगुण । जाणे कोण तयासी ।

तुका ह्याणे भावाविण । त्याचे मन बोलेना ।

अर्थात् न रूप, न नाम । न ठिकाना है । जहाँ जायँ वहाँ विट्ठल माता बहिन के समान है । न आकार है न विकार । चराचर उससे भरा है । न निर्गुण न सगुण । उसे कौन जाने ? तुका कहता है, भाव के बिना उसका मन नहीं झुकता ।

इसी प्रभाव का एक स्पष्ट लक्षण यह भी है कि ज्ञानेश्वर, एकनाथ और रामदास के पञ्चक प्रसिद्ध हो गये हैं । प्रत्येक कवि के साथ चार और उनके शिष्यों का समागम लगा है

ज्ञानेश्वर पञ्चायतन	निवृत्ति, ज्ञानेश्वर, सोपान, मुक्ताबाई, चाङ्गदेव ।
एकनाथ पञ्चायतन	एकाजनाईदन, रामाजनाईदन, जनीजनाईदन, विठा रेणुकान-दन, दासोप त ।
रामदास पञ्चायतन	रामदास, रङ्गनाथस्वामी, जयरामस्वामी, केशवस्वामी, जानन्दमूर्ति ।

इन पञ्चायतनों में एक एक निकाय का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है । और फिर भी सबको बाँधने वाला वैचारिक समानता का एक सूक्ष्म सूत्र बराबर बना रहा है । यहाँ तक कि भाषा शैली तक सं भी साम्य है ।

च्यवनराज एकनाथ का समकालीन कवि था । अपने कालबोध में उसने प्रणव का स्वरूप, पञ्चीकरण, सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय, देह की उत्पत्ति, षट्चक्रविवरण, अष्टदेह निरसन, जीवब्रह्मैक्य प्रतिपादन, अष्टाङ्गयोग, माया अविद्यालक्षण, ब्रह्मचतुष्टय, ब्रह्मसाक्षात्कार की चर्चा की है ।

शं० बा० जोशी के अनुसार दत्त सम्प्रदाय में दत्त के साथ जो कुत्ते हैं (जिन्हें वेदा का प्रतीक सर्व साधारण जन मानते हैं) वे किसी आर्य द्राविड़ संस्कृति सगम की उपज हैं । महारी मार्तण्ड की मूर्ति के पास ऐसे कुत्ते रहते हैं । 'गुरमार्ग अथवा नाथसम्प्रदाय की दक्षिणापथ में अनुर्गुज' नामक लेख में वे प्रतिपादित करते हैं कि कुत्ते बनकर वेद जिसका ज्ञायानुसरण करे, वह 'अवधू' कोई और है । 'नवनाथभक्तिसार' ग्रन्थ के अनुसार मत्स्येन्द्र गोरक्ष को दत्त साक्षात्कार हुआ था । सन् १४२७ में रचे 'नवनाथ चरित्रम्' नामक लेखु ग्रन्थ में शैव सम्प्रदायी नाथों की परम्परा में 'स्याद्वादी गोरक्षनाथ' कहा गया है । 'नाथ' तो जैनों का पारम्परिक शब्द है । 'दिगम्बर' भी जैन पन्थ है । योगमार्गीय यतिसम्प्रदाय वेदपूर्वकालीन होगा, ऐसा रामाप्रसाद चन्दा ने मोहेंजोदारों पर लिखे अपने एक लेख में कहा है ।^१ अत्रि नामक किसी पुरुष ने यह आत्रेय दत्त देवता स्थापित की । उसमें वैदिक, जैन, बौद्ध परम्पराओं का त्रिमुख सगम है । नाथपथ सर्वसम्प्राहक था । दत्त की माता असूयाविरहिता थी । दत्तभक्त मुसलमान कई मिलते हैं । बाबा बुडण

1 The later Vedic literature repeatedly refers to a legend which shows that the Yatis incurred the hostility of India and were destroyed as a consequence. The Yatis were not originally priests of the

गिरी (मैसूर) दत्तत्रेय है और वहा हिन्दू मुस्लिम दोनों जाते हैं। इस अवधूत निरञ्जन दिगम्बर दत्त पथ में जात पाँत का भेद नहीं है। वैदिक परम्परा में नीच जाति का गुरु नहीं हो सकता था। परन्तु सतमार्ग में किसी भी जाति का गुरु हो सकता था। तुकाराम के सोलह शिष्यों में से नौ ब्राह्मण थे।

सर्वमत सम्राहक सत ज्ञानेश्वर ने द्वैत अद्वैत को भी एकाकार बनाया। विठ्ठल ने सिर पर शिवलिंग धारण किया। 'हरिहर' सयुक्त देवता का प्रचार भी ज्ञानेश्वर ने किया। जातिभेद भूलकर चारकरी एक ही पठरपुर की ओर चले। यहाँ तक कि भानुदास (१४४८-१५१२ ई०) के समकालीन श्रीवादि राजस्वामी नामक कर्नाटक की माध्व यति ने 'तीर्थप्रबन्ध' नामक संस्कृत ग्रंथ में 'तुगातीरगतोसि विठ्ठल' की स्तुति की है। और दो सौ वर्ष पुराने 'श्रीद्विठ्ठल' नामक कन्नड़ हरिभक्त के एक पद में कहा है, मिथ्यावादी लोगों ने तेरे आसपास घेरा ढालकर, रो धोकर जो नाटक किया है वह देखना असह्य हुआ और तू चोर की तरह ब्राह्मणों पर कृपा करने इधर चला आया क्या, हे विठ्ठल।' मूल पद इस प्रकार है

एनिदु कौतुक्यु विठ्ठला एनिदु कौतुक्यु ।

नीनिस्त्रिगेके वद्या विठ्ठला । एनिदु कौतुक्यु ॥ बु० ॥

मध्वद्वेषिगळु माडुव पद्धति यनु कह्नु ।

Vedic cult like the Bhrigus and Kanwas but non Vedic rites were practised by the indigenous pre Aryan population of the Indus Valley. In the legend of the slaughter of the Yatis by Indra we probably hear an echo of the conflict between native priesthood and the intruding Rishis in the proto-historic period. As applied to a priest etymologically Yati can only mean a person engaged in religious exercise such as tapas, austerities and yoga. Von Schroeder understands by the term a magician priest or a Shraman. The marble statue of Mohenjodaro with head, neck and body quite erect and half shut eyes fixed on the tip of the nose, has the exact posture of one engaged in practising Yoga. These Yatis were primarily magicians. So as Vedic religion became more and more popular, the Yatis receded into the background and were gradually reduced to the condition of the out-caste religious mendicants or Viatyas."

—Memoirs of the Archaeological Survey of India, No 41 of 1929
Survival of the pre-historic civilization of the Indus Valley

हृद्यवागदे कदकल्लनन्ते यद्विह्विगे वद्या ॥

विट्टला एनिदु कौतुकवु ॥

मिथ्यावादीगळु निरंतर सुत्तिमुत्तिकोंडु ।

जतुकरेदु कुगुतिरे बदल बेरत्तु दोरट्ट वद्या ॥

विट्टल एनिदु कौतुकवु ।

श्रीदविट्टल निम्नसद्गुण वेदशास्त्रगळलि ।

शोभिसी नोडलु भूदेचरिगोत्तिदादरिम वद्या ।

विट्टल एनिदु कौतुकवु ।

रामदास काल में आकर 'देव जाले उदण्ड । देवाचें माजले मण्ड । भूताद बताश्चें थोताण्ड ।' कहकर मुरथ देवता कौनसा है, यह पता नहीं चलता । मतवादी का कोलाहल मचा है । कई तरह के मार्ग निकल आये हैं एक नदी के पेट में काले शालिग्राम हैं, नर्मदा के जल में गणेश हैं, काश्मीर में स्फटिक पूजा है, जनावरों के सींग, लिङ्ग, बनसूकर के वेश, हिरन व्याघ्र के चर्म का पूजा में बड़ा माहात्म्य है । कई किरम के देव हैं इससे तो निर्गुण देवता अच्छा ऐसा समर्थ ने कहा है

मातीचे देव घोंड्याचे देव । सोन्याचे देव रुप्याचे देव ।

काशाचे देव पितलेचे देव । ता याचे देव चित्र लेपे ॥ १ ॥

हविच्या लाकडाचे देव पोवळचें देव । बाण तादले नर्मदे देव ।

शालिग्राम कारिमरी देव । सूर्यकांत सोमकान्त ॥ २ ॥

ताम्ब्रनाणी हेमनाणी । कोणी पूजिती देवार्चनी ।

चकाङ्गीत चक्रतीर्थाहुनी । पेऊन येती ॥ ३ ॥

उदण्ड उपासनेचे भेद । किती करावे विशद ।

आपुलाले जावडीचा वेध । लागला जर्नी ॥ ४ ॥

मुळीं द्रष्टा देव तो येक । त्याचे जाहाले अनेक ।

समजोन पाहाता विवेक । उपजा लागे ॥ ६ ॥ (१९, ५६)

इस प्रकार से निर्गुण सत्ता की परम्परा बहुत दूर तक चलती आ रही है । गांधीजी तक हमें उसकी प्रतिध्वनि मिलेगी । किन्तु उसका प्रचलन सगुणोपासना की बड़ी धारा के सामने कम होता गया ।

अध्याय ४

निर्गुण कविता के अप्रचलन के कारण

सामान्यतः निर्गुण कविता के हास के कारण ऐतिहासिक यानी राजनीतिक बताये जाते हैं। मुस्लिम आक्रमण के पश्चात् मगुणोपासना की ओर जनता का ध्यान उड़ा और भक्ति द्वारा उ-हाने अपने दुःख भुलाये, ऐसा सामान्य विश्वास है। परन्तु निर्गुण काव्य के नष्ट होने के बीज स्वयं उसीमें मौजूद थे। उसमें ससार विमुखता, वैराग्य, सब चीजों को क्षणभंगुर मानने की वृत्ति बहुत प्रबल थी। 'एका उदाचा निकाल' नामक लेख में श्री म० साठे ने 'मनोहर' (मराठी, मासिक, अक्टूबर १९४९) में इस बात के प्रमाण जुटाये हैं और बताया है कि प्रायः सभी स त हूँसी नकारात्मक ढग से सोचते थे। परिणाम जो होता, वह स्पष्ट है। वे उदाहरण इस प्रकार से हैं

नामदेव

पुत्रकलत्रबधू सांगाली देहाचे
मज बांधिलें मोहाचे वज्रपाशीं
ससार करिता देव जै सापडे
तरी का झालेडे सनकादिक ?
ससारीं असतां जरि भेटता
शुकदेव कासया जाता तयालागी ?
जळी बुडवडें देखता देखता
क्षण न लागतां दिसेनाती
तैसा हा ससार पहाता पहातां
अतकाळीं होता काहीं नाही
जोवरी सम्पत्ति तोंवरी हे सखे
गेलियाते भुके सुणे जैसे

निवृत्ति

ससारभ्रमें भ्रमले हे जीव
नेणती हे भाव रोहिणीची

जाईल हा देह सरेल आयुष्य
 आपोआप भविष्य उभें राहे
 वेगें करा आधी रामनाम चिन्तना
 जव नाही पाहूणा काळ जाला

ज्ञानेश्वर

तापत्रय अग्निचा लागला चोणवा
 कवण रिधे आड कवण करी सावाधावा
 सत भेटती अजि मज । या सतासि भेटतां
 सरे ससाराची व्यथा
 मोलाचें आयुष्य दवडितोसी वाया
 माभ्यानिची छाय्या जाय वेग

जनाबाई

प्रपचीं जा रडे ब्रह्मचन र्यातें जडे

नरहरि सोनार

चितार्या चितरे काढे भिंतीवरी
 तैसें जग सारे आवधे है
 पोरेंहि खेळती शेवटीं मोडती
 डाकोनिया जाती आपुश्या घरा
 तैसे जन सारे करिती ससार
 मोहगुणे फार खरें म्हणतीं

चोखामेळा

कोण हे आवधे सुखाचे सगलि
 अ तकाळी भोती पाठमोरे
 चोखा म्हणे याचा न धरी भरवसा
 जाईल हा देह बाहुगाचि उगा
 अग्निची छाय्या जयापरी
 असार साराचे नका पळू घरीं
 सार तेंचि धरीं हरीनाम

कर्ममेळा

जें जें दिसे 'यापलें' तें तें फलकट
वायुगा वोभाट करोनि काहीं
नासे भवपीडा ससाराची

मोयराबाई

किती हें सुख मानिती ससारचें
काय हें सांचे मृगजळ
काय हे गुतले स्त्रीपुत्रधना
का ही वासना न सुटे याची

निर्मळाबाई

बहू हा उवग आला ससाराचा
तोडा फासा याचा मायबाप

एकनाथ

नाशवत धन नाशवत मान
नाशवत स्त्रीपुत्रादिक वालें
नाशवत बळे गळा पडति
एकचि शाश्वत हरीनाम
भावावलें जन ह्यणति माझेमाझे
खराचिये परि उकिरडा सेवीत
कासेयाची मूढा करिंसी ससार
पुढे तो अघोर थोर आहे
मरणाची भीति विसरूनि मूढ
बावगी कायाड प्रपचाचे
देहापेसैं बोघटे पृथ्वीमाजी नाहीं कोठें
बोघटे म्हणून त्या गावें मोक्षसुखार्थ नागवावें
मूळ नाशासी कारण कनक आणि स्त्री जाण
जो न गुते येथे मर्यथा त्याचा परमार्थ पुरता

तुकाराम

देह हें देवाचें धन कुबेराचें

तेथे मनुष्याचें काय आहे
 तुका म्हणे कारे नाशवतासाठी
 देवासवे भाटी पाडितोसी ?
 धन मिळवोनी कोटी । सवे न ये रे लगोटी
 का ह आवडलें मियापुत्रधन ।

काय कासा कोण कोणा आलें ?
 सुख पाहता जवापाढे ।

दु ख पर्वतापर्वटें ।
 प्रपचपरमार्थ सपादित दो-ही ।
 एकहि निदानी न घडे रथासी
 तुका ह्याणे तया दोहींकडे धका ।
 शेवटी तो नरकामाजी पडे

निलोवा

मवाळिधचें सखोल पाणी ।
 बुडाले प्राणी बहुसाल
 गुन्तली आशा पडली मोहजाल फासा
 येथे थेलनि केलें काई । विट्टल नाही आठविला
 नाही वेली सुटका काही । येचि प्रवाहीं पडिलासी

रामदास

ससार मिथ्या ऐसा कळला ।
 ज्ञान समजोन निघोन गेला
 तेणें जना पावन केला । आपण ऐसा
 ससार हाचि दीर्घ स्वप्न ।
 लोभें वोरुणती जन
 माझी काता माझें धन । कन्या पुत्र माझे
 सपनिंच्या सुखें सुखावला प्राणी
 थोर झाली हानी जागृत्तिसी
 मिथ्या सुखदु ख । स्वप्नाचा व्यवहार
 तैसा हा ससार । नाधिलाची

प्रपत्नी आणि परासुख ।

पावेन म्हणेल तो मूर्ख

जैसे परमाक्षें मिश्रित विख ।

सेविता मृत्यु पावे

धीमे धीमे ब्राह्मण जो कि वर्णाश्रम धर्म की इमारत का मूर्धन्य था, बहुत पतित होने लगा । उदाहरणार्थ 'गुरुचरित्र' (मन् १५५८ के करीब लिखा गया है) में स्पष्ट कहा है कि ब्राह्मण कर्मभ्रष्ट हुए हैं । भलेच्छों के आगे वेदबीज बोलते हैं । इसीलिए सत्य गया और सब मदमति हो गये हैं (२६, २२४) ।

कर्मभ्रष्ट झाले द्विज, भलेच्छापुढे बोलती वेदबीज ।

सत्य गेल आचि काज, मदमती झाले जाणाता ॥

महानुभावों में तो सूत्रों में स्पष्टतः वैराग्य का विवेचन करते हुए अपने स्वदेश और स्वजनों का त्याग सुझाया था

‘स्वदेश बन्धु त्याज्य स्वग्राम सम्बन्धु त्याज्य ।

सम्बन्धियाच्चा सम्बन्धु तो विशेषतां त्याज्य ॥’

(चक्रधर, सूत्रपाठ जा०-१)

और दूसरे महानुभावों में यह निवृत्ति प्रवृत्ति का अन्तर स्पष्ट होने लगा था ।

भास्कर पंडित के शिशुपाल वध ग्रंथ के सम्बन्ध में भावे व्यास ने कहा, ‘भयो हा प्रथु निका जाला परी नीवृत्ताजोगा नहेचि प्रवृत्ता जोगा जाला’

(भास्कर भट्ट घोरीकर, पृष्ठ-५३)

महानुभाव पथ के अधिक काल न टिकने का कारण उसकी पडिताऊ शैली भी है । निरा शब्द शिल्प कब तक चलेगा ?

‘महानुभावों की लेखनशैली लोकानुवर्ती (पाण्डुलर) नहीं, वह वेदाभ्यास सासजड (पैटेंटिक) है । काव्यप्रान्त में भी धर्मप्रचार की प्रेरणा की अपेक्षा कलाविलास की प्रवृत्ति बहुत बार अधिक महत्त्व पा गयी है ।’

(सरदार, पृष्ठ ३४-३५)

परिणाम यह हुआ कि पहले के सन्त श्रोताओं की विनती करते थे, उसके अवधान के लिए प्रार्थी थे । और बाद में ‘न पाहे श्रोतयाचे वदन’ (दासोपन्त) श्रोताओं का वदन नहीं देखना चाहिए । ऐसी भावना भा गई । शुरू से थोड़ा

बहुसं ज्ञानीजनोचित, पहुँचे हुए का अहकार तो था ही। ज्ञानेश्वर तक ने लिखा, 'करतळावरी वाटोळा। डोलत देखिजे बांधळा। तैसे ज्ञान आरहीं डोळा। दाविलें तुज ॥' (ज्ञानेश्वर १६, ६५१) करतल के भाँवले की तरह हमने तुझे ज्ञान दिखाया। बहामनी काल में सन्त साहित्य क्या पिछड़ा, इसकी कारणभीमांसा करते हुए इतिहासकारों का मत यह है कि मुस्लिम आक्रमण के कारण मराठा समाज इस प्रकार दिड्मूढ हुआ कि बाद में सौ बेड़ सौ वर्षों तक उसने 'सिर ऊपर नहीं उठाया। राजसत्ता का आधार छूट जाने से सामाजिक जीवन बँडा सकुचित बना। राधामाधव विलास चम्पू की प्रस्तावना में (पृष्ठ ४६) कहा गया है, 'दस पाँच हजार पाईक (पैदल) सेना पोसे या पाँच चार हजार 'बारगीर' पाले ऐली शक्ति का एक भी मराठा क्षत्रिय शक तेरह सौ से शक पन्द्रह सौ तक नहीं था। नामदेव के बाद सर्व साधारण जनता के मन जीत ले, ऐसा एक भी सन्त नहीं हुआ। जीर-पुहवों की परम्परा टूट गयी। धर्मास्वाह की ऊर्मियाँ में भाटा आते ही, काव्य-प्रेरणा भी जैसे कम होती गई।'।

एकनाथ के समय तक आकर यह सामान्यता जैसे नियम बन गयी। साधारणता ही आदर्श हो गया

गुहाश्रम न सांडितां, कर्मरेखा नोलाडिता।

निजव्यापारीं वर्तता, बोधू सर्वथा न मैले ॥

(एकनाथी भागवत, ९, ४३५)

और उच्चवर्ग की देववाणी संस्कृत के विषय में उसे पूछना पड़ा

संस्कृत वाणी देवें केली। तरी प्राकृत काय चोरापारोनी झाली ?

(एकनाथी भागवत, १, १२९)

एकनाथ के समय तक आकर बुधजन और सामान्य जनता की अभि-
रुचियों में भी स्पष्ट अंतर आ चुका था। एकनाथ के शब्दों में—

ज्ञानी निवती परमार्थ बोधे। पंडित निवती पदुधे।

लोक निवती कथा विनोदें। ग्रथ सम्व धे जग निवे ॥

(भावार्थ रामायण, चालकांड, १४-१८३)

निर्गुण धारा के छूट होने का एक और प्रधान कारण था पांथिक विशिष्टता। ज्ञान को गुप्त रखा, अलग तरह का आचारधर्म पालन, गद्दी,

लोकजीवन की बहती धारा में टूटकर भिन्न प्रकार की अजब निष्ठाएँ, परम्परा को पूरी तरह न मानना। कबीर ने अपने जीवन में जो एकता का मंत्र दिया, वह परवर्ता सत्ता ने जैसे भुला दिया। केवल उनकी बानी की पुनरावृत्ति कितने दिनों तक टिकी रह सकती है? महासुभावा ने सगळा ओर सुदरी लिपियाँ चलायीं, गानक ने 'गुरुमुखा'। अनुभूति जैसे कुछ थोड़े लोगों की 'मोनोपोली' बन गयी। और ज्ञान जब या कुन्द और उन्द हो गया, फेले से जब वह रुका तो जो अवश्यम्भावी परिणाम जीवशास्त्र में घटित होता है, वही हुआ यानी निर्गुण कान्यधारा की परम्परा टूट गयी। जैसे 'विचारेर स्रोत पथे' फैली हुई 'आचारेर मरु बालु राशि' में जाकर धीरे धीरे विलम गयी। निर्गुणकाव्य ने इस प्रकार साम्प्रदायिक नियमों से निज को जकड़ कर नष्ट कर लिया।

निर्गुण और मगुण के बीच सगर उपस्थित हुआ, कुछ समय के लिए सगुण जीत गया, क्योंकि जनसाधारण को अपनी भक्ति तथा उपासना का एक मूर्त आधार स्वाभाविक रूप से चाहिए ही था।



अध्याय ५

कुछ निष्कर्ष

साहित्यिक शोध प्रबन्ध के अन्त में वैज्ञानिक या गणित शास्त्रीय ढङ्ग के निष्कर्ष अपेक्षित नहीं होते। प्रबन्ध के विवेचन के प्रसङ्ग में प्रायः प्रत्येक अध्याय में मैंने नवीन सामग्री के सपुञ्जन से प्राप्त नवीन सम्बन्ध दृष्टि की उपलब्धि का उल्लेख कर ही दिया है। परन्तु फिर भी उन सब बातों की यहाँ एक साथ सार रूप में पुनरुक्ति अधिक उपयुक्त जानकर, इस अध्याय का शीर्षक 'कुछ निष्कर्ष' दिया है। कुल तीस अध्याय प्रबन्ध में हैं। इनके सार निष्कर्ष अध्याय के क्रमानुसार नीचे उपस्थित किये जाते हैं।

सन्त काव्य शब्द से प्रश्न उठता है कि काव्य का प्रयोजन क्या है और क्या सन्त काव्य काव्य की शास्त्रीय या साहित्येतिहास सम्मत परिभाषा में पूर्णतया आ सकता है? विविध भारतीय और पाश्चात्य समीक्षकों के काव्य विषयक मतों को उद्धृत करके यह सिद्ध किया गया है कि जहाँ पश्चिम में कवि के व्यक्तिगत भावोच्छ्वासों या सवेदनाओं की अभिव्यञ्जना पर बल दिया गया है, भारत में कवि के विश्वात्मक अनुभव तथा अखण्ड या समग्र दृष्टि को विशेष महत्त्व दिया गया है। अनेकत्व में एकत्व शोध के कारण कवि हमारे यहाँ केवल लोकानुवर्ती अनुकर्ता मात्र नहीं, किन्तु एक साथ द्रष्टा और स्रष्टा भी रहा है। यह तादस्थ्य और रस निमज्जन की दो परस्पर विरोधी जान पड़ने वाली स्थितियों का एक सा मानसिक निर्वाह भारत के प्राचीन कवि को दार्शनिक या मनीषी के निकट ले जाता है। यह अद्वैतानुभव ही वह मूल मिति है, जिसको भारतीय काव्य साहित्य का प्रथम सोपान या आरम्भ बिन्दु कह सकते हैं।

इस दृष्टि से भारत की विविध भाषाओं के साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन और इतिहास-लेखन की आवश्यकता है। विशेषतः जब हम विविध प्रदेशों में भारतीय मनोलोक का समठन तथा भारतीय चिन्ताधारा का विकास एक सा

पाते हैं, साहित्य के क्षेत्र में भी इस अन्त सूत्र की शोध आवश्यक है। प्रस्तुत प्रबन्ध से सम्बद्ध मराठी और हिन्दी भाषाओं के विकास और सामाजिक सांस्कृतिक पार्श्वभूमि को देखते हुये स्पष्ट है कि मराठी पर दक्षिणात्य साहित्य, विशेषतः तेलुगु कन्नड़ तमिल का प्रभाव आरम्भिक काव्य पर विशेष है। तो हिन्दी का आरम्भिक काव्य साहित्य बगला उड़िया असमिया या गुजराती पञ्जाबी आदि की भाँति प्राकृत अपभ्रंश काव्य की परम्पराओं से प्रभावित है। जौद्धगान और दोहा के अध्ययन में यह पता चला कि सिद्धा की कविता उड़िया बगला कन्नड़ आदिकाल की उसी प्रकार से मूल प्रेरणा है, जैसे हिंदी कविता की। परन्तु दक्षिण की भाषाओं में इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन की अभी आवश्यकता है। इत्या की ब्यारहवीं से पंद्रहवीं शताब्दी को प्रस्तुत विवेचन की मर्यादा माना गया है। इस अध्ययन में दक्षिण भारत के शैव साहित्य के मूल स्रोतों और बाद में बौद्ध स्रोतों के शाक्त और तान्त्रिक परिणमन की ओर भी जाना होगा, जिससे सिद्धा की कविता के निर्गुण आधार की दार्शनिक पीठिका पूरी तरह से जानी जा सकेगी।

निर्गुण सन्त का यह दर्शन के समकक्ष होने से, उसमें रसानुभूति या रसोपलब्धि के अभाव वाले आक्षेप को विस्तार से उत्तर देकर 'रस' की कल्पना कैसे विकसित होती गयी, वह लौकिक से अलौकिक अर्थवाची कैसे बना, यह सकेत दिया है। चूँकि सन्त काव्य के रसोद्बोधन के प्रसङ्ग में 'आत्म' तत्त्व की परिभाषा आवश्यक है, उसका भी कैसे विकास हुआ इस बात का ऐतिहासिक दार्शनिक विवेचन किया गया है। इसी प्रसङ्ग में शैवमत की मूल आदि शक्ति, अर्द्धनारीनदेश्वर और अन्य आर्य पूर्व और द्राविड़ ईश्वर तत्त्व सम्बन्धी पूर्व कल्पनाओं का आगे चलकर अत्रलोकितेश्वर और आदि बुद्ध के स्वरूप में कैसे सूक्ष्म प्रवेश हुआ, यह विचार भी बताया गया है। सिद्धों के शून्य, निरञ्जन, सुरति आदि धारणाओं के मूल में इस योगिक और बौद्ध शब्दावली और उनके बदलते हुए ऐतिहासिक ज्ञान आवश्यक है। एश्वरवाद और अद्वैत के त्रिपथ में मुस्लिम प्रभाव के प्रश्न पर विविध मत और उनका खण्डन इस प्रसङ्ग में आया है। वस्तुतः वैदिक औपनिषदिक शैव बौद्ध देवता विश्वास, अनेकदेववाद, सृष्टिसाध्य और इसके भीतर से अन्त सूत्र की भाँति विकसित होने वाली निर्गुण परिकल्पना और उस पर यवन बलेच्छ मुस्लिम आदि विदेशी विचार

प्रभावों की प्रतिक्रिया, तथा तज्जन्य नयी सश्लेषण, दार्शनिक वैचारिक पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

निर्गुण सन्तकाव्य का वैज्ञानिक और शास्त्रीय अध्ययन क्या आवश्यक है, इस प्रश्न को उठाकर मराठी और हिंदी में 'सन्त' शब्द के खडार्थ कैसे बदलते गये, यह बतलाया गया है। मराठी में सन्त अधिक व्यापक शब्द है। मराठी में सभी प्रकार के भक्तों को भी सन्त कहते हैं। हिन्दी में सन्त और भक्त में अंतर है। इस कारण से दोनों प्रकार के कवियों की आलोचना में भी अंतर आता गया। सन्तों में वैराग्य और साधना का साहाय्य अधिक माना गया। आधुनिक समीक्षा शास्त्र में तरफालीय आधिक राजनीतिक परिस्थिति का प्रभाव सन्तों पर कहीं तक प्रत्यक्ष या अपरोक्ष रूप से, सीधे या प्रतिक्रिया के रूप में, पढा यह भी देखा जाता है।

रहस्यवाद के विषय में भी हमारी धारणा सामाजिक सांस्कृतिक विकास के साथ साथ, बदलती बदलती रही, इसका दार्शनिक और नृवश शास्त्रीय दृष्टि से आलोचना करके, सिद्धों की कविता में प्रयुक्त जनसाधारण के विश्वासों से गिरुद्ध चार्तों कहने की प्रवृत्ति का मूल कारण बताया गया है। विवेचन का आधार मुख्यतः वस्तुनिष्ठ तथ्य सङ्कलन तथा उनमें सम्बन्ध स्थापन करके निष्कर्ष निकालना है।

महाराष्ट्र की निर्गुण सन्त परम्परा की विशेषताएँ निम्न बतायी गईं (१) जातिभेद का न होना और जातिभेद तथा वर्ण व्यवस्था की निन्दा, (२) शास्त्रप्रामाण्य तथा वेद प्रामाण्य को अस्वीकार करना, (३) बौद्धमत का बहुत कम प्रभाव, (४) जैनमत का प्रभाव, (५) शैवमत का और शाक्तमत का सूक्ष्म, कर्नाटक से छनकर आया हुआ प्रभाव, (६) विट्ठल सम्प्रदाय पर भी शैव प्रभाव की सम्भावना, (७) सूफी मत का बिल्कुल प्रभाव न होना, (८) सूक्ति, दोहे या पद्यों की अपेक्षा लम्बे प्रबन्धात्मक विवेचन का, तर्कयुक्त खण्डन मण्डनात्मक व्यंग्य तथा रूपकादि का विशेष प्रयोग। उपासना से अधिक ज्ञानयोग का ग्रहण, (९) उरुट्रासिया और सध्याभाषा का कम प्रयोग, (१०) वृत्तात्रेय सम्प्रदाय और महानुभाव परम्परा महाराष्ट्र की अपनी विशेषताएँ रहीं। इसी शिरोपासक महायोगी वृत्तात्रेय के प्रसङ्ग में अवधूत का भी विशेष विवेचन किया गया है। तन्त्रागमों

और महानुभाव सूत्रपाठ के साम्य को भी देखा गया है, और (११) मराठी निर्गुण कविता के मूल में आद्याशक्ति वाली आर्यतर मातृपूजा के बीज मिलते हैं ।

गोरख और नाथ परम्परा मराठी और हिन्दी निर्गुण कविता में प्रायः एक सी है । डा० बद्दय्याल की वारणा है कि निर्गुण शाखा योग का ही परि वर्तित रूप है । व्यतिरेक और अन्वय से शून्यवाद, निर्गुण निराकार, नाम रूपातीत परमतत्त्व का अद्वैतज्ञान दोनों में समान भाव से मिलता है । वेदान्त और शैव मत का जो प्रभाव मराठी निर्गुण कवियों पर पड़ा, उसी प्रसङ्ग में कर्नाटक के वीर शैव कवियों का और तान्त्रिका द्वारा मानसिक द्वन्द्व की स्थिति का (जिसका भारत के नाट्य शास्त्र में भी एक रूप मिलता है) तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ।

मराठी निर्गुण कवियों के दार्शनिक विश्वास को लेकर यह नवीन निष्कर्ष दिये गये हैं (१) जीव की कल्पना औपनिषदिक 'प्राण' पर आधारित है । (२) जगत् को माया माना गया है, वेदान्तियों की भाँति । (३) ब्रह्म को योगवासिष्ठ के परमरहस्यमय तत्त्व 'शून्य' की तरह माना गया है । नाथपंथी ज्ञानेश्वर से प्रसुर प्रमाण देकर इस बात को सिद्ध किया गया है । शुद्धाद्वैतवादियों की मान्यताएँ मराठी निर्गुण सम्प्रदायी हैं । महानुभावियों पर दत्तात्रेय सम्प्रदाय की और सूक्ष्मत बौद्ध शाक्त तान्त्रिक मर्ता की छाया है । नामदेव से जाकर निर्गुण ब्रह्म और साकार विद्वल एकाकार हो जाते हैं । एकनाथ में एक ओर भक्ति अधिक प्रौढ़ रूप लेती है, किन्तु 'भारूढ़' इत्यादि में उल्टेबाँसियाँ वाली वृत्ति बनी रहती है । (४) मुक्ति की कल्पना भी दुर्गा पूजकों के अष्टपाशा से बन्धमोक्ष का भाँति है । (५) गुह्य परम अनुभव को संकत शैली से वर्णित करने में माता पुत्र सम्बन्ध पर विशेष जोर है । असम्भवनीय, सृष्टिविधान प्रतिकूल सकेतों से लोकोत्तर अभि यजना करने की ओर भी झुकाव है । इनमें कई जादिम मर्ता की भी झलक मिलती है । (६) जनतांत्रिकता या साधारण मानवीयता इन सन्तों का और एक विशेष मनोभाव था । इसी से उनके दार्शनिक विश्वास उन्होंने जहाँ तक बना असंयत साधारण, स्पष्ट, तर्काधारयुक्त भाषा में प्रस्तुत किये । सत्कवि अपने आपको जनसाधारण, स्पष्ट, तर्काधारण से कटा हुआ नहीं मानते थे । वे अधिक से अधिक समाजसुधारक थे ।

हिन्दी निर्गुण स तकाव्य को मराठी सन्तकाव्य की तुलना में रखकर दोनों के बीच समान तथा असमान प्रभावा की विशेष चर्चा तीसरे खण्ड में है। नाथ सम्प्रदाय, सहजयान बौद्ध प्रभाव, सिद्धसाहित्य और सूफीमत की परम्परा का विस्तार से विवेचन करके हिन्दी निर्गुण सन्त काव्य की विशेषता उसके नवीन सर्वसम्बन्धित दार्शनिक विश्वासी में कैसे निहित है, यह ऐतिहासिक दृष्टि से सिद्ध किया गया है। हिन्दी निर्गुणियाँ का दार्शनिक मान्यताओं में निम्न विशेषताएँ हैं—(१) 'जीव' की कल्पना दुल्हन के रूप में की गयी है। वह असंगत, कर्ता और भोक्ता के रूप में है। (२) जगत् को चेतना का विवर्त या पचेन्द्रिया का जाल या पडयन्त्र माना गया है। यह बहुत कुछ सांख्य की अधप्रकृति की भौति है। (३) परमत्व पर शैव प्रभाव कम है। वह निर्गुण सगुण से परे है। उसकी परिकल्पना में सारय योग वेदात्त के विचार घुलमिल गये हैं। उसमें सूफी विचारों का भी प्रभाव दृश्य है। (४) मुक्ति की कल्पना बहुत कुछ सूफियों से मिलती जुलती है। मुक्त होकर जीव ब्रह्ममय हो जाता है। वह एक प्रकार से परममिलन या महामिलन है। (५) गुह्य परम अनुभव को व्यक्त करते समय प्रेमी प्रेमिका सम्बन्ध की शब्दावली का अधिक आधार लिया गया है। रुढ़ि के विरोध और परम्परा के खण्डन का भाव विशेष रूप से स्पष्ट है। इसका कारण चातुर्वर्ण्य की चौखट का अधिक कसा जाना भी हो सकता है। (६) हिन्दी सन्त केवल समाजसुधारक नहीं थे। वे क्रांतिकारी विचारक थे। उनका मूर्ति पूजा विरोध हिंदू मुस्लिम एकता की ओर एक-महत्त्वपूर्ण चरण था।

मराठी निर्गुण स तकाव्य एक ही सम्प्रदाय बनकर रह गया। हिन्दी निर्गुण स तकाव्य विशेष सम्प्रदाय के रूप में सीमित नहीं हुआ, यद्यपि उसकी कई शाखाएँ हुईं, फल यह हुआ कि मराठी में सगुणोपासना की धारा जो लहराकर आयी तो निर्गुण रहस्यवादी धारा बाद में सिर न उठा सकी। इससे उल्टे हिन्दी में सगुण और निर्गुण दो धाराएँ बहुत समय तक साथ-साथ चलती रहीं। बल्कि रीतिकाल तक जब देव या रतनाकर की शोषियाँ उद्घ को उत्तर देती हैं, तो निर्गुण धारा कितनी बलमूल रूप से रच गयी है, इसका भान होता है। अतः मराठी प्रदेश और हिन्दी प्रदेश में निर्गुण काव्य धारा के अप्रचलन के कारण भी भिन्न रहे हैं। महाराष्ट्र में मुस्लिम आक्रमण के

साथ साथ सतकाय सगुणोपासक बनकर अपनी आरक्षा में जुट गया— रामदास जैसे कवियों में ऐहिक यथार्थवादिता आ गयी। उत्तर भारत में सूफीमत के साथ साथ हिन्दू उदार विचारधारा का मयोग हो गया। इस प्रकार से निर्गुण काय केवल सार संग्राहक मधुकरि वृत्ति से जमा किया हुआ प्रभावों का सपुजन मात्र नहीं था। उल्लिख उसका अपना विशेष व्यक्तित्व था, यह अनेक विद्वानों के मतों को सप्रमाण खण्डित करके सिद्ध किया गया है।

आचार्य विनोबा भावे के साथ पत्र व्यवहार में निर्गुण निराकार ईश्वर की मूलभूत कल्पना को लेकर सिद्ध किया गया है कि ईसाई, इस्लामी, रामानुजीय और आर्य समाज वाले ईश्वर को 'सगुण निराकार' नामक एक ही विशेषण से सम्बोधित नहीं किया जा सकता। सताने कई बार हम सूक्ष्म दार्शनिक भेद को नहीं निभाया है, परन्तु निर्गुण काव्यचर्चा में यह विवेक विशेष रूप से आवश्यक है। क्योंकि काव्य तो प्रतीकों के सहारे के बिना नहीं चल सकता, जबकि निर्गुणवादी प्रतीकों से परे का विधान और व्यञ्जन करता है।

दोनों भाषाओं के निर्गुण सतकाव्य की अभिव्यञ्जना में अन्तर का मूल कारण दोनों प्रदेशों की सांस्कृतिक पार्श्वभूमि है, यह भी निष्कर्ष रूप में स्पष्ट किया गया है। दोनों प्रदेशों का जनमानस, लोकसंस्कृति में सर्वसामान्य प्रचलित विश्वासों और विचार धाराओं का अन्तर ग्रहण प्रधान विषय है। उदाहरणार्थ, मराठी निर्गुण सतकाव्य में शैवमत और शाक्तमत का, द्राविड भादिम संस्कृति का विशेष प्रभाव, और हिन्दी निर्गुण सतकाव्य में सूफीमत का प्रभाव। सूफी शब्द के भी कई अर्थ थे। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अपने 'दर्शन दिग्दर्शन' में सूफी शब्द के कई अर्थ दिये हैं

'सोफी' (—सोफिस्त) यूनानी भाषा का शब्द है। आठवीं शती में जब यूनानी दर्शन का तर्जुमा अरबी भाषा में होने लगा, तो उसी समय सोफ या सोफी शब्द भी दर्शन के अर्थ में अरबी में आया, पीछे वर्णमाला के दोष से सोफी सूफी हो गया। सबसे पहले सूफी की उपाधि अबूहाशिम सूफी को मिली, जिनका देहान्त ७७० ई० के आसपास (१५० हिजरी) में हुआ था। सुसलमान लेखकों ने सूफी शब्द को निम्न अर्थों में प्रयुक्त किया है—

(१) 'सूफी वे लोग हैं, जिन्होंने सब कुछ छोड़कर ईश्वर को अपनाया है' (जुन्नून मिस्त्री), (२) 'जिनका जीवन मरण सिर्फ ईश्वर पर है' (जनीद बगदादी), (३) 'सम्पूर्ण शुभाचरणों से पूर्ण, सम्पूर्ण दुराचरणों से मुक्त' (अबूबक्र हरीरी), (४) 'जिस व्यक्ति को "दूसरा कोई पसन्द करे, न वह किसी को पसन्द करे' (मसूर हुल्लाजी), (५) 'जो अपने आपको बिल्कुल ईश्वर के हाथ सौंप दे' (रोयम्), (६) 'पवित्र जीवन, त्याग और शुभगुण जहाँ इकट्ठा हों' (शहाबुद्दीन सुहरावर्दी) । गजाली (१०५७-११११ ई०) ने सूफी शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि सूफी पथ (तसल्लुफ) ज्ञान और आचरण (कर्म) के मिश्रण का नाम है । शरीअत (-कुरानोक्त) के भक्तिमार्ग और सूफीमार्ग में यही अंतर है कि शरीअत में ज्ञान के बाद आचरण आता है, सूफी मार्ग के अनुसार आचरण के बाद ज्ञान । सूफी मत मुस्लिमों के भय से गुप्तपथ अव्यवस्थित रीति से चला आता था, किंतु इमाम गजाली ने जब खुल्लमखुल्ला उसकी हिमायत ही नहीं की, वरन् उसकी शिक्षाओं को सुयवस्थित तौर पर लेखबद्ध कर दिया तो वह धरातल पर आ गया ।

'सूफी दर्शन में जीव ब्रह्म का ही अंश है । जीव का ब्रह्म में लीन हो जाना उसका सर्वोच्च ध्येय है । जीव ही नहीं जगत् भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है । शकर ब्रह्मद्वैतवाद में और सूफियों के अद्वैतवाद में कोई अन्तर नहीं । यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है जो कि भारत में मुसलमान सूफियों ने इतनी सफलता प्राप्त की । जीव को हक (-सत ब्रह्म) से मिलने का एक ही रास्ता है, वह है 'इश्क' । सूफीयोग में विराग, एकान्त चिन्तन, जप, मनोजप ईश्वर तन्मयता, मुकशफा (योगि प्रत्यक्ष) । 'अद्याउत् उल्लस' में सभी चीनी चित्रकारों का दृष्टान्त देकर गजाली ने मुकशफा समझाया है । यह श्वेताश्वतर उपनिषद् के (२।११) 'नीहारधूमाकानलानिलाना । खद्योतविद्युत्स्फटिकाशानी नाम् ॥' के समान है ।^१

इस प्रकार की सूफी विचारधारा की कोई छुटा मराठी सन्त काव्य में नहीं मिलती ।

एक और बड़ा अन्तर मुस्लिम प्रभाव के अभाव के कारण मराठी सन्तों

म मिलता है। हिन्दी सन्तों में दुःख का जैसा प्रेम, विरह वेदना की जैसी गहरी अनुभूति प्रायः सभी कवियों में पायी जाती है। मराठी सन्त कवियों में उस प्रकार की 'पीड़ा में तुझको हृदा, तुझ में दर्दगुणी पीड़ा' वाला वृत्ति कम दिखाई देती है।

हिन्दी सन्त कवियों में परमसाध्य सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता है। वैराग्य और विरक्ति का उपदेश विपुल मात्रा में मिलता है। 'तार वार बली काल का, सत्कार की क्षणभंगुरता का, 'वेद पढे धुल जाना है' वाली रात का स्मरण दिलाया जाता है। मराठी सन्तों में पारमार्थिक और ऐहिक सासारिक सुख दोनों को साधने का उपदेश सत्त देते हैं। इन सब निष्कर्षों के कारणों की भी चर्चा प्रबन्ध के अन्तिम भाग में मेने विस्तार से की है।

मराठी सन्त वेद उपनिषद् गीता और वेदान्त में अधीन थे। हिन्दी सन्त पौस्तक ज्ञान का विरोध करते हैं और प्रातिभ ज्ञान पर अपना सिद्धान्त रचते हैं। मराठी सन्त काव्य के मूल में अनार्य द्राविड मूलबीज बड़ी मात्रा में है, जब कि हिन्दी सन्त काव्य में उस प्रकार का शैव शक्ति प्रभाव छनकर आये हैं सिद्ध वनार्था की मारफत। दोनों कवियों में ग्राम देवताओं के उल्लेख या अनुल्लेख से यह बात स्पष्ट होगी। दोनों कवियों की श्रद्धा पद्धति का अन्तर भी इसी रात को सूचित करता है। मराठी सन्त कवियों में परस्पर विराधी भावों का ज्ञान और ध्यान का संयोग पाया जाता है। जब कि हिन्दी सन्त कवियों में ज्ञानयोग का परिहास तक मिलता है, चूँकि बल 'अनुभव' पर अधिक है।

इस प्रकार मराठी और हिन्दी सन्त काव्य की समानताओं और विषमताओं का अध्ययन चक्रधर और कबीर, नामदेव तथा अन्य कवियों की शब्दावली, गीतिरचना आदि अङ्गों के परीक्षण के दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। इसमें तथ्यों का सङ्कलन अधिक है, निष्कर्ष निकालने की ओर वृत्ति नहीं है।

उपसंहार खण्ड में सारी सामग्री को एक बार पुनः रहस्यवाद की तत्कालीन परिभाषा की पार्श्वभूमि में तौला और परखा गया है। वस्तुतः आज रहस्यवाद से जो हम अर्थ लेते हैं, वह पश्चिम के कई विचारों और नयी खोजों

से रङ्गा हुआ है। ग्यारहवीं से पंद्रहवीं शताब्दी में रहस्यवाद का अर्थ वह नहीं था, जो हम आज लेते हैं। कवि उसके 'वादस्व' से अनजान थे। उनके लिए रहस्यानुभूति ही परम थी। वह अनवच्छेद्य और अपरिभाष्य थी। वह दृष्टि उस देशकाल के समग्र चिंतन और ज्ञान विज्ञान का परिपाक थी। अतः हमारी समीक्षा में इस बात का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना हमारे विवेचन में मर्गादातिक्रम का भय बना रहता है। रहस्य गुह्य और 'कामस्तदग्रेसमवर्ततार्य' की परस्पर तुलना प्रस्तुत करके, सन्त काव्य की रहस्यानुभूति, जादू या इन्द्रजाल की कल्पना और कामविषयक परम रसानन्द का भावन—इनमें जो सूक्ष्म भेद है, उनकी मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। अन्धविश्वास का आवरण होने पर भी सन्तों का दिव्य साक्षात्कार जादुई चमत्कार के समान नहीं था। वह अधिक गहरी और स्थायी मानसिक उपलब्धि थी। उसमें तत्कालीन नीति नीति, पुण्य पाप, शुद्धता अशुद्धता के बन्धन भी, बरान्तर सङ्कोच या प्रसारक, तनाव या लचीलेपन के सापेक्ष मानदण्ड बनाते रहते थे। उनसे काटकर सन्त काव्य का केवल वायवी या अमूर्त परीक्षण सम्भव नहीं है।

अन्त में इस विचारधारा का परवर्ती काव्य पर जो नैराश्रयवाद, दुःखनाद, सर्वचणिकवाद आदि रूपां में प्रभाव पड़ा, उसका भी राकेत इस प्रबन्ध में है। यह भी बतला दिया गया है कि विशुद्ध निर्गुणोपासना या निर्गुण ब्रह्म की शुद्ध सनातन टोह बाद में कर्ना कम हो गयी। देशकाल परिस्थिति के अनुसार उसमें अप्रचलन कैसे आता गया। किन्तु मानव मन की यह परम आदिम निर्गुण जिज्ञासा, यह रहस्य प्रेम की शाश्वत आकांक्षा पूरी तरह समाप्त नहीं हुई।

मेरा उद्देश्य दो भाषाओं के एक मर्यादित कालखण्ड के निर्गुण सन्त काव्य का तुलनात्मक परीक्षण तथा विवेचन करना मात्र था। इसी प्रसङ्ग में दोनों की दार्शनिक सामाजिक पार्श्वभूमि का विचार आवश्यक जान पड़ा। दोनों के कलात्मक पक्ष का भी विचार अनिवार्य हो उठा। इस अध्ययन के पश्चात् इस प्रकार से निर्णय नहीं दिया जा सकता कि मराठी का सन्त काव्य श्रेष्ठतर है या निकृष्टतर है; अथवा हिन्दी का उससे नीचा या ऊँचा। ऐसा निर्णय देना यानी सन्तकाव्य के समग्र अध्ययन या मूल्याङ्कन के प्रति अपना अज्ञान

व्यक्त करना होगा। दोनों भाषाओं के सन्त काव्य में निर्गुण विषयक धारणाओं में कुछ मौलिक अंतर और मौलिक साम्य भी है। साम्य वह है, जिस पर समस्त भारतीय चिन्ताधारा और भारतीय सस्कृति के परवर्ती विकास का आधार टिका हुआ है। वैपश्य देश कालगत है, और वह भी नगण्य नहीं है। किंतु वह उतना गहरा या दूरगामी नहीं है। दोनों भाषाओं के कवियों की मानसिक गठन, उनके सामाजिक परिपार्श्व और अथ कारणों से यह भेद अवश्यरम्भावी हुय। परन्तु वे ही मुख्य नहीं हैं। मुख्य है, दोनों में अभेद। उसी पर इस प्रबन्ध में बल दिया गया है।



परिशिष्ट

अध्ययन सामग्री

मेरा प्रथम हिन्दी लेख सन् १९३४ मे प्रकाशित हुआ। सन् १९२५ में भारतीय साहित्य परिषद् के मुख्य पत्र 'हस' में मराठी से हिन्दी में अनुवाद स्व० प्रेमचंद जी ने मुझसे कराये। तभी से विभिन्न भाषाओं के साहित्यों के इतिहासों के तुलनात्मक अध्ययन की ओर रुचि मुझमें बढ़ती गयी। शायद इस ओर पहला अध्ययन हिन्दी शब्दसागर की भूमिका खण्ड के रूप में रामचंद्र शुक्ल और श्यामसुन्दरदास के इतिहास और मराठी में समाजवादी दृष्टिकोण से लिखे गये लालाजी पेंडसे के 'साहित्य आणि समाज जीवन' से शुरू हुआ। बाद में विभिन्न भाषाओं के जो साहित्य इतिहास मैंने विभिन्न भाषाओं में पढ़े हैं, उनकी एक तालिका दे रहा हूँ —

- १ हिन्दी मिश्रचन्द्र, रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, मंगलदेव शास्त्री, रामकुमार वर्मा, सूर्यकांत, हजारीप्रसाद द्विवेदी, कृष्णशंकर शुक्ल, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, श्रीकृष्णलाल, लक्ष्मीसागर वाष्णेय, गुलाबराय, उदयनारायण तिवारी, माताप्रसाद गुप्त, (ग्रंथ सूची) धीरेन्द्र वर्मा (भाषा) ग्रियर्सन (अंग्रेजी)।
- २ मराठी भावे, पांगारकर, श्री० व्य० केतकर, कोल्हते, न० र० फाटक, पेंडसे, द० वा० पोतदार, कृ० पा० कुलकर्णी, प्रियोलकर, ग० दे० खानोलकर, निरन्तर, वि० पा० दाडकेकर (मराठी), श्रीकृष्णलाल शरसोदे 'हस', गोडबोले, जोगलेकर (हिन्दी में परिचयात्मक ग्रन्थ हैं), रा० द० रानडे, गो० चिं० माटे, रा० श्री० जोग (अंग्रेजी)।
- ३ गुजराती : क० मा० मुशी (अंग्रेजी), केशवराज शास्त्री, के० एम० सवेरी।

- ३ बगला सुकुमार सेन, दिनेशचंद्र सेन, अमिय चक्रवर्ती, सुनीति कुमार चटर्जा (भाषा) ।
- ५ असमिया (पी० ई० एन० प्रकाशन-अंग्रेजी), काकाती (भाषा)
- ६ उडिया शान्तिप्रलम्ब महंती ।
- ७ कन्नड़ ए० पी० करमरकर, मुगलि, रा० द० रानडे, वी० टी० आचार्य, सी० एस० वागी, आर० वी० जागीरदार (अंग्रेजी) द० रा० वेंद्रे, श० पु० जोशी (मराठी), डी० क० भीमसेन राव (कन्नड़) ।
- ८ तामिल किंगजवरी ओर फिलिप्स (अंग्रेजी) ।
- ९ तेलुगु वारणासी राममूर्ति 'रेणु' (हिन्दी) वीरेशलिङ्गम् प तुलु, राज् (अंग्रेजी) ।
- १० मलयालम कुन्हन राजा, पणिक्कर, मेनन (अंग्रेजी) ।
- ११ पंजाबी डा० मोहन सिंह (अंग्रेजी) ।
- १२ उर्दू रामबाबू सक्सेना (हिन्दी अंग्रेजी), ऐजाज़ हुसैन, श्रीपाद जोशी (हिन्दी) ।
- १३ संस्कृत मैकडोनल, विन्टरनिज, कीथ (अंग्रेजी), बलदेव उपाध्याय, गोपीनाथ कविराज (हिन्दी), अपभ्रंश-पिशेल, राहुल साकृश्यायन, नामवरसिंह (हिन्दी) ।
भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त निम्न विदेशी भाषाओं के साहित्येतिहासों का भी अध्ययन करने किया
- १४ अंग्रेजी सैंट्सवरी, क्राम्पटन रिफ्ट, स्लेगुई कजेमिया, शॉ, व्याफर ह्वा स, केंब्रिज हिस्ट्री आफ इंग्लिश लिटरेचर (अंग्रेजी, भा० म० गोरे (मराठी), एस० पी० खत्री, भगवतशरण उपाध्याय (हिन्दी) ।
- १५ फ्रेंच (एन्साइक्लोपाडिया ब्रिटानिका, डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिटरेचर) ।

- १६ जर्मन शिलर, मान ।
- १७ रूसी लारविन, बेरिंग (अंग्रेजी), के० ना० शुक्ल तथा कैम्प (हिंदी)
- १८ अमरीकी (एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिटरेचर) ।
- १९ फारसी ब्राउन (अंग्रेजी), अटनागर-ईरान के सूफी कवि, चन्द्रबली पाण्डे (हिंदी) ।
- २० अरबी निकत्सन ।
- २१ यूनानी जावेद, टामसन ।
- २२ चीनी लिन युतांग ।
- २३ विश्व साहित्य का इतिहास ड्रिकवाटर ।

हिन्दी की बोलियों में जो लोकसाहित्य जमा किया गया है, उसमें भी मैंने परिचय प्राप्त किया यथा राजस्थानी (नरोत्तमदास स्वामी, मोतीलाल मेनारिया, सूर्यकरण पारीक, कन्हैयालाल सहल), मालवी (श्याम परमार), अवधी (रामनरेश त्रिपाठी), ब्रज (डा० राधे द्र, प्रभुदयाल मीतल), मैथिली ('राकेस'); सथाली (डोमन साहु 'समीर', ठाकुर गसाद सिंह), गोंडी सम्राजसिंह, बेरियर प्लत्रिन), भोजपुरी (कृष्णदेव उपाध्याय, दुर्गाशकर सिंह), निमाड़ी (रामनारायण उपाध्याय), पञ्जाबी (देवे द्र मस्यार्थी), कश्मीरी (सत्यव्रती मल्लिक, प्राणनाथ दर), कौरवी (राहुल साकृत्यायन) आदि आदि ।

इन भाषाओं उपभाषाओं के अभिजात (कलासिकल) साहित्य और लोक साहित्य का ऐतिहासिक क्रम जहाँ मेरे अध्ययन वा विषय रहा, जहाँ साथ ही साथ दर्शन के (भारतीय तथा पश्चिमी दोनों) अनेक इतिहास मने पढ़े हैं । पश्चिम के लिए राजर, विंडलगांड, जौवेन, म्युरफी, रसेल, जोड जहा अंगरेजी में पढ़े, वहीं मराठी में न० वि० केलकर का 'भारतीय तत्त्वज्ञान', हिंदी में गुलाबराय, डा० देवराज, बलदेव उपाध्याय, 'मधुकर', राहुल के अलावा हिरियण, दास गुप्त, राधाकृष्णन्, प्लवट्ट श्याहटजर, हीस डेविड्ज आदि के अंग्रेजी ग्रंथ भारतीय दर्शन के विषय में मैंने पढ़े ।

१९४८ में हिंदी साहित्य सम्मेलन की ओर से प्रकाशित अंगरेजी हिन्दी शासन विषयक शब्दकोश प्रकाशन और उस सम्बन्ध में आठ प्रान्तों का दौरा करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र गुजरात, बंगाल, उत्तराखण्ड, बिहार, मध्यभारत, मध्यप्रदेश के भाषा शास्त्रियों से विचार विनिमय हुआ। और तब मेरी धारणा और भी पक्की हो गयी कि भारतीय साहित्य का अन्त सूत्र एक है। उसमें अभेद है। भाषा भेद, प्रान्त भेद, व्यवहार भेद केवल स्वरूप हैं। भीतर से तो जन्मे एक ही से भावोच्छ्वास, एक ही सी विचारधारा, एक ही आत्मिक स्पन्दन, एक ही सा रागात्मक अनुभूति और अभिनयज्ञान की पद्धति प्रवाहित हो रहा है। अतः यदि है तो निरी ग्राह्य शैली का, जो कि बहुत गहरा नही है।

नई दिल्ली,
अगस्त १९५३

—प्रभाकर माचवे

श्री प्रभाकर माचवे द्वारा पी० एच० डी० की उपाधि के लिये प्रस्तुत प्रबन्ध पर एक परीक्षक की सम्मति

लेखक ने प्रबन्ध के लिए एक उपयुक्त विषय चुना है। भाषाभिसानिया की भेद बुद्धि मिटाने के लिए इस कार्य की आवश्यकता है कि भिन्न भिन्न भाषा प्रवाहों की तुलना की जावे और उनमें जो साम्य या वैषम्य है, उसका मूल खोजा जावे। इस दृष्टि से मराठी और हिन्दी निर्गुण कविता अत्यन्त उपयुक्त है। कविता और तत्त्वज्ञान दोनों का गठबधन जैसा इस विषय में दृष्टिगोचर होता है वैसा कविता के अ्य क्षेत्रों में नहीं होता। लेखक अंग्रेजी भाषा और तत्त्वज्ञान का एम० ए० है, हिंदी में साहित्यरत्न और एक अच्छा लेखक है और मराठी उमकी मातृभाषा है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान के साथ अनेक भाषाभाषा का ज्ञान होने से, इस प्रकार का प्रबन्ध लिखने का पूरा अधिकारी जान पड़ता है और यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि उसने प्रबन्ध लेखन कार्य को भली भाँति निभाया है।

सारा प्रबन्ध पढ़ जाने पर लेखक की परिश्रमशीलता, चयनवृत्ति, भिन्न मतों को मान देते हुए भी अपना मत बनाये रखने की कुशाग्र बुद्धि, स्पष्टतया प्रतीत होती है।

सबसे पहले लेखक का प्रगाढ़ अभ्यास स्पष्ट दीखता है। १९४५ में लेकर १९५३ तक के आठ साल में उसने इतने ग्रंथ देखे हैं और उनमें से इतनी बातों का समग्र किया है कि प्रबन्ध वाचक ऐसा न कह सकेगा कि इस वाचन से मुझे कुछ नई दृष्टि और नया प्रकाश प्राप्त न हुआ। भरिस्तू से लेकर विनोबा भावे तक के तत्त्वज्ञ तथा प्रसिद्ध फर्कुहार से अप्रसिद्ध प्रा० मुंडी तक के सत्तों पर लेख लिखने वाले लेखक, सभी के विचारों का अपने विषय के लिये पर्याप्त पर्यालोचन इस प्रबन्ध में किया गया है। हिन्दी और मराठी निर्गुण काव्यों का तो बहुत ही बारीकी से अध्ययन हुआ है यहाँ तक कि उसके शब्द, मुहाविरें, दृष्टान्त, सिद्धान्त तथा उत्स मूलस्रोत सर्वा का विवेचन सारग्राही रीति से किया गया है।

प्रबन्ध का पूर्व भाग जिसमें लेखक ने अपना विशेष दृष्टिकोण बनाया है वह और विशेषतः काव्यकला की दृष्टि से निर्गुण सत काव्य का साहित्यिक अभ्ययन और समीक्षा की है, बहुत ही अच्छा लिखा गया है। 'रस' की अलौकिकता को दूर कर उसे लौकिक बना दिया है और आत्मा तथा रस की-दोनों की—कल्पना में काल के साथ कैसा परिवर्तन होता गया इसका ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर सुंदर दर्शन कराया है। यह इस प्रबंध की प्रधान विशेषता है। इसी प्रकार केवल इस्लामी सूफियों के ही प्रभाव से भारतीय सन्तों की निर्गुणधारा नहीं निकली, अपितु वेदिक, औपनिषदिक, बौद्ध, जन, इस्लामी सूफा तथा ईसाई सभी तत्त्वों का यह पट बुना हुआ है, यह लेखक की बड़ी विद्वत्ता के साथ दर्शाया है। पश्चात् दोनों भाषाओं के निर्गुण सत काव्यों का एक से ही समान विषयों पर विचार कर समाज का प्रभाव धर्म और तत्त्व ज्ञान पर कैसे पड़ता है यह भी बड़ी सामिकता से दिखाया है।

कहीं कहीं लेखक के विचारों से पाठक का मतभेद हो सकता है। पर मतभेद होते हुए भी यह कहना पड़गा कि लेखक ने अपना पक्ष उड़ा बुद्धिमानों से किसी हाशियार बकाल से समर्थित किया है। सर्वत्र गंभीर चिंतन और चिंतित विषय वाचकों के सम्मुख उपस्थित करने का चातुर्य बहुत बड़े भ्रम में प्रतीत होता है।

मेरा स्पष्ट मत है कि यह प्रबन्ध —

१ कुछ नये सिद्धान्त, नवीन दृष्टि और अपने मत को अभिन्न रीति से उपस्थित करने का कोशल इन तीनों गुणों से युक्त है। और

२ जहाँ तक उसका साहित्यिक विषयक दर्शन देखा जा सकता है, सतोषप्रद है और प्रकाशित करने योग्य स्वरूप में है।